संवित्प्रकाशवाद

ज्ञान की स्वप्रकाशता की समस्या पर एक प्रबन्ध

डॉ० आनन्द मिश्र

संवित्प्रकाशवाद

ज्ञान की स्वप्रकाशता की समस्या पर एक प्रबन्ध

SECTIONAL LIBRARY
Department of Philosophy
BANARAS HINDU UNIVERSITY
Acc. No. 24359

आनन्द मिश्र

भारतीय विद्या प्रकाशन
दिल्ली, वाराणसी

R 66
152 P2M

SECTIONAL LIBRARY
Faculty of Philosophy
BANARAS HINDU UNIVERSITY
No. 24359

सर्वाधिकार : लेखकाधीन

प्रकाशक : **भारतीय विद्या प्रकाशन**
(1) 1, यू. बी. बंग्लो रोड, जवाहर नगर,
दिल्ली-110007
(2) पो. बा. नं. 1108, कचौड़ी गली,
वाराणसी-221001

ISBN : 81-217-0168-6

प्रथम संस्करण : 2002

मूल्य : 300.00 रुपये

लेजर : **रावत कम्प्यूटर्स,**
गांधी नगर, दिल्ली-110031
दूरभाष : 2220075

मुद्रक : **डी. जी. प्रिंटर्स**
क्यू-35, शाहदरा, दिल्ली-110032

श्रद्धेय गुरुजी
प्रो॰ रेवतीरमण पाण्डेय जी को
सादर समर्पित

प्राक्कथन

ज्ञान के स्वरूप का अनुसंधान भारतीय दार्शनिकों की प्रमुख समस्या रही है। ज्ञान के सम्बन्ध में अन्य समस्याओं के अतिरिक्त एक मूलभूत समस्या यह उठती है कि ज्ञान का ज्ञान कैसे होता है ? 'ज्ञान के ज्ञान' की समस्या की विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं में अपने-अपने ढंग से समाधान करने की चेष्टा की गयी है और इस सम्बन्ध में इन दर्शनों के बीच युक्तियों-प्रतियुक्तियों का एक लम्बा सिलसिला देखा जा सकता है। यह समस्या ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण है ही, पर इसका उत्तर हम देखते हैं कि अंत में विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों के तत्त्वमीमांसीय अभिकल्पनाओं पर आश्रित खड़ा हुआ प्रतीत होता है। ज्ञान जब स्वयं को विषयकृत करता है और इस विषयकृत ज्ञान की मीमांसा करता है तो यह एक तरह से ज्ञानमीमांसा के पीछे छिपे मौलिक तत्त्वमीमांसीय समस्या के रूप में उद्घाटित होता है। और इसके पीछे अपना ही कारण होता है। भारतीय दार्शनिकों के अनुसार ज्ञान व्यापक अर्थ में चैतन्य का प्रकाश है, इस दृष्टि से हर चैतन्य स्थिति एक ज्ञान स्थिति है। इसलिये ज्ञान का स्वरूपानुसंधान अंततः चेतना के स्वरूपानुसंधान में परिणत होता है, फलतः अनुसंधान का स्वरूप ज्ञानमीमांसीय और तत्त्वमीमांसीय दोनों ही हो जाता है।

जब हम अपने नित-प्रति के ज्ञान पर दृष्टिपात करते हैं तो पाते हैं कि प्रत्येक ज्ञान व्यापार में तीन पक्ष होते हैं—ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान अर्थात् प्रत्येक ज्ञान में एक ज्ञाता होता है, एक ज्ञेय होता है और ज्ञान की प्रक्रिया होती है। ज्ञान के सम्बन्ध में यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि जब हमें किसी वस्तु का ज्ञान होता है तो इस बात का ज्ञान कि हमें ज्ञान हो रहा है, कैसे होता है ? उदाहरण के लिये घट, पट आदि के ज्ञान की स्थिति में क्या मात्र घट, पट आदि का ही ज्ञान होता है, क्या घट, पट आदि ही प्रकाशित होता है अथवा यह ज्ञान स्वयं को भी प्रकाशित करता है ? दूसरे शब्दों में कोई ज्ञान मात्र विषय को प्रकाशित करता है अथवा उसके साथ स्वयं अपने को भी प्रकाशित करता है ? यदि ज्ञान मात्र विषय को प्रकाशित करता है तथा इस प्रकाशन में स्वयं प्रकाशित नहीं होता है तो इस ज्ञान का ज्ञान (प्रकाशन) कैसे होता है ? उदाहरण के लिये 'अहं घटं जानामि' इस विमर्श में घट के ज्ञान का जो ज्ञान बताया जाता है, वह कैसे होता है ? हमें ज्ञान के ज्ञान की जो प्रतीति होती

है वह कैसे होती है ? क्या जिस तरह विषय का प्रत्यक्ष होता है, उसी तरह ज्ञान का अन्य ज्ञान से प्रत्यक्ष होता है अथवा किसी परोक्ष साधन से ज्ञान का ज्ञान होता है ? पुनः क्या यह अनिवार्य है कि जब भी हमें वस्तु का ज्ञान हो तो उस ज्ञान का भी ज्ञान हो ही ? क्या यह संभव नहीं है कि हमें ज्ञान तो हो, पर इस ज्ञान का ज्ञान न हो ? किसी विषय का ज्ञान क्या तभी संभव है जब उस ज्ञान का भी ज्ञान हो ? पुनः क्या हर समय ज्ञान होना आवश्यक है ? यदि ज्ञान का विषय न हो तो क्या ज्ञान भी संभव नहीं है ? क्या ज्ञान अनिवार्यतः सविषयक है ? क्या ज्ञान के लिये ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान की त्रिपुटी का होना आवश्यक है ? क्या ऐसा संभव नहीं है कि ज्ञेय विषय के अभाव में भी ज्ञान रहे ? अर्थात् ज्ञान के लिये अनिवार्य मात्र ज्ञाता तथा ज्ञान हों, वस्तु नहीं ? क्या इनमें भी किसी एक की ही अनिवार्य स्थिति हो—ऐसा संभव नहीं ? अर्थात् मात्र ज्ञान ही हो तथा ज्ञाता तथा ज्ञेय दोनों आगन्तुक हों, ऐसा संभव नहीं ? क्या प्रत्येक ज्ञान के लिये ज्ञाता का होना अनिवार्य है ? क्या ऐसा संभव नहीं हो कि ज्ञान तो हो पर ज्ञाता न हो ? क्या प्रत्येक ज्ञान विषय के साथ स्वयं को भी प्रकाशित करता है ? क्या ज्ञान को स्वयं प्रकाशित कहने का यह अर्थ है कि प्रत्येक ज्ञान स्वयं को अपना विषय बनाता है? अथवा ज्ञान की स्वयंप्रकाशता से यह तात्पर्य है कि ज्ञान यद्यपि स्वयं अपना विषय नहीं बनता फिर भी अपरोक्ष रूप में प्रकाशित होता है ? क्या हर ज्ञानात्मक स्थिति में ज्ञाता भी प्रकाशित होता है अथवा क्या ज्ञाता के ज्ञान के लिये अन्य ज्ञान की आवश्यकता होती है ? यदि ज्ञाता ज्ञान का विषय होता है तो उस ज्ञान का ज्ञाता कौन होता है ? और क्या इस स्थिति में कर्तृ-कर्म विरोध नहीं हो जाता ? क्या ज्ञान की स्वयंप्रकाशता मानने के लिये ज्ञाता को भी स्वयंप्रकाश मानना जरूरी है ? अथवा क्या ज्ञान की स्वयंप्रकाशता और ज्ञाता की स्वयंप्रकाशता में भेद करना अनिवार्य है ? क्या ज्ञान के ज्ञान का अर्थ उसके प्रामाण्य का ज्ञान तो नहीं है ? क्या ज्ञान की स्वयंप्रकाशता और उसका स्वतःप्रामाण्य एक ही है ? अथवा क्या ज्ञान की स्वयंप्रकाशता का स्वतःप्रामाण्यवाद से कोई सम्बन्ध नहीं है ? क्या चेतना की हर स्थिति ज्ञानात्मक स्थिति है? और क्या चेतना अनिवार्यतः सविषयक है? क्या विषय के अभाव में चेतना भी नहीं रहती ? सुषुप्ति में क्या होता है ? क्या उस समय चेतना रहती ही नहीं है अथवा चेतना तो रहती है पर उसका विषय नहीं रहता ? यदि चेतना की हर स्थिति ज्ञानात्मक स्थिति नहीं है तो क्या चेतना जब ज्ञानेतर व्यापार में रत होती है, उस समय वह स्वचेतना से युक्त होती है ? यदि हर चेतना स्वेचतना है तो क्या स्व-चेतना का अर्थ अहंविमर्श युक्त चेतना है ? यदि चेतना अहंयुक्त चेतना नहीं है तो उसके स्वचेतना होने से क्या तात्पर्य है ? यदि चेतना अहंविहीन चेतना है तो 'अहं' क्या चेतना पर अनुचिन्तन का परिणाम है ? क्या चेतना एक निरंतर

प्रवाह है जिस पर अनुचिंतन उसमें 'अहं' का विमर्श लाता है ? अथवा चेतना एक गुण है जिसके आश्रय रूप में किसी द्रव्य की अपेक्षा होती है अथवा चेतना तत्त्वरूप है जिसमें विषय एवं विषयी का प्रभेद नितांत आगंतुक है ? यदि किसी वस्तु की चेतना हमेशा स्वचेतना लिये होती है तो यह क्या विभिन्न विषय-चेतनाओं में अनुवर्तमान नित्य साक्षी रूप चेतना के कारण होता है अथवा हर विशिष्ट चेतना का ही यह स्वभाव होता है कि वह स्वसंवेदनरूप होती है, स्वचेतना लिये होती है ? क्या जिस तरह ज्ञेय विषय के प्रकाशन के लिये ज्ञान के प्रकाश की आवश्यकता होती है, उसी तरह ज्ञान एवं ज्ञाता भी स्वयं अपनी ज्योति से प्रकाशित न होकर अन्य प्रकाश की अपेक्षा रखता है ? प्रश्न है यह ज्ञाता या ज्ञान कैसे प्रकाशित होता है और इनमें प्रकाशन की क्षमता कहाँ से आती है ? क्या इन सबके पीछे साक्षी चैतन्य की ज्योति वर्तमान रहती है जो स्वयं किसी प्रकाश का विषय न होकर नित्य प्रकाशित होती है तथा सभी चीज को प्रकाशित करती है ?

जब हम 'ज्ञान के ज्ञान' की समस्या उठाते हैं तो उपर्युक्त प्रश्न हमारे मस्तिष्क में सहज रूप में उठते हैं। भारतीय दर्शन के बृहत् इतिहास की पृष्ठभूमि में जब हम इस समस्या के बारे में सोचते हैं तो पाते हैं कि ऊपर उठाये गये सभी प्रश्न किसी न किसी दार्शनिक परम्परा में अवश्य उठाये गये हैं। उदाहरण के लिये न्याय को छोड़कर सभी दर्शन यह मानते हैं कि जब भी हमें किसी वस्तु या तथ्य का ज्ञान होता है तो हमें इस ज्ञान का भी ज्ञान अनिवार्यतः होता है। केवल न्याय मत ही ऐसा है जो यह मानता है कि ऐसा संभव है कि हमें ज्ञान तो हो पर स्वयं इस ज्ञान का ज्ञान न हो। सांख्य, प्राभाकर, बौद्ध और अद्वैत मत में जब भी हमें किसी वस्तु का ज्ञान होता है तो वस्तु के ज्ञान के साथ ही यह ज्ञान स्वतः प्रकाशित होता है। न्याय मत में ज्ञान का ज्ञान एक दूसरा ज्ञान है जो पहले ज्ञान के बाद उसके मानस प्रत्यक्ष रूप अनुव्यवसाय से होता है। भाट्ट मीमांसकों के अनुसार वस्तुज्ञान के बाद उस ज्ञान का जो ज्ञान होता है वह अर्थापत्ति या अनुमान से परोक्ष रूप में होता है, उस ज्ञान की साक्षात् प्रतीति नहीं हो पाती। एवंभूत भारतीय दर्शन में अनेकशः विचारित ज्ञान की स्वतःप्रकाशता और परतःप्रकाशता सम्बन्धी उपर्युक्त समस्या न केवल भारतीय ज्ञानमीमांसा को समझने के लिये आवश्यक है अपितु ज्ञान (चेतना) के तात्त्विक स्वरूप के सम्बन्ध में भारतीय दार्शनिक विमर्श को भी इस समस्या के उपयुक्त विश्लेषण से सहजता से समझा जा सकता है। प्रस्तुत ग्रंथ इसी दिशा में एक प्रयास है।

ग्रन्थ के प्रकाशन के अवसर पर सर्वप्रथम मैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के गुरुजनों एवं मित्रों के प्रति हृदय से आभार व्यक्त करना चाहता हूँ जिनके सानिध्य में रहकर मुझमें उस अंतर्दृष्टि का पल्लवन हुआ जिसके कारण

स्वयंप्रकाशता सम्बन्धी शास्त्रीय समस्या का एतद्रूपेण दार्शनिक प्रतिपादन संभव हो पाया। इस क्रम में श्रद्धेय गुरुवर प्रो. रेवतीरमण पाण्डेय तथा प्रो. उमेशचन्द्र दुबे का विशेष रूप से आभारी हूँ जिनका अहैतुक स्नेह, सहयोग और आशीर्वाद मुझे छात्रजीवन के आरंभ से ही प्राप्त होता रहा है। अपने दार्शनिक मित्रों डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा, डॉ. रजनीश शुक्ल, डॉ. दुर्गेश चौधरी और डॉ. संजय शुक्ल के प्रति भी अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिनके साथ घंटों होने वाली दार्शनिक बहसें प्रस्तुत विषय के स्पष्टीकरण में मेरे लिये अत्यंत सहायक सिद्ध हुयीं। 'स्वयंप्रकाशता' पर कार्य करने की प्रथम प्रेरणा डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा से प्राप्त हुई थी, एतदर्थ मैं उनका विशेष आभारी हूँ। पुस्तक की पांडुलिपि का अध्ययन कर डॉ. रजनीश शुक्ल ने जो महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये उसके लिए मैं उनका ऋणी रहूँगा। 'Self-Knowledge' की समस्या को केन्द्रित कर पश्चिम में होने वाले नवीनतम शोधों और तद्विषयक साहित्य से परिचय कराने के लिये दुर्गेश चौधरी धन्यवाद के पात्र हैं। उनका मैं विशेष रूप से इसलिये भी आभारी हूँ कि उन्होंने दार्शनिक पुस्तकों के अपने अनूठे संग्रह का उपयोग करने के लिये मुझे पूरी छूट दी।

प्रस्तुत पुस्तक की रचना में मुझे सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के वेदान्त विभागाध्यक्ष श्रद्धेय गुरुवर पंडित पारसनाथ द्विवेदी जी का जो सहयोग प्राप्त हुआ है, उसके लिये मैं उनका हृदय से आभार प्रकट करता हूँ। महान् वैयाकरण और वेदान्ताचार्य के रूप में लब्धप्रतिष्ठ इतने बड़े पंडित से चित्सुखी, अद्वैतसिद्धि, वेदान्तपरिभाषा और प्रभाकर कृत बृहती के अध्ययन का जो दुर्लभ सुयोग प्राप्त हुआ उसके लिये मैं आजीवन उनका ऋणी रहूँगा।

अंत में, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ के दर्शन विभाग के अध्यक्ष प्रो. रमेशकुमार त्रिपाठी जी के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ जिनके अमूल्य सहयोग, सत्परामर्श और प्रोत्साहन से वर्षों से अधूरी पड़ी हुई इस रचना का पूरा हो पाना संभव हो पाया। वस्तुतः प्रो. त्रिपाठी अभिभावक की तरह अपने विभागीय सहकर्मियों को शैक्षणिक उन्नयन के लिये निरंतर प्रोत्साहित करते रहते हैं। विभाग से ही जुड़े हुए वरिष्ठ आचार्य प्रो. रघुनाथ गिरि, प्रो. सुरेन्द्र कुमार श्रीवास्तव, डॉ. वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी और अपने वरिष्ठ सहयोगियों डॉ. गीता रानी अग्रवाल, डॉ. शशी देवी सिंह एवं कार्यालय सहायक अशोक सिंह के प्रति भी अपना आभार प्रदर्शित करता हूँ जिनका स्नेह, सहयोग और सत्परामर्श मुझे ग्रन्थ-निर्माण के दौरान हमेशा प्राप्त होता रहा।

अंत में, भारतीय विद्या प्रकाशन वाराणसी, दिल्ली के श्री किशोर चन्द्र जैन जी को धन्यवाद देता हूँ जिनकी व्यक्तिगत रुचि के कारण प्रस्तुत ग्रन्थ का इतने सुंदर कलेवर के साथ प्रकाशन संभव हो पाया ।

आनन्द मिश्र

विषय-सूची

प्राक्कथन	:		5
विषय-प्रवेश	:	भारतीय दर्शन में ज्ञान की स्वप्रकाशता की समस्या	11
प्रथम अध्याय	:	न्याय-वैशेषिक दर्शन में ज्ञान का स्वरूप और आत्मा एवं मन	23
द्वितीय अध्याय	:	अनुव्यवसायवाद : ज्ञान की परप्रकाशता सम्बन्धी न्याय-वैशेषिक मत	40
तृतीय अध्याय	:	स्वसंवित्वाद : स्वप्रकाशता सम्बन्धी बौद्ध प्रस्थापना	56
चतुर्थ अध्याय	:	भाट्ट मत में ज्ञान का स्वरूप एवं आत्मा	68
पंचम अध्याय	:	ज्ञाततालिङ्गानुमेयवाद : ज्ञान-ग्रहण सम्बन्धी भाट्ट मीमांसक मत	78
षष्ठ अध्याय	:	प्राभाकर मत में ज्ञान का स्वरूप और आत्मा एवं मन	96
सप्तम अध्याय	:	त्रिपुटीप्रत्यक्षवाद : ज्ञान की स्वप्रकाशता सम्बन्धी प्राभाकर मत	104
अष्टम अध्याय	:	ज्ञान की प्रकाशता सम्बन्धी विभिन्न मतों की अद्वैतकृत संपरीक्षा	122
नवम अध्याय	:	अद्वैत वेदान्त में आन्तर प्रत्यक्ष और ज्ञानादि के ग्रहण की समस्या	140
दशम अध्याय	:	ज्ञान की स्वप्रकाशता और स्वयंप्रकाश आत्मतत्त्व	152
एकादश अध्याय	:	संवित्स्वप्रकाशवाद : गहन ज्ञानमीमांसा से तत्त्वविद्या और मोक्षशास्त्र की अद्वैत यात्रा	169
परिशिष्ट	:	चित्सुखाचार्यकृत स्वप्रकाशत्व-निरूपण	188
ग्रन्थ-सूची	:		215
अनुक्रमणिका	:		225

विषय-प्रवेश

भारतीय दर्शन में ज्ञान की स्वप्रकाशता की समस्या

भारतीय दर्शन में ज्ञान के स्वरूप के सम्बन्ध में बड़े ही मौलिक ढंग से एक प्रश्न उठाया गया है कि ज्ञान का ज्ञान कैसे होता है ? इस प्रश्न का उत्तर न केवल ज्ञान के स्वरूप को स्पष्ट रूप से समझने के लिये आवश्यक है अपितु इसका उत्तर अंततः चेतना के रहस्यों को उजागर करने में सक्षम होता है। प्रश्न इस रूप में उठाया गया है कि जब हमें किसी वस्तु का ज्ञान होता है तो उस ज्ञान का ज्ञान कैसे होता है ? क्या वस्तु के ज्ञान के साथ ही वह ज्ञान स्वयं भी ज्ञात होता है अथवा वस्तु के ज्ञान का अर्थ उस ज्ञान का भी ज्ञात होना नहीं है तथा वस्तु का ज्ञान एक चीज़ है और उस ज्ञान का ज्ञान दूसरी चीज़ है जो वस्तु ज्ञान के बाद दूसरे ज्ञान से प्रत्यक्षतया या परोक्षतया होता है। अर्थात् यह संभव है कि ज्ञान स्वयं अप्रकाशित रहते हुए भी वस्तु को प्रकाशित कर सकता है। सांख्य, बौद्ध, प्राभाकर और अद्वैत दार्शनिक इस बात को असंभव मानते हैं कि कोई ज्ञान स्वयं अप्रकाशित होते हुए भी वस्तु का प्रकाशन कर सकता है। यदि ज्ञान का ज्ञान उसी ज्ञान से न मानकर दूसरे ज्ञान से माना जाए तो इस दूसरे ज्ञान के ज्ञान के लिये तीसरे और फिर उसके लिये चौथे ज्ञान की आवश्यकता होगी, फलतः अनवस्था प्रसंग प्रसक्त होगा। इसीलिये इन दार्शनिकों के अनुसार ज्ञान अपनी उत्पत्ति के साथ ही विषय के साथ-साथ स्वयं अपना प्रकाशक होता है। ज्ञान के ज्ञान के लिये किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती, उसका किसी अन्य ज्ञान से मानस प्रत्यक्ष मानने की कोई आवश्यकता नहीं जैसा कि नैयायिक मानते हैं और न उसको अनुमेय मानने की जरूरत है जैसा कि कुमारिल और उनके अनुयायी मानते हैं। ज्ञान को स्वतःप्रकाश मानने वालों के अनुसार ज्ञान और उसके ज्ञान के बीच न तो कोई अंतराल होता है और न कोई मध्यस्थ। जो स्वयं अप्रकाशित है वह भला किसी वस्तु का प्रकाशन कैसे कर सकता है और अनवस्था दोष से बचने के लिए यदि बाद के दूसरे ज्ञान को स्वप्रकाश जाना जाय तो उसे आरम्भ से ही स्वप्रकाश क्यों न माना जाए ? अतः ज्ञान न तो अवेद्य है और न वेद्य है अपितु यह स्वसंवित् या स्वप्रकाश रूप है। समस्त

प्रकाशन या ज्ञान की यह अनिवार्य शर्त होनी चाहिए कि वह स्वयंप्रकाश हो, अन्यथा यदि चेतना स्वयंप्रकाश न हो तथा उसके प्रकाश के लिये अन्य प्रकाश की आवश्यकता हो, तो इस जगत् में सब कुछ अज्ञान के घोर अंधेरे में निरंतर रहने के लिये अभिशप्त होगा और जगदान्ध्य प्रसंग प्रसक्त होगा। अतः चेतना का नित्य स्वयंप्रकाश रूप मानना आवश्यक है। ज्ञान वस्तु के प्रकाशन के साथ ही स्वयं अपना प्रकाशन करता है और यही उसका तदेतर जड़ वस्तुओं से वैलक्षण्य है।

ज्ञान की इस स्वप्रकाशता के सिद्धांत की न्याय-वैशेषिक तथा भाट्ट मीमांसा जैसे वस्तुवादी दर्शन जमकर आलोचना करते हैं और कहते हैं कि ज्ञान का कार्य विषय का प्रकाशन है तथा वह परप्रकाशक है, स्वप्रकाश नहीं। ज्ञान दीपक की तरह न होकर, चक्षु की तरह है जो वस्तुओं को तो प्रकाशित करता है पर स्वयं अपना प्रकाशन नहीं कर पाता। ज्ञान की प्रक्रिया में वस्तु प्रकाशित होता है, ज्ञान स्वयं नहीं। ज्ञान या चेतना स्वप्रकाश नहीं, बल्कि परप्रकाश है। दूसरी ओर स्वतःप्रकाशवादियों के अनुसार ज्ञान दीपक या सूर्य के प्रकाश की तरह है जो जिस तरह वस्तुओं को प्रकाशित करने में सक्षम होता है उसी तरह स्वयं अपने आपको। जिस तरह प्रदीप प्रकाश को प्रकाशित करने के लिये अन्य प्रकाश की कल्पना बेतुकी है उसी तरह स्वयं ज्ञान के प्रकाशन के लिये अन्य ज्ञान की कल्पना। तमाम वस्तुओं का जो प्रकाशक है वह भला स्वयं कैसे अज्ञात रह सकता है तथा उसके प्रकाशन के लिये अन्य प्रकाश की आवश्यकता भला कैसे ?

× × × ×

न्याय-वैशेषिक दार्शनिक इस बात का खण्डन करते हैं कि ज्ञान स्वप्रकाश है। उनके अनुसार ज्ञान स्वभावतः अर्थविषयक होता है[1] तथा उसका कार्य अन्य पदार्थों को प्रकाशित करना है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हमें अपने ज्ञान का ज्ञान नहीं होता है अपितु वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि ज्ञान स्वप्रकाश न होने के बावजूद ज्ञानान्तर द्वारा गृहीत होता है। न्यायदर्शन के अनुसार जब हमें वस्तु का ज्ञान होता है तो पहले तो सिर्फ वस्तु का ज्ञान होता है जिसका रूप 'अयं घटः' 'अयं पटः' इत्याकारक होता है तथा बाद में इस ज्ञान का ज्ञान मानस प्रत्यक्ष द्वारा होता है जिसे नैयायिक अनुव्यवसाय कहते हैं और उसमें हमें अपने ज्ञान का ज्ञान होता है। इस बाद वाले ज्ञान को नैयायिक अनुव्यवसाय कहते हैं तथा इसका विमर्श 'अहं घटं जानामि' इस रूप में होना स्वीकार करते हैं। इस तरह नैयायिकों के अनुसार वस्तु के परिचय से हमारे अंदर जो प्रथम ज्ञान उत्पन्न होता है उसमें मात्र विषय का ज्ञान होता है और इस ज्ञान का ज्ञान बाद में अनुव्यवसाय नामक मानस प्रत्यक्ष से होता है। नैयायिकों का तर्क है कि ज्ञान हमेशा सविषयक होता है अतः यदि ज्ञान

को ज्ञात होना है तो उसे भी विषय होना होगा। वात्स्यायन का कहना है कि ज्ञान का ज्ञेय अर्थात् ज्ञानान्तर वेद्य होने में कोई दोष नहीं है। वात्स्यायन इस बात में कोई विरोध नहीं देखते कि एक ही चीज अपेक्षा विशेष से प्रमेय भी हो और प्रमाण भी।[2] प्रभाकर के इस मत का कि हर ज्ञान एक साथ ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों को प्रकाशित करता है, खण्डन करते हुए श्रीधर न्यायकन्दली में कहते हैं कि वस्तु के ज्ञान के लिये यह आवश्यक नहीं है कि उस ज्ञान में ज्ञान का भी ज्ञान हो। श्रीधर कहते हैं कि 'अयं घटः' इस ज्ञान में न तो आत्मा का प्रकाशन होता है और न ज्ञान का, यहाँ सिर्फ घट का प्रकाशन होता है । नैयायिकों के अनुसार वस्तुतः 'अयं घटः' तथा 'अहं घटं जानामि' ये दो अलग-अलग विमर्श हैं।[3] स्वप्रकाशवादियों के इस तर्क का कि ज्ञान यदि स्वयं अप्रत्यक्ष हो तो अर्थ का प्रकाशन कैसे हो—अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिध्यति, प्रत्युत्तर देते हुए न्यायकन्दलीकार कहते हैं कि अर्थ का प्रकाश और ज्ञान का प्रकाश ये दोनों दो चीजें हैं। ज्ञान का स्वयं प्रकाशन न मानते हुए भी उसकी उत्पत्ति मात्र से ही अर्थ के प्रकाशन की व्यवस्था हो जाती है। अर्थ के प्रकाशन के लिये ज्ञान का प्रकाशन होना आवश्यक नहीं है, उसकी सत्ता (उत्पत्ति) ही पर्याप्त है—तत्रासंविदितेऽपि ज्ञाने तदुत्पत्तिमात्रेणैवार्थस्य संवेदनं सिद्धयति।[4] न्यायकन्दलीकार के अनुसार ज्ञान को स्वप्रकाश मानने में करण—कर्म विरोध प्रसक्त होगा, क्योंकि एक ही वस्तु एक साथ किसी क्रिया का कर्म और करण दोनों साथ नहीं हो सकता।[5] जयन्तभट्ट न्यायमञ्जरी में कहते हैं कि यदि ज्ञान स्वप्रकाश है तो उसका आकार 'अयं नीलं' इस रूप का न होकर 'अहं नीलं' इस रूप का होगा।[6] ज्ञान के स्वतःप्रकाशवादियों द्वारा दिये गये प्रदीप दृष्टान्त के विकल्प रूप में जयन्त भट्ट ज्ञान की तुलना चक्षु ज्योति से करते हुए कहते हैं कि अर्थ को प्रकाशित करने के लिये ज्ञान का स्वयं को प्रकाशित करना उसी तरह जरूरी नहीं जिस तरह आँख स्वयं अप्रकाशित होते हुए भी वर्ण प्रकाशन में सक्षम होता है।[7]

न्याय के अनुव्यवसायवाद की स्वतःप्रकाशवादियों ने जमकर आलोचना की है। ज्ञान का ज्ञान स्वतः नहीं बल्कि अनुव्यवसाय रूप दूसरे ज्ञान से माना जाए तो सहज ही यह आपत्ति उठती है कि अनुव्यवसाय स्वयं ज्ञान है अतः इसके ज्ञान के लिये भी दूसरे ज्ञान की आवश्यकता होगी, परिणामतः अनवस्था दोष प्रसक्त होगा। अर्थात् ज्ञान का ज्ञान यदि दूसरे ज्ञान से माना जाए तो उस दूसरे ज्ञान के ज्ञान के लिये तीसरे की, और फिर चौथे की आवश्यकता होगी और इस तरह अनवस्था दोष आपतित होगा।[8] पुनः यदि ज्ञान के ज्ञान के लिये ज्ञानान्तर की कल्पना की जाए तो इसका यह अर्थ होगा कि ज्ञान अज्ञात है और अज्ञात ज्ञान वदतोव्याघात है। यदि ज्ञान को भी अन्य जड़ वस्तुओं के समान ज्ञेय मान लिया जाए तो ज्ञान और जड़

वस्तु का विभाजन ही मिट जाएगा। वस्तुतः नैयायिकों के मत में जो चीज सर्वाधिक विवादास्पद है वह यह कि ऐसा संभव है कि हमें ज्ञान हो पर हमें इस ज्ञान का ज्ञान न हो। इस दृष्टि से न्याय दर्शन ही एकमात्र ऐसा भारतीय दर्शन है जो यह संभव मानता है कि हमें वस्तु का ज्ञान तो हो, पर हम अपने इस ज्ञान के ज्ञान से अपरिचित हों। नैयायिकों का यह मत प्रतिपक्षी दार्शनिकों के लिये खण्डन का रुचिकर विषय रहा।

× × × ×

नैयायिक के समान भाट्ट मीमांसक भी ज्ञान के ज्ञान के सम्बन्ध में परतः प्रकाशवादी हैं। इनके अनुसार भी ज्ञान स्वतः प्रकाशित नहीं है। कुमारिल और उनके अनुयायियों की मान्यता है कि ज्ञान केवल विषय को प्रकाशित करता है, स्वयं ज्ञान को नहीं। इसके पीछे उनका तर्क है कि जिस प्रकार पकाने की क्रिया स्वयं अपने आपको नहीं पकाती, काटने की क्रिया अपने आपको नहीं काटती, अंगुली का अग्रभाग अपने आपको नहीं छू सकता, उसी प्रकार ज्ञान भी अपने आपको नहीं जान सकता। ज्ञान निश्चित रूप से सकर्मक है तथा इसके लिये इससे भिन्न विषय होना आवश्यक है जिसे यह प्रकाशित करता है।[9] पार्थसारथि मिश्र कहते हैं कि वास्तव में ज्ञान तथा विषय एक साथ प्रकाशित नहीं होते। पहले हमें विषय का ही ज्ञान होता है तथा बाद में विचार करने पर अर्थापत्ति के द्वारा हमें ज्ञान का ज्ञान होता है। उनका तर्क है कि यह बिल्कुल आवश्यक नहीं कि साधन का ज्ञान साध्य के साथ या उसके पूर्व ही हो, हाँ उसकी सत्ता अवश्य साध्य से पूर्व अथवा साथ होनी चाहिए। हमारे अनुभव में विषय पहले प्रकाशित होता है तथा उस समय हमें ज्ञान का कोई ज्ञान नहीं रहता। पर चूँकि विषय का प्रकाशन ज्ञान बिना अनुपपन्न है, अस्तु अर्थापत्ति से ज्ञान का ज्ञान होता है। वास्तव में मीमांसकों (भाट्ट) के अनुसार जब हमें किसी वस्तु का ज्ञान होता है तो उस ज्ञान का ज्ञान हमें नहीं रहता। ज्ञान का ज्ञान तब कैसे होता है ? भाट्टों के अनुसार ज्ञान का ज्ञान परोक्ष रूप से अर्थापत्ति द्वारा होता है। कुमारिल के अनुसार ज्ञान आत्मा की क्रिया है और जिस प्रकार पकाने की क्रिया चावलों में पाकता नामक नये धर्म को उत्पन्न करती है तथा चावल में उत्पन्न होने वाले इस नये धर्म को हम जानकर यह ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं कि इसे पकाया गया है, उसी प्रकार जब कोई वस्तु ज्ञान क्रिया का विषय बनती है तो उसमें **ज्ञातता** नामक नूतन धर्म उत्पन्न होता है जो उसे अज्ञात वस्तुओं से पृथक् करता है। अब इस ज्ञातता की अन्यथा अनुपपत्ति रूप अर्थापत्ति से ज्ञान का ज्ञान होता है क्योंकि यदि ज्ञान न हो तो घट में उत्पन्न होने वाली 'ज्ञातता' मया ज्ञातोऽयं घटः की उपपत्ति न हो पाये। केशव मिश्र तर्कभाषा के 'प्रामाण्यवाद' में कुमारिल सम्मत

इस 'ज्ञातता' की जमकर आलोचना करते हुए कहते हैं कि ज्ञानविषयता से अतिरिक्त ज्ञातता नामक कोई धर्म ही प्रामाणिक नहीं है, अतः इससे अर्थापत्ति द्वारा ज्ञान को सिद्ध करने का मनोरथ नितांत निराधार है।[10] घट ज्ञान का जन्म होने पर 'मया घटोऽयं ज्ञातः' इस रूप से घट में जो ज्ञातता अवगत होती है वह कोई नूतन धर्म नहीं है अपितु वह ज्ञानविषयता रूप है। 'मुझे घट ज्ञात हो गया' इस कथन का सही अर्थ है कि घट मेरे ज्ञान का विषय बन गया और जब ज्ञानविषयता से अतिरिक्त ज्ञातता नामक कोई धर्म ही नहीं है तो फिर उसके कारण रूप में ज्ञान की कल्पना भला कैसे हो ? श्रीधर न्यायकन्दली में प्रशस्तपाद के इस मत का कि ज्ञान का अन्तरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है,[11] अपने तर्कों से पोषण करते हुए इस मत का खण्डन करते हैं कि ज्ञान प्रत्यक्ष का विषय न हो अनुमान का विषय है। अर्थ की ज्ञातता रूप हेतु से ज्ञान का अनुमान नहीं हो सकता क्योंकि अर्थ में ज्ञान का सम्बन्ध ही ज्ञातता है और अर्थ में ज्ञान का यह सम्बन्ध ज्ञान का कर्म या विषय होना है, ज्ञानविषयता है, अब ज्ञान की प्रतीति के बिना ज्ञानकर्मत्व रूप ज्ञातता की प्रतीति नहीं हो सकती।[12] श्रीधर का तात्पर्य यह है कि ज्ञातता का निर्धारक ही ज्ञान है, फलतः ज्ञातता से ज्ञान का अनुमान उचित नहीं क्योंकि ज्ञान ज्ञातता से पूर्व है और उसी से सम्बन्धित होने पर अर्थ में उसकी कल्पना की जाती है। ज्ञातता की सिद्धि 'ज्ञातो मया घटः' इस प्रत्यक्ष से तो होती ही है, साथ ही यदि ज्ञान द्वारा विषय के ऊपर 'ज्ञातता' नामक धर्म की उत्पत्ति न मानी जाए तो 'कौन पदार्थ किस ज्ञान का विषय हो' इस बात की व्यवस्था नहीं हो सकेगी। ज्ञानविषयता से भिन्न ज्ञातता का अस्तित्व मानने पर ही यह कहा जा सकेगा कि जिस ज्ञान से जिस पदार्थ के ऊपर ज्ञातता का जन्म होता है वह पदार्थ उस ज्ञान का विषय है, अब घटज्ञान में घट के ऊपर ही ज्ञातता धर्म का उदय होता है, पटादि पदार्थ में नहीं। अस्तु, यदि ज्ञातता को न स्वीकारा जाए तो ज्ञानविषयता का नियामन असंभव है, इसलिये ज्ञानविषयता की अन्यथा अनुपपत्ति से प्रादुर्भूत होने वाली अर्थापत्ति से भी ज्ञातता की सिद्धि होती है। मीमांसकों के उपर्युक्त तर्क के प्रत्युत्तर में श्रीधर कहते हैं कि जिस प्रकार पाकक्रिया से चावल में पक्वता का अनुभव होता है वैसे ही अर्थ में ज्ञातता का कोई अनुभव नहीं होता।[13] केशव मिश्र कुमारिलसम्मत अर्थापत्ति विषयक तर्क का जवाब देते हुए कहते हैं कि अर्थ ओर ज्ञान का विषयविषयी भाव स्वाभाविक है, उसके लिये 'ज्ञातता' को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।[14] पुनः यदि ज्ञानजन्य ज्ञातता के आधार को ही ज्ञान का विषय माना जाए तो अतीत एवं अनागत पदार्थों का ज्ञान संभव नहीं हो पायेगा क्योंकि अविद्यमान धर्मी में धर्म का जन्म संभव न होने के कारण अतीत और अनागत पदार्थों में ज्ञातता की उत्पत्ति नहीं होगी,

फलतः वे ज्ञान के विषय नहीं बन पायेंगे। दूसरे, मीमांसकों के मत में अनवस्था दोष है। ज्ञातता नामक धर्म स्वयं ज्ञान का विषय है, फलतः इसके लिये हमें इसमें भी ज्ञातता का धर्म उत्पन्न मानना होगा तथा फिर यह शृंखला अनन्त काल तक चलेगी। यदि यह कहा जाए कि ज्ञातता में स्वभावतः ज्ञानविषयता है तो फिर घट आदि पदार्थों को स्वभावतः ज्ञान का विषय क्यों नहीं माना जाए। लेकिन जो बात मीमांसकों के सर्वाधिक विरोध में जाती है वह यह विचित्र अभिकथन कि हमें जड़ात्मक वस्तुओं की तो साक्षात् प्रतीति होती है पर इनके ज्ञान की कभी साक्षात् प्रतीति नहीं हो पाती।

× × × ×

प्रभाकर के अनुसार ज्ञान स्वभावतः स्वप्रकाश है। प्रभाकर यह मानने के लिये तैयार नहीं हैं कि ज्ञान की उत्पत्ति हो और उसकी ज्ञप्ति न हो। वस्तुतः यह कल्पना ही नहीं की जा सकती कि हमें कोई ज्ञान हो और हम एक पल के लिये भी स्वयं उस ज्ञान से अपरिचित हों। ज्ञान के लिये किसी ऐसे स्थिति की कल्पना नहीं की जा सकती जिसमें ज्ञान तो हो (अस्तित्वतया) पर उसका ज्ञान न हो। ज्ञान कभी भी अज्ञात हो, यह असंभव है। जिस सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है उसी से उसका ग्रहण होता है, फलतः ज्ञानोत्पादक सामग्री और ज्ञानग्राहक सामग्री में प्रभाकर के अनुसार कोई भेद नहीं है। प्रभाकर के अनुसार ज्ञान प्रदीप की तरह है, जिस तरह प्रदीप को प्रकाशित करने के लिये प्रकाशान्तर की आवश्यकता नहीं होती उसी तरह ज्ञान के ग्रहण के लिये ज्ञानान्तर की आवश्यकता नहीं होती। जिस तरह प्रदीप वस्तु को, स्वयं को तथा अपने आधार को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार ज्ञान एक साथ ही ज्ञेय वस्तु, स्वयं ज्ञान तथा अपने आश्रयभूत आत्मा को आलोकित करता है। ज्ञान स्वभावतः त्रिपुटीपरक होता है और वह प्रमेय, प्रमाण तथा प्रमाता को एक साथ प्रकाशित करता है। ज्ञान की उत्पत्ति का अर्थ मात्र विषय का प्रकाशन न हो, इन तीनों का एक साथ प्रकाशन है, यद्यपि यह बात अलग है कि इसमें विषय विषय रूप में, विषयी विषयी रूप में और ज्ञान ज्ञान रूप में प्रकाशित होता है। अर्थात् ज्ञान का ग्रहण ज्ञान रूप में ही होता है न कि ज्ञान के कर्म रूप में – संवित्तयैव हि संवित् संवेद्या, न संवेद्यतया, नास्याः कर्मभावो विद्यते।[15] दूसरे शब्दों में ज्ञान स्वप्रकाश होते हुए भी ज्ञेय नहीं है। 'अयं घटः' यह ज्ञान वस्तुतः 'अहं घटं जानामि' इस आकार का होता है क्योंकि घट विषयक ज्ञान घट, ज्ञान तथा ज्ञाता तीनों को एक साथ प्रकाशित करता है। ऐसा कोई ज्ञान संभव नहीं है जो मात्र विषय का प्रकाशन करे स्वयं अपना तथा विषयी आत्मा का प्रकाशन न करे। यही प्राभाकरों का त्रिपुटीप्रत्यक्षवाद है। पार्थसारथि मिश्र प्रभाकर के इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि 'अयं

घटः' तथा 'घटमहं जानामि' ये दोनों दो ढंग के ज्ञान हैं।[16] प्रथम में घट का ही प्रकाशन होता है न कि आत्मा का और ज्ञान का भी। न्यायकन्दलीकार कहते हैं कि घटज्ञान में घट का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, अब यदि इसमें साथ ही आत्मा तथा ज्ञान का भी ज्ञान माना जाए तो क्या इनको भी चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय माना जाए ?[17] यही आक्षेप चित्सुखाचार्य तत्त्वप्रदीपिका में लगाते हैं।[18] वास्तव में प्रभाकर का मत ज्ञानात्मक चेतना की ज्यादे सुसंगत व्याख्या करता है क्योंकि ज्ञान का अर्थ मात्र अर्थ का प्रकटन न होकर ज्ञाता को अर्थ प्रकटन है, फलतः ज्ञान होने का ही अर्थ है ज्ञाता का अपने ज्ञान के प्रति आश्वस्त होना।

× × × ×

ज्ञान की स्वयंप्रकाशता के प्रतिपादकों में बौद्ध विज्ञानवादियों का स्थान सर्वोपरि है। उन्होंने ज्ञान की स्वयंप्रकाशता जिसे वे 'स्वसंवेदन' या 'स्वसंवित्ति' कहते हैं, के उपस्थापन हेतु महत्त्वपूर्ण तर्क दिये हैं। विज्ञानवादी बौद्धों की मान्यता है कि ज्ञान और ज्ञान के विषय में भेद नहीं किया जा सकता। ज्ञान से पृथक् उसके विषय की उपलब्धि नहीं होती – सहोपलम्भनियमात् अभेदो नीलतद्धियोः। अब यदि ज्ञान और उसके वस्तु में पार्थक्य नहीं है तो वस्तुज्ञान और ज्ञान के ज्ञान में भला भेद कैसे– इस दृष्टि से हर संवेदन स्वसंवेदन है। चेतना में ग्राह्य और ग्राहक की प्रतीति भ्रामिक है, अतः चेतना वस्तुतः स्व की ही चेतना है। ज्ञान की स्वयंप्रकाशता के लिये धर्मकीर्ति प्रमाणविनिश्चय में एक महत्त्वपूर्ण तर्क देते हैं जो स्वतःप्रकाशवादियों के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तर्क के रूप में बौद्ध तथा बौद्धेत्तर सम्प्रदायों में उद्धरित किया जाता है। तर्क यह है कि अप्रत्यक्षभूत विज्ञान के द्वारा बाह्यार्थ का ज्ञान कभी सिद्ध नहीं हो सकता– अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिध्यति। यदि ज्ञान ही ज्ञात नहीं हो तो भला अर्थ का ज्ञान कैसे हो ? इसी तर्क को बढ़ाते हुए बाद में शान्तरक्षित कहते हैं कि यदि ज्ञान को स्वप्रकाश न माना जाए तो चेतन और अचेतन का परपक्षियों द्वारा किया गया भेद ही मिट जाएगा क्योंकि अन्य ज्ञान से प्रकाशित होना तो जड़ वस्तु का धर्म है अब यदि ज्ञान या चेतना भी अन्य पर अपने प्रकाश के लिये आश्रित हो तो चेतन और अचेतन में क्या अंतर रह जाएगा।[19] दिगनाग ने प्रमाणसमुच्चय में कहा है कि प्रत्येक ज्ञान अपने स्वरूप में अर्थाभास और स्वाभास को लिये होता है। इस तरह प्रत्येक ज्ञान के दो पक्ष होते हैं– विषय की चेतना और उस चेतना की चेतना।[20] वास्तव में सारे के सारे अनुभवों में यह समानता है कि वे स्वयं अपना मानस प्रत्यक्ष होते हैं, इस दृष्टि से सारे अनुभव प्रत्यक्ष हैं, स्वसंवेदन हैं। चित्त की कोई अवस्था ऐसी नहीं है जिसका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष न हो। सभी चित्त और चैत्तों की आत्मसंवित्ति अनुभवसिद्ध है – सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनम्।[21] बौद्धों

ने सुख-दुःखादि चैत्तों के स्वसंवेदन की सिद्धि करते हुए कहा है कि यह असंभव है कि हमें सुख हो तथा उसकी अनुभूति न हो। हमें सर में दर्द हो, पर उसका हमें ज्ञान न हो, यह असंभव है। सुख-दुःखादि बौद्ध नैयायिकों के अनुसार ज्ञानस्वरूप हैं। अतः जो स्थिति इनके साथ है वही अन्य ज्ञानों के साथ कि वे अनिवार्यतः स्वसंवित्ति हैं। बौद्धों ने स्मृति का विश्लेषण करके भी यह सिद्ध किया है कि ज्ञान अनिवार्यतः स्वसंवित् होता है। दिगनाग का तर्क है कि स्मृति में न केवल पूर्वानुभूत वस्तु की अनुभूति होती है अपितु पूर्व अनुभूत विषय की अनुभूति भी अनुभूत होती है। यदि केवल वस्तु का ज्ञान हुआ हो तथा उस ज्ञान का ज्ञान न हुआ हो, तो स्मृति असंभव है, अस्तु, स्मृति का होना भी यह सिद्ध करता है कि प्रत्येक अनुभव स्वसंवित् है।[22]

कुमारिल भट्ट श्लोकवार्तिक में बौद्धों के 'स्वसंवेदन' का खण्डन करते हुए कहते हैं कि ज्ञान की स्वप्रकाशता का दो ही तात्पर्य हो सकता है (1) पहला यह कि ज्ञान ही ज्ञाता और ज्ञेय है अथवा (2) दूसरा यह कि ज्ञान क्रिया स्वयं को ज्ञेयरूपेण ज्ञात करती है। प्रथम विकल्प में कर्तृकर्म अभेद प्रसक्त होगा[23] और दूसरी स्थिति में क्रिया-कर्म का एकत्व आसन्न होगा।[24] कुमारिल का कहना है कि ज्ञान वस्तुतः सकर्मक है, फलतः वह परप्रकाशक है तथा वह स्वयं को उसी तरह नहीं जान सकता जिस तरह अंगुली अपने पोर को नहीं छू सकती। बौद्धों के विरोध में नैयायिकों का प्रमुख तर्क यह है कि यह कहना एक बात है कि ज्ञान का ज्ञान होता है और यह दूसरी बात है कि ज्ञान स्वयंप्रकाश होता है। जहाँ तक पहले स्थिति की बात है तो वह तो नैयायिकों को भी स्वीकार्य है। पुनः यदि यह मान भी लिया जाए कि हमें उसी चीज का स्मरण हो सकता है जिसका न केवल ज्ञान हुआ हो अपितु जिसके ज्ञान का भी ज्ञान हुआ हो, तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि हर अनुभव स्वसंवित् है बल्कि यह सिद्ध होता है कि हमें उस अनुभव का भी ज्ञान हुआ था। भासर्वज्ञ तो न्यायभूषण में यहाँ तक कहते हैं कि स्मृति के लिये मात्र यह आवश्यक है कि वस्तु का ज्ञान हुआ हो, न कि यह भी कि उस वस्तु के ज्ञान का भी हमें ज्ञान हुआ हो।[25] उदयनाचार्य सुखादि के सम्बन्ध में यह निर्णय देते हैं कि सुखादि में इतनी तीव्र संवेगिता होती है कि इनके उत्पन्न होते ही इनका मानस प्रत्यक्ष हो जाता है। दिगनाग के इस आक्षेप का कि यदि एक ज्ञान का ज्ञान दूसरे से हो तो दूसरे के लिये तीसरे और तीसरे के लिये चौथे की आवश्यकता होगी और इस तरह अनवस्था प्रसंग प्राप्त होगा, नैयायिक यह कह कर उत्तर दे सकते हैं कि बहुत स्थितियों में यह संभव है कि ज्ञान हो परन्तु उस ज्ञान का ज्ञान न हो। ज्ञान और जड़वस्तु में अंतर करने के लिये ज्ञान को स्वप्रकाश मानना आवश्यक नहीं है, बल्कि ज्ञान को

परप्रकाशन में सक्षम तथा जड़ वस्तु को इसमें अक्षम कह कर इनके बीच पार्थक्य को सुरक्षित रखा जा सकता है।

× × × ×

अद्वैती इस बात का खण्डन करते हैं कि ज्ञान का ज्ञेयत्वेन ज्ञान किसी रूप में संभव है। अतः नैयायिकों द्वारा ज्ञान को प्रत्यक्ष का विषय बनाकर तथा मीमांसकों (भाट्ट) द्वारा अनुमेय बनाकर ज्ञान के ज्ञान की जो अभिकल्पना की गयी है वह तो गलत है ही, साथ ही बौद्धों में भी यह दोष समान रूप से देखा जा सकता है क्योंकि वे भी ज्ञान का स्वयं अपने से ही ज्ञान मानकर स्वसंवदेन में उसको संवेद्य मान लेते हैं। वस्तुतः ज्ञान किसी भी रूप में न तो दूसरे ज्ञान का अथवा स्वयं उसी ज्ञान का विषय हो सकता है। यदि एक ज्ञान का ज्ञान दूसरे ज्ञान से माना जाए तो अनवस्था दोष प्रसक्त होगा और यदि ज्ञान का ज्ञान उसी ज्ञान से माना जाए तो कर्तृ-कर्म एकत्व प्रसक्त होगा। ज्ञान या चेतना प्रकाश के समान है, फलतः उसके प्रकाशन के लिये, जो समस्त वस्तुओं के प्रकाशन का कारण है किसी प्रकाश की आवश्यकता ही नहीं होती। ज्ञान साक्षात् भासित है, नितांत अपरोक्ष है, स्वयंप्रकाश है। ज्ञान उसी का होता है जो किसी रूप में अज्ञात हो, पर चूँकि चेतना का प्रकाश कभी तिरोहित नहीं होता तथा वह सतत् प्रकाशमान है अस्तु उसके ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं। जो साक्षात् प्रतीति का विषय हो, जिसकी साक्षात् अपरोक्षानुभूति होती है, उसके ज्ञान की न तो आवश्यकता होती है और न वह संभव है। इसी बात को चित्सुखाचार्य 'अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहारयोग्यता' के रूप में समझाते हैं।

शंकराचार्य ब्रह्मसूत्र 2/2/28 के भाष्य में इस बात की जम कर आलोचना करते हैं कि ज्ञान किसी भी रूप में विषय बनता है। इस सम्बन्ध में बौद्धों के स्वसंवेदन की आलोचना करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि स्वसंवेदन का अर्थ यदि यह है कि पूर्व और उत्तर काल के विज्ञानों में ग्राह्य ग्राहक भाव है तो यह स्वयं बौद्ध मत की प्रतिज्ञाओं को हानि पहुँचायेगा।[26] यदि यह कहा जाए कि विज्ञान स्वयं ही अपने अनुभव का विषय होता है तो इससे क्रिया-कर्म विरोध होगा।[27] यदि एक ज्ञान के लिये दूसरे ज्ञान की अभिकल्पना की जाय तो अनवस्था प्रसंग प्रसक्त होगा।[28] पुनः यदि ज्ञान प्रदीप के समान अवभासक है तो फिर इस ज्ञान के ज्ञान की बात असंभव है क्योंकि दोनों ज्ञानों के समान रूप से अवभासक होने से इनमें परस्पर अवभास्य-अवभासक भाव अनुपपन्न होगा।[29] वस्तुतः जब हमें घट, पटादि वस्तुओं का ज्ञान होता है तो हम अपने इस ज्ञान के बारे में असंदिग्ध होते हैं क्योंकि घट, पट आदि के विभिन्न विज्ञानों के पृष्ठ में साक्षी रूप नित्य कूटस्थ चैतन्य अनुवर्तमान होता है और इसी के प्रकाश से न केवल घट, पट आदि के विभिन्न विज्ञान जो कि वस्तुतः

अन्तःकरण की वृत्तिविशेष हैं, प्रकाशित होते हैं अपितु इस प्रकाश से प्रकाशित होने के कारण ही वृत्तिज्ञान अपने-अपने वस्तुओं को प्रकाशित करने में सक्षम होते हैं। यह साक्षी चेतना ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान तीनों को अपने प्रकाश से निरंतर प्रकाशित करती है। अतः 'अहं' रूप ज्ञाता तथा घट, पट आदि विज्ञानों के अभिव्यंजन के लिये हमें जो किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती, इसका कारण हमारे अंदर विद्यमान नित्य कूटस्थ चैतन्य रूप नितांत आंतरिक (प्रत्यक्) और इसीलिये साक्षात् अपरोक्ष रूप आत्मतत्त्व है, यह विज्ञान, विज्ञेय और विज्ञाता तीनों का एक साथ अवभासक है तथा इनके अभाव में स्वयं ही भासित होता रहता है। इस तरह घट, पट आदि ज्ञान की स्वयंप्रकाशता का तर्क चैतन्य मात्र की स्वयंप्रकाशता को आपादित करता है। अंततः हमको एक ऐसे चैतन्य को स्वीकार करना होगा जो सब कुछ को भासित करता हुआ स्वयं किसी भी रूप में विषय नहीं बनता फिर भी अपरोक्ष अनुभूति के योग्य होता है। अद्वैती वृत्तिज्ञान और स्वरूपज्ञान में भेद करते हैं। घट, पटादि का ज्ञान वृत्तिज्ञान है। अन्तःकरण की परिणाम विशेष वृत्तियों में चैतन्य के प्रतिबिम्ब से ही प्रभास्वरता आती है और वस्तु प्रकाशित होता है। इस दृष्टि से देखा जाए तो एकमात्र शुद्ध चैतन्य रूप आत्मा ही स्वयंप्रकाश है जिसके आश्रयण से वृत्तिज्ञान संभव हो पाता है और घट-पटादि प्रकाशित होते हैं। सुरेश्वराचार्य नैष्कर्म्यसिद्धि में कहते हैं कि ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान, इन तीनों में किसी में अपना प्रकाश नहीं होता और न तो वे स्वयं को जान सकते हैं और न एक दूसरे से जाने जा सकते हैं, वस्तुतः इनका ज्ञान कहीं तीसरे से ही अर्थात् साक्षी रूप चेतना से होता है।[30] लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि अद्वैत-वेदान्त में नित्य कूटस्थ चैतन्य रूप शुद्ध आत्मा ही स्वयंप्रकाश है, अपितु घट, पटादि का वृत्तिज्ञान भी स्वयंप्रकाश है क्योंकि इसके ज्ञान के लिये किसी अन्य वृत्ति या अनुभव की अपेक्षा नहीं होती, यह सीधे साक्षी चेतना द्वारा भासित होने से स्वयंप्रकाश है। वाचस्पति मिश्र भामती में कहते हैं "अन्तःकरणवृत्ति रूप अनुभव जड़ होने पर भी स्वच्छ है, अतः चैतन्य का प्रतिबिम्ब ग्रहण करने के लिये अनुभवान्तर की अपेक्षा नहीं करता, अस्तु अनवस्था नहीं प्रसक्त होती। ऐसा कभी संभव नहीं है कि अनुभव उत्पन्न हो, किन्तु साक्षी को उसका प्रत्यक्ष न हो"[31] चित्सुखाचार्य ज्ञान की स्वयंप्रकाशता के लिये तर्क देते हुए कहते हैं कि यदि ज्ञान को वेद्य माना जाए तो अनवस्था होगी तथा यदि विषय प्रकाश के समय अनुभूति को भी प्रकाशित न माना जाए तो विषयप्रकाशन के अनन्तर अपनी अनुभूति में ही संदेह उत्पन्न हो जाएगा और जो कि कभी नहीं होता। अस्तु, ज्ञान स्वयंप्रकाश है। यदि घट, पट आदि के समान उसके ज्ञान को भी ज्ञेय माना जाए तो इस जगत् में सब कुछ ज्ञेय रूप ही होगा घट, पटादि के समान, जो न तो स्वयं प्रकाशित हैं और

न एक दूसरे को प्रकाशित कर सकते हैं। फलतः ऐसे प्रकाश के अभाव में जिसके प्रकाश से सब कुछ प्रकाशित होता है – जाना जाता है, जगद् घोर अंधकार में विलीन हो जाएगा और जगदान्ध्य प्रसंग प्रसक्त होगा।[32]

संदर्भ एवं टिप्पणी

1. अर्थप्रकाशात्मैव खलूपलम्भः।
   जयन्तभट्ट, न्यायमञ्जरी (तृतीय भाग), सं. गौरीनाथ शास्त्री, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1984, पृ. 51.
2. द्रष्टव्य, न्यायसूत्र 2/1/19 पर वात्स्यायन कृत भाष्य।
3. श्रीधराचार्य, न्यायकन्दली, सं. एवं हिन्दी अनुवाद–श्री दुर्गाधर झा, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1977, पृ. 221.
4. द्रष्टव्य, वहीं, पृ. 220.
5. द्रष्टव्य, वहीं, पृ. 220.
6. इदं नीलमिति ग्राहकाद् विच्छिन्न एव ग्राह्याकारोऽवभासते, न त्वहं नीलमिति तदैक्येनावभासोऽस्ति।
   न्यायमञ्जरी (तृतीय भाग), पृ. 50.
7. चक्षुर्जन्यः प्रकाशो नाम ज्ञानमुच्यते स तु प्रकाशो रूपादिविषयप्रकाशो न प्रकाशप्रकाशः। न हि चक्षुषा प्रकाशः प्रकाश्यतेऽपि तु रूपं प्रकाश्यते।
   न्यायमञ्जरी, (तृतीय भाग), पृ. 50.
8. (अ) इस सम्बन्ध में देखें शान्तरक्षित का तत्त्वसंग्रह–2020 से 2028, सं. स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, वाराणसी–बौद्धभारती, 1968.
   (ब) नैयायिकों के 'अनुव्यवसाय' की आलोचना के लिये द्रष्टव्य, तत्त्वप्रदीपिका, सं. स्वामी योगीन्द्रानन्द, षड्दर्शनप्रकाशनप्रतिष्ठानम्, काशी, 1985, पृ. 30-32.
9. पार्थसारथि मिश्र, न्यायरत्नाकर, श्लोकवार्तिक (शून्यवाद– 64) की व्याख्या में।
10. केशव मिश्र, तर्कभाषा, सं. पं. बदरीनाथ शुक्ल, वाराणसी–मोतीलाल बनारसीदास, 1993 पृ. 174.
11. बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नास्त्वन्तःकरणग्राह्याः।
    प्रशस्तपादभाष्यम्, सं. पं. दुर्गाधर झा, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1977, पृ. 232.
12. ज्ञानसम्बन्धो ज्ञातता, याऽसौ ज्ञानकर्मता सा प्रतीयमाने ज्ञाने न प्रतीयते।
    श्रीधर, न्यायकन्दली, पृ. 232.
13. यथा हि तण्डुलानामेवौदनीभावः पक्वताऽनुभूयते नैवमर्थस्य ज्ञातता।
    वहीं, पृ. 233.
14. केशव मिश्र, तर्कभाषा, पृ. 176.
15. प्रभाकर, बृहती, सं. शे., कृ. रामनाथ शास्त्री, मद्रपुरीय विश्वविद्यालय, 1934, पृ. 82.
16. न्यायरत्नाकर, श्लोकवार्तिक– शून्यवाद–72 की व्याख्या में।
17. न्यायकन्दली, पृ. 221–

न तु ज्ञातृज्ञानयोऽश्चाक्षुष ज्ञाने प्रतिभासः, तयोरपि चाक्षुषत्वप्रसंगात्।

18. तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 45.
19. तत्त्वसंग्रह, 2020.
20. एम. हट्टोरी, दिग्नाग ऑन परसेप्शन, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, 1968, पृ. 29-30.
21. धर्मकीर्ति, न्यायबिन्दु, 1/10.
22. बी. के. मतिलाल, परसेप्शन, क्लारेण्डन प्रेस, ऑक्सफोर्ड, 1986, पृ. 153.
23. कुमारिल भट्ट, श्लोकवार्तिक (शून्यवाद– 64).
24. श्लोकवार्तिक, (शून्यवाद–73).
25. न्यायभूषणम्, सं. स्वामी योगीन्द्रानन्द, षड्दर्शनप्रकाशन प्रतिष्ठान, वाराणसी, 1968, पृ. 136.
26. अपि च द्वयोर्विज्ञानयोः पूर्वोत्तरकालयोः स्वसंवेदनेनैवोपक्षीणयोरितरेतरग्राह्यग्राहकत्वानुपपत्तिः, शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्यम्, सं. स्वामी योगीन्द्रानन्द, षड्दर्शनप्रकाशन प्रतिष्ठान, वाराणसी, 1984, पृ. 725.
27. न चार्थाव्यतिरिक्तमपि विज्ञानं स्वयमेवानुभूयते, स्वात्मनि क्रियाविरोधादेव।
    वहीं, पृ. 727.
28. वहीं, पृ. 727.
29. वहीं, पृ. 727.
30. न विदन्त्यात्मनः सत्तां द्रष्टृदर्शनगोचराः।
    न चान्योन्यमतोऽमीषां ज्ञेयत्वं भिन्नसाधनम्।।
    सुरेश्वराचार्य, नैष्कर्म्यसिद्धि, 2/106
31. "अनुभवस्तु जडोऽपि स्वच्छतया चैतन्यविम्बोद्ग्रहणाय नानुभवान्तरमपेक्षते येनानवस्था भवेत्। न ह्यस्ति सम्भवोऽनुभव उत्पन्नश्च न च प्रमातुः प्रत्यक्षो भवति यथा नीलादिः। वाचस्पति मिश्र, ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, 2/2/28 की भामती टीका में।
32. तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 32.

❐

1

न्याय-वैशेषिक दर्शन में ज्ञान का स्वरूप और आत्मा एवं मन

न्याय-वैशेषिक परम्परा में बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान, दर्शन, बोध, प्रत्यय, अध्यवसाय और चेतना समानार्थक हैं।[1] गौतम न्यायसूत्र—1/1/15 में कहते हैं—बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तिरम्। वाचस्पति इसी सूत्र के तात्पर्यटीका में कहते हैं—बुद्धेः स्वाभाविकं चैतन्यमास्थेयम्। वल्लभ न्यायलीलावती में स्पष्ट कहते हैं प्रकाशो बुद्धिः।[2] इसी तरह जयन्तभट्ट न्यायमञ्जरी में चेतना को अर्थविज्ञान बतलाते हैं तथा कहते हैं कि अर्थसंवेदन से भिन्न कोई चेतना नामक चीज़ नहीं है।[3] न्यायमत में ज्ञान, उपलब्धि या कहें कि चेतना हमेशा किसी विषय की उपलब्धि, चेतना या ज्ञान है। अर्थात् चेतना का तात्पर्य किसी चीज़ की चेतना होना है, ज्ञान का तात्पर्य किसी चीज़ का ज्ञान होना है। ज्ञान हमेशा अपने से परे किसी विषय को इंगित करता है, यह हमेशा सविषयक होता है।[4] न्याय-वैशेषिक परम्परा में ज्ञान अपने से परे, पृथक् और बाहर विषय को संकेतित करता है। वह स्वयं अपने को नहीं प्रकाशित कर सकता है। वह स्वयं को नहीं बल्कि 'अन्य' को ही जान सकता है। अर्थात् ज्ञान स्वभावतः सविषयक होता है और यह विषय अपने से पृथक् होता है। ज्ञान का यह सविषयक स्वरूप अर्थप्रकाशो हि बुद्धिः[5] तथा अर्थप्रकाशात्मैव खलूपलम्भः[6] जैसे अभिकथनों से सहज स्पष्ट है।

ज्ञान अर्थ का प्रकाशन है। ज्ञान का तात्पर्य किसी वस्तु का बोध है, उसकी प्रतीति है। देखना, सुनना, जानना आदि ज्ञानसूचक शब्द मात्र प्रक्रियाओं को ही नहीं सूचित करते अपितु वे हमारी उपलब्धि को सूचित करते हैं। इसीलिए ज्ञान और उपलब्धि समानार्थक कहे गये हैं।[7] अर्थात् ज्ञान उस प्रक्रिया का फल है। मतिलाल ज्ञानपरक शब्दों को टास्क वर्ब या ट्राइ वर्ब न मानकर गॉट इट वर्ब मानते हैं। अर्थात् ज्ञान प्रक्रिया न हो—प्रयास न हो—उस प्रयास का फल है। ज्ञान कार्य है, परिणाम है, उपलब्धि है। प्रो. मतिलाल के अनुसार यह विशेषता न्याय और बौद्ध दोनों में

समान है।[8] पुनः ज्ञान घटना विशेष है और हर ज्ञान नवीन घटना है, विशेष घटना है तथा क्षणस्थायी[9] है। ज्ञान क्षणिक होने के बावजूद, समाप्त होने के बावजूद अपना संस्कार छोड़ जाता है। यह संस्कार जागृत होकर पुनः स्मृति (ज्ञान) का जनक होता है। इस दृष्टि से देखा जाए तो न्याय मत में हमारे जो संस्कार हैं वे ही हमारे वास्तविक ज्ञान धरोहर हैं और हमारा संपूर्ण ज्ञानात्मक व्यक्तित्व इसी से बनता है। जिस अर्थ में हम लोग 'ज्ञानी' शब्द का प्रयोग करते हैं देखा जाए तो वह इन्हीं संस्कारों की विशालता और सघनता तथा बहुविधता का सूचक है। हाँ, यह बात अवश्य है कि इन संस्कारों का कोश हमारे ज्ञान-घटनाओं से विनिर्मित होता है। न्यायमत में ज्ञान का अनुभव और स्मृति रूप में जो द्विधा वर्गीकरण है[10] उसे इस व्यापक परिप्रेक्ष्य में समझना चाहिए और स्मृति की नये ढंग से व्याख्या होनी चाहिए। जब हम इस तरह की पदावलियों का प्रयोग करते हैं 'मुझे इस चीज़ का ज्ञान है', 'उसे तमाम विषयों का ज्ञान है', 'वह आपकी बात पहले से जानता है' तो यहाँ इन्हीं संस्कारों की बात की जा रही है। फलतः अपने ज्ञान की प्रचुरता का दावा दरअसल अपने संस्कारकोश की विशदता का दावा है।

ज्ञान जहाँ एक ओर अपने विषय को सूचित करता है वहीं स्वतंत्र द्रव्य रूप न होने के कारण एक आश्रय रूप में किसी अन्य द्रव्य की अपेक्षा रखता है। न्याय दर्शन में ज्ञान गुण है और गुण सदा किसी द्रव्य के आश्रित होता है, ज्ञान आत्मा का गुण है।[11] ज्ञान या बुद्धि द्रव्य नहीं है क्योंकि यह किसी गुण या कर्म का आश्रय नहीं है। ज्ञान क्रिया भी नहीं है। न्यायमञ्जरी में इस बात का खंडन किया गया है कि ज्ञान क्रिया है। जयन्तभट्ट कहते हैं कि ज्ञान क्रिया न होकर क्रिया का फल है—न हि क्रियास्वभावं ज्ञानमपितु फलस्वभावमेव।[12] ज्ञा धातु का क्रियार्थक प्रयोग यह भ्रम पैदा करता है मानो ज्ञान क्रिया हो।[13] क्रिया न होने के बावजूद ज्ञान एक अर्थ में कार्य है। यह एक क्षणिक घटना है जो समय विशेष में हममें उत्पन्न होती है। ज्ञान की उत्पत्ति कुछ कारण सामग्रियों की अपेक्षा रखती है और फलतः अन्य उत्पादनों की तरह ही यह समय विशेष में उत्पन्न होती है। ज्ञान निराधार नहीं उत्पन्न होता है। यह आत्मा में उत्पन्न होता है, उसका गुण है। ज्ञान का आश्रय कोई जड़ पदार्थ नहीं है, यह आत्मा का धर्म है। ज्ञान आत्मा का गुण होने के बावजूद उसका अनिवार्य गुण या स्वरूप नहीं है। ज्ञान आत्मा में एक विशेष संयोग की अपेक्षा से उत्पन्न होता है। न तो आत्मा ज्ञान रूप है और न मन या इन्द्रिय आदि। ज्ञान आत्मा का पर्याय या परिणति विशेष नहीं है। फलतः वह न तो द्रव्य है और न पर्याय है। ज्ञान को आत्मा का वैसा परिणाम या पर्याय नहीं माना जा सकता जैसा मिट्टी का घट होता है। पुनः यह मन की भी अवस्था नहीं है। यद्यपि यह सही है कि ज्ञानोत्पत्ति

में मन की महती भूमिका होती है पर इसका यह अर्थ नहीं है कि ऐसा ज्ञान मन में रहता है। इस तरह न्याय मत में ज्ञान मानसिक अवस्था नहीं है। मानसिक अवस्था न होने के बावजूद चूँकि यह आत्मा विशेष का गुण होता है अतः जिस आत्मा विशेष का गुण होता है वह उसी का होता है और उसी को साक्षात् रूपेण ज्ञात होता है अन्य को नहीं। श्रीधर न्यायकन्दली में तथा जयन्तभट्ट न्यायमञ्जरी में परिशेषानुमान[14] से चेतना या ज्ञान को आत्मा नामक द्रव्य का गुण सिद्ध करते हैं। श्रीधर न्यायकन्दली में इस प्रश्न का कि क्यों चेतना या ज्ञान आत्मा का ही गुण है और उसी में समवाय सम्बन्ध से आश्रित है मन, इन्द्रिय और विषय के आश्रित नहीं है जबकि इन सभी के संयोग से ज्ञान उत्पन्न होता है और ये सबके सब समान रूप से जड़ात्मक हैं, उत्तर देते हुए कहते हैं कि ऐसा स्वभाव नियम से है। यद्यपि चेतना की उत्पत्ति में इन चारों का संयोग होता है पर इसका आश्रय आत्मा ही है। इस तरह से ज्ञान आत्मा का गुण है। वह आत्मा का मन, इन्द्रिय और विषय से संयोग होने पर ही उत्पन्न होता है। अर्थात् ज्ञान उत्पन्नधर्मा है और अपनी उत्पत्ति के लिये एक विशेष संयोग की अपेक्षा रखता है—इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानम्। इस संयोग विशेष के होने पर ही आत्मा विशेष में यह उत्पन्न होता है और जैसा कि वात्स्यायन न्यायसूत्र-3/2/1 के भाष्य में कहते हैं इसी कारण वह अनित्य और आगन्तुक भी है। कणाद कहते हैं कि चेतना आत्मा में उसी तरह से उत्पन्न होती है जैसे अग्नि में पकाये जाने पर घड़े में लालिमा का गुण उत्पन्न होता है।[15] इस तरह न्याय-वैशेषिक परम्परा में आत्मा में ज्ञान उत्पन्न होता है और इस उत्पत्ति के लिये आवश्यक है कि आत्मा का मन से संयोग हो, मन का इन्द्रियों से संयोग हो और इन्द्रियों का अर्थ से - और ऐसा होने पर ज्ञान की चिनगारी आत्मा में उत्पन्न होती है, कुछ स्थितियों में (मानस प्रत्यक्ष में) आत्मा का मन से और मन का आत्म धर्मों से अर्थात् बिना बाह्य अर्थ के संयोग के ही ज्ञान उत्पन्न होता है। आत्मा ही वह आधार है जहाँ यह चिनगारी उत्पन्न होती है, ज्ञान घटना घटती है, आत्मा में उत्पन्न होने के कारण ही यह आत्मा का गुण है। यह ज्ञान नामक गुण सामान्य और अमूर्त[16] न होकर विशेष गुण है तथा संयोग विशेषजन्य होने के कारण अनित्य है तथा आत्मा में हमेशा न रहने के कारण आगन्तुक है। ज्ञान उत्पन्न होता है, एक क्षण ठहरकर फिर नष्ट हो जाता है तथा अपने पीछे अपना संस्कार छोड़ जाता है। यह संस्कार फिर कभी बाद में उद्भुत या सजीव हो स्मृति का हेतु बनता है। बाद में होने वाली यह स्मृति पुनः एक ज्ञानात्मक घटना है और फिर से अपने संस्कार को छोड़ नष्ट हो जाती है।

इस तरह ज्ञान द्रव्य नहीं है। ज्ञान न्याय मत में सम्बन्ध भी नहीं है। ज्ञान को ज्ञाता और ज्ञेय, मन या आत्मा तथा वस्तु और वस्तु तथा वस्तु के बीच के सम्बन्ध

के रूप में भी नहीं व्याख्यायित किया जा सकता है। यद्यपि यहाँ कहा जा सकता है कि ज्ञान के लिये ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्धित होना अनिवार्य है पर इससे यह नहीं सिद्ध हो जाता कि ज्ञान स्वयं एक सम्बन्ध है। न्याय मत में बिना आत्म-मनः-इन्द्रिय-विषय संयोग के ज्ञान नहीं होता है, पर यह सम्बन्ध ही ज्ञान नहीं है– इस सम्बन्ध के कारण ज्ञान नामक गुण आत्मा में उत्पन्न होता है। ज्ञान न तो सम्बन्ध है और न क्रिया क्योंकि ये दोनों ही ज्ञान के विषय होते हैं। यदि ज्ञान को सम्बन्ध माना जायेगा तो एक सम्बन्ध की अवगति दूसरे सम्बन्ध से मानना होगा। अस्तु, ज्ञान सम्बन्ध नहीं है, यह सम्बन्धजन्य है।

सांख्य-योग दर्शन में ज्ञान बुद्धि का विकार है, पर्याय है, उसकी परिणति है। न्याय दर्शन में सांख्य के इस मत का खण्डन किया गया है। गौतम न्यायसूत्र-1/1/15, वात्स्यायन भाष्य तथा उद्योतकर वार्त्तिक में सांख्य के इस मत का खण्डन करते हैं। जयन्तभट्ट न्यायमञ्जरी में कहते हैं कि इस सूत्र के द्वारा बुद्धि और ज्ञान के पार्थक्य का निषेध किया गया है।[17] वस्तुतः सांख्य और अद्वैत मत में बुद्धि या अन्तःकरण परिणामी है और परिणामी होने के कारण उसका सावयव स्वरूप है। बुद्धि या अन्तःकरण सावयव द्रव्य है–ज्ञान इसका परिणाम विशेष है। सावयव अन्तःकरण या बुद्धि का परिणाम होने से ज्ञान वस्तु का आकार धारण कर लेता है–इस तरह सांख्य और अद्वैत वेदान्त में ज्ञान साकार है। ज्ञान की साकारता का कारण उसका अवयवी अन्तःकरण का–बुद्धि का–परिणाम होना है। यदि वह निरवयव होता तो साकार नहीं होता। अस्तु, ज्ञान को बुद्धि या अन्तःकरण का परिणाम या विकार नहीं स्वीकार कर न्याय मत ज्ञान को निरवयव स्वीकारता है, परिणामतः ज्ञान उसके यहाँ निराकार है–यह वस्तु के आकार में आकारित नहीं होता। साथ ही जैसा कि पीछे कहा गया है, न्याय-वैशेषिक परम्परा में ज्ञान क्रिया नहीं है फलतः यह वस्तु में किसी तरह का परिवर्तन भी नहीं लाता। जबकि दूसरी ओर मीमांसकों में ज्ञान क्रिया होने से अपने विषय में एक नवीन धर्म ज्ञातता उत्पन्न करता है। यहाँ एक दृष्टि से न्याय मत में कुछ कमियाँ स्पष्ट देखी जा सकती हैं। पहला तो यह है कि ज्ञान यदि आत्मा का गुण है तो यह आन्तरिक चीज़ है, इसकी परामुखता या विषयता की व्याख्या जितना अच्छा ज्ञान को आत्मा का कर्म मानने से होता है उतना उसका धर्म या गुण मानने से नहीं। क्रिया स्वभावतः कर्मपरक होती है, अपने से परे को लेकर होती है– ज्ञान को गुण मानने पर उसके इस सकर्मक या सविषयक स्वभाव की व्याख्या अच्छे ढंग से नहीं हो पाती। दूसरी बात यह है कि कर्म सिद्धान्त ज्ञान में ज्ञाता (कर्त्ता) की सक्रिय साझेदारी की अच्छे ढंग से व्याख्या करता है। ज्ञान कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो यांत्रिक ढंग से कुछ संयोग-विशेष के होने पर हो ही, यह ज्ञाता (कर्त्ता) की

सक्रियता का परिणाम है। देखा जाए तो यहाँ भी मीमांसा मत सही है, क्योंकि ज्ञान आत्मा में उत्पन्न हो जाता है जैसा कि न्याय मानता है यह उतना सही नहीं लगता जितना कि यह बात कि आत्मा (ज्ञाता) ज्ञान को उत्पन्न करता है, वस्तु को प्रकाशित करता है, उसे जानता है।

जिस तरह ज्ञान आत्मा का गुण कहा गया है, उसी तरह आत्मा के कुछ और विशेष गुण हैं– सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, यत्न।[18] आत्मा में ये गुण आत्मा और मन के संयोग से उत्पन्न होते हैं।[19] न्यायसूत्र-1/1/10 में ज्ञान के साथ इन पांचों गुणों को आत्मा का लिङ्ग कहा गया है। प्रशस्तपाद बुद्धि के समान ही सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, यत्न गुणों के आश्रय के रूप में आत्मा की सिद्धि करते हैं।[20] उद्योतकर वार्तिक में इन छहों गुणों को अनित्य और कार्यरूप बताते हैं।[21] इन छहों के आश्रय के रूप में आत्मा का अनुमान न्याय-वैशेषिक परम्परा में किया गया है। इन छः गुणों में यह समानता है कि ये सबके सब आत्मा में उसके देह से सम्पर्क के परिणाम स्वरूप ही उत्पन्न होते हैं। पुनः ये सब के सब मन द्वारा गृहीत हो मानस प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात होते हैं।[22] यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि यदि ज्ञान और चेतना को समान माना जाए तो यह समस्या खड़ी होती है कि सुख, दुःख, इच्छा आदि को किस तरह अचेतन गुण सिद्ध किया जाय। यह स्वाभाविक रूप से सत्य प्रतीत होता है कि इच्छा आदि भी चेतन व्यापार ही हैं। अर्थात् जिस तरह ज्ञान एक चेतन व्यापार है, उसी तरह इच्छा, यत्न, सुख, दुःख आदि भी। इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट विचार न्याय-वैशेषिक परम्परा में नहीं किया गया है। यद्यपि सुख, दुःखादि के सम्बन्ध में ये आचार्य स्पष्टतः कहते हैं कि सुख-दुःख बोधरूप नहीं, ज्ञान नहीं है।[23] सुख और सुख का ज्ञान न्याय-वैशेषिक मत में दो चीजें हैं। बौद्धों और नैयायिकों में इस बात को लेकर युक्ति-प्रतियुक्तियों की एक लम्बी शृंखला चली कि सुख-दुःख अपने ज्ञान से भिन्न हैं अथवा नहीं। धर्मकीर्ति सुख, दुःखादि का उल्लेख करते हुये कहते हैं कि उनका होना और उनका ज्ञान होना एक ही चीज है।[24] मुझे दर्द हो और उसकी मुझे जानकारी न हो, यह असंभव है। उदयन न्यायपरिशुद्धि में इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि सुख दुःख जैसे उत्पन्न होते हैं, वैसे ही ज्ञात हो जाते हैं और ऐसा उनकी तीव्र संवेगिता के कारण होता है।[25] वस्तुतः सुख अलग है और उसका ज्ञान अलग। जयन्तभट्ट न्यायमञ्जरी में सुखादि का ज्ञानभिन्नत्व सिद्ध करते हुए कहते हैं कि ज्ञान और सुखादि में प्रधान भेद यह है कि जहाँ ज्ञान में विषय का ग्रहण होता है, सुखादि में यह विषयप्रकाशत्व नहीं होता–सुखादि संवेद्यमानमानन्दादिरूपतयाऽनुभूयते, ज्ञानं विषयानुभवस्वभावतयेति...संविदो विषयानुभवस्वभावतयैव प्रतिभासात्...ज्ञानमेव विषयग्रहणरूपं प्रकाशते, न सुखं दुःखं वा।...न तु विषयग्रहणस्वभावं सुखं

दुःखञ्चानुभूयते। उपसंहार करते हुए जयन्त कहते हैं कि आत्मा रूप समान समवायिकारण तथा आत्ममनः संयोग रूप असमवायिकारण के समान होने पर भी निमित्तकारण अलग-अलग होने से ज्ञान और सुखादि अलग-अलग हैं—तस्मान्न बोधरूपाः सुखादयः।[26] यहीं उपर्युक्त समस्या जो ऊपर उठाई गई है, का कुछ अंश तक समाधान मिलता है। समाधान यह है कि आत्मा के जिन छः विशेष गुणों की चर्चा की गयी और जिनके बारे में यह बताया गया कि ये घटना या कार्य रूप हैं तथा विशेष संयोग से आत्मा में उत्पन्न होते हैं, उनमें प्रधान बुद्धि या ज्ञान ही है। सुख, दुःख, इच्छा आदि इन सबके मूल में ज्ञान है, यही उनको जनती है। यह प्रसिद्ध अभिकथन है कि ज्ञान जन्या भवेत् इच्छा, इच्छा जन्या कृतिः भवेत्। किसी वस्तु का ज्ञान ही हमारे अंदर उसके सम्बन्ध में हमारी इच्छा तथा तद्विषयक प्रयत्न को जन्म देता है। अर्थात् आत्मा में घटित होने वाली विभिन्न मानसिक घटनाओं में मौलिक और प्राथमिक ज्ञान होती है और वह अन्य सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, यत्न आदि मानसिक घटनाओं की श्रृंखला को जनती है और इस तरह मनुष्य की जागतिक प्रवृत्ति की व्याख्या होती है। जयन्तभट्ट कहते हैं कि सुखादि सभी ज्ञानपूर्वक ही होते हैं—तस्मात् सर्वं सुखादि ज्ञानपूर्वकमेव।[27] श्रीधर भी न्यायकन्दली में सुख को बुद्धि का कार्य बताते हैं।[28] यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि उपर्युक्त छः गुणों में मुख्यतः यह ज्ञान की ही विशेषता होती है कि यह हमेशा किसी विषय को संकेतित करता है। ज्ञान सदा सविषयक होता है, निर्विषयक नहीं। अब ज्ञान की यह सविषयकता यह नहीं सूचित करती कि यह विषय बाह्य ही हो या जड़ एवं मूर्त ही, यह विषय अमूर्त एवं आंतरिक भी हो सकता है। इच्छा, द्वेष, यत्न भी सविषयक ही होते हैं। उनका अपना एक विषय होता है। यह सही है कि सुख, दुःख का भी किसी विषय से सम्बन्ध होता है पर यह कारणता के अर्थ में ही। वस्तुतः वे अपने से परे किसी विषय को संकेतित नहीं करते। वाचस्पति तात्पर्यटीका में तथा वल्लभ न्यायलीलावती में ज्ञान और इच्छा आदि अन्य आत्मगुणों में इसी स्वाभाविक विषयता के आधार पर भेद करते हैं। यह ज्ञान की ही विशेषता है कि वह हमेशा किसी विषय का होता है, अपने से भिन्न किसी विषय को संकेतित करता है। इच्छा आदि भी सविषयक होते हैं पर वे ऐसा इसलिये हैं कि वे ज्ञानजन्य हैं और ज्ञान स्वभावतः सविषयक होता है।[29] उनकी सविषयकता ज्ञान की सविषयकता के कारण है। शंकर मिश्र कहते हैं— इच्छादौ तु ज्ञानौपाधिकं तत्।[30] गदाधर इसे ही याचितमण्डन न्याय कहते हैं। इस तरह न्याय-वैशेषिक परम्परा में आत्मा के गुण ज्ञान में ही स्वाभाविक सविषयता और वस्तुप्रकाशनता होती है। यह ज्ञान बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान, प्रत्यय, प्रतीति, अवगम, विज्ञान, चेतना का पर्याय है। चेतना का तात्पर्य किसी चीज की चेतना है।

किसी चीज की चेतना का अर्थ उसका ज्ञान है। सुख, दुःख, इच्छा आदि इस दृष्टि से देखा जाए तो चेतना या उसकी अवस्था नहीं हैं, हाँ वे तन्मूलक हैं। गौतम न्यायसूत्र - 3/2/34 में इच्छा, द्वेष आदि को ज्ञान गुण से युक्त आत्मा अर्थात् ज्ञाता का ही गुण बताते हैं। वात्स्यायन इसके भाष्य में कहते हैं कि ज्ञान, इच्छादिकों का एककर्तृकत्व तथा समानाधिकरण्य है। प्रयत्न और विप्रयत्न, प्रवृत्ति और निवृत्ति ज्ञाता के इच्छा और द्वेष के कारण होते हैं और ये सुख और दुःखसाधनत्व के ज्ञान के कारण। वस्तुतः सम्पूर्ण प्रक्रिया एक स्थायी आश्रय की अपेक्षा रखती है, एक ज्ञाता रूप आत्मतत्त्व की अपेक्षा करती है। भोक्ता या कर्त्ता ज्ञाता आत्मा ही है। यहीं एक बात और स्पष्ट होती है कि इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख को अचेतन तत्त्व का गुण नहीं माना गया है, उनको ज्ञाता या चेतन आत्मा का गुण माना गया है।[31] अर्थात् ज्ञान गुण के आश्रय आत्मा के ही ये धर्म हैं, यदि आत्मा में ज्ञान न हो तो ये गुण भी न हों।

जैसा कि पीछे बताया गया है कि न्याय मत में ज्ञान गुण है और गुण गुणी के आश्रित होता है। ज्ञान आत्मा का आश्रित गुण है।[32] गौतम आत्मा के अलग अस्तित्व की अनिवार्यता को सिद्ध करते हुए तर्क देते हैं कि अनुभव एक नित्य और स्थायी अनुभविता की पूर्वापेक्षा रखता है। गौतम न्यायसूत्र के तृतीय अध्याय में इस विषय का उपन्यास करते हुए कहते हैं—दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्।[33] जिस विषय का नेत्र से दर्शन होता है, उसी का हाथ से स्पर्श भी संभव होता है या बहुधा होता ही है। अब इन दो इन्द्रियों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसका ग्रहण करने वाला एक है अथवा दो। वात्स्यायन व्याख्या करते हुए कहते हैं कि यह अनुभवसिद्ध है कि देखने वाला और छूने वाला एक ही व्यक्ति है—यमहमद्राक्षं चक्षुषा तं स्पर्शनेनापि स्पृशामीति, यं चास्पार्क्षं स्पर्शनेन तं चक्षुषा पश्यामि।[34] अर्थात् जो वस्तु देखी जाती है वही बाद में छूई भी जाती है, तभी तो इस तरह की प्रतीति होती है कि जिस वस्तु को मैंने देखा था उसे छू रहा हूँ। इस तरह सूचित होता है कि भिन्न-भिन्न इन्द्रियजन्य ज्ञान एकविषयक और एककर्तृक होते हैं। अर्थात् भिन्न-भिन्न ज्ञानों का आधार, उनका ज्ञाता एक ही है। सूत्रकार का कहना है कि इन्द्रियों से तो उनके-उनके विषय का ही ग्रहण संभव है पर इन सब इन्द्रियों से भिन्न एक चेतना की सत्ता माननी होगी जो इन सबको समवेत रूप से विषय बनाता है। तभी तो हम कह सकते हैं कि पहले किसी चीज को देखने के बाद अब उसके गन्ध का ग्रहण किया जा रहा है। अर्थात् अनुभव के लिये विषय जगत् का जहाँ स्थायित्व आवश्यक है वहीं और देखा जाए तो उसी से एक विषयिता की सत्ता को मानना अनिवार्य हो जाता है, यह काम इन्द्रियाँ नहीं कर सकतीं। इन्द्रियान्तरविकारात[35] सूत्र के भाष्य में

वात्स्यायन कहते हैं कि आम के देखने या सूँघने से मुंह में पानी भर आता है। हम देखते तो हैं आम के रूप को, पर यह पूर्वानुभव के संस्कार से रस या स्वाद का स्मरण दिला देता है। अब यह बात यही सिद्ध करती है कि दर्शन और आस्वादन, इन दोनों क्रियाओं का कर्त्ता एक ही है। पुनः गौतम तर्क देते हैं कि हम बाईं आँख से देखी गयी वस्तु को जब दायीं आँख से देखते हैं तो ऐसा लगता है कि उसी चीज़ को देख रहे हैं।[36] अब यह पूर्व और पर ज्ञान का एक विषय में प्रतिसन्धिज्ञान या प्रत्यभिज्ञान यह सूचित करता है कि आँखें द्रष्टा नहीं हैं, ये तो दृष्टि के कारण या साधन मात्र हैं। इनसे पृथक् कोई स्थायी द्रष्टा या आत्मा अलग है। वस्तुतः न्याय का तर्क यह है कि अलग-अलग ज्ञान एक नित्य और स्थायी ज्ञाता की अपेक्षा रखता है। बिना नित्य और स्थायी आत्मा को माने इन्द्रियजन्य ज्ञानों का संश्लेषण संभव नहीं है। बिना एक नित्य और स्थायी आत्मा के पृथक् अस्तित्व को स्वीकार किये न तो वस्तु सातत्य की व्याख्या हो सकती है, न हमारे व्यवहार की, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति की और न तो ज्ञान एवं स्मृति की व्याख्या हो सकती है। एक ही वस्तु को हम आँख से देखते हैं, हाथ से छूते हैं, और नाक से सूँघते हैं। जिस मित्र को हम आज देखते हैं उसी को कई सालों से देख रहे हैं। अब ये बातें एक नित्य आत्मा रूप ज्ञाता की अपेक्षा रखती हैं। ज्ञान, गौतम कहते हैं कि इन्द्रिय और अर्थ का गुण नहीं है।[37] यह इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ही हो, यह आवश्यक नहीं। इन्द्रियज ज्ञान के नष्ट हो जाने पर भी **मैंने इसे देखा था** इस तरह की स्मृति होती है। अब स्मृति की संभावना यह सिद्ध करती है कि ज्ञान इन्द्रिय और अर्थ का गुण नहीं है, वह आत्मा का गुण है। क्योंकि स्मृति रूप ज्ञान आत्मा और मन के सन्निकर्ष से होता है, इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से नहीं। अस्तु, ज्ञान इन्द्रिय का गुण नहीं हो सकता, इन्द्रिय स्मर्त्ता नहीं हो सकता। द्रष्टा और स्मर्त्ता इन्द्रिय से पृथक् कोई दूसरी सत्ता है जो चेतन और स्थायी है। बिना ज्ञाता के सातत्य या एकता के स्मृति संभव नहीं है। मैं जानता हूँ, मैं जानूँगा और मैं जानता था– ऐसा त्रिकालविषयकज्ञान जिसका स्वधर्म है, ऐसे ही ज्ञातृस्वभाव आत्मा को स्मरण संभव है। अनुभव और स्मृति ऐसे ही स्थायी आत्मा का गुण है।[38] इनकी संभावना के लिये मन, देह, इन्द्रिय एवं अर्थ से व्यतिरिक्त आत्मा को मानना होगा। आत्मा देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, वेदना का संघात मात्र नहीं है, वह इनसे पृथक् एक अलग तत्त्व है। वात्स्यायन कहते हैं "तदेवमनियतपर्यायं सर्वविषयग्रहणमेकचेतनाधिकरणमनन्यकर्तृकं प्रतिसन्धत्ते, प्रत्यक्षानुमानागमसंशयान् प्रत्ययांश्च नानाविषयान् स्वात्मकर्तृकान् प्रतिसन्दधाति, प्रतिसन्धाय वेदयते। सर्वविषयं च शास्त्रं प्रतिपद्यते।"[39] आगे 3/1/14 के भाष्य में कहते हैं "अस्ति एकः सर्वविषयः प्रतिदेहं स्वज्ञानप्रबन्धं स्मृतिप्रबन्धं च प्रतिसन्धत्ते"।[40]

जिस तरह वस्तुओं का ज्ञान या अनुभव एक अनुभविता की अपेक्षा रखता है उसी तरह इस ज्ञान का ग्रहण भी न्याय मत में एक ज्ञाता की अपेक्षा रखता है। ज्ञान का ग्रहण ज्ञान के द्वारा ही न्याय मत में नहीं माना जाता, यह ज्ञाता द्वारा गृहीत होता है।

न्यायसूत्र-3/2/46 से 3/2/55 तक इस मत का निरास किया गया है कि ज्ञान शरीर का गुण है। चार्वाक प्रभृति अनात्मवादियों के अनुसार देह से पृथक् कोई ज्ञाता नहीं है। चैतन्य शरीर का ही गुण है। जिस तरह गुड़, मांड़ आदि के विशेष संयोग से उसमें मादक शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है, उसी तरह भिन्न-भिन्न भौतिक द्रव्यों के विशेष संयोग से चैतन्य की उत्पत्ति हो जाती है—किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत् चैतन्यमुपजायते। शरीर के नष्ट होने पर चैतन्य भी लुप्त हो जाता है। अतः शरीर से भिन्न आत्मा नामक कोई चीज़ नहीं है। वही ज्ञाता है, भोक्ता है। चार्वाक के विरुद्ध न्याय का कहना है कि यदि शरीर में चैतन्य का होना माना जाए तो फिर घट में क्यों नहीं ? क्योंकि जिन भौतिक द्रव्यों से शरीर बना है, उन्हीं से तो घट की भी रचना हुई है। अतः या तो दोनों को जड़ मानना होगा या फिर दोनों को चेतन। अब चूंकि घट में चैतन्य की उपलब्धि नहीं होती है अतः जैसे भौतिक घट अचेतन है, उसी तरह भौतिक शरीर भी अचेतन होना चाहिए—कुम्भादिष्वनुपलब्धेरहेतुः।[41] प्रशस्तपाद भी इसी तर्क को दुहराते हुए कहते हैं कि भौतिक द्रव्यों से बनी वस्तुएँ अचेतन होती हैं घट की तरह।[42] पुनः न्यायवैशेषिक आचार्यों का कहना है कि यदि ज्ञान शरीर का गुण होता तो यह भी रूप, स्पर्श आदि गुणों की तरह यावत्शरीरभावी होता।[43] अर्थात् रूप, स्पर्श आदि गुण जब तक शरीर रहता है तब तक उसमें विद्यमान रहते हैं, परन्तु चेतना के साथ यह स्थिति नहीं है। यह यावत्शरीरभावी नहीं है। प्रशस्तपाद कहते हैं कि मृत शरीर में ज्ञान नहीं होता—मृते चासम्भवात्।[44] अतः चेतना शरीर का गुण नहीं है। अतः रूपादि की तरह यावत्शरीरभावी न होने से चेतना रूपादि की तरह शरीर का गुण नहीं है। पुनः यदि ज्ञान को शरीर का गुण माना जाएगा तो केश, नखादि शारीरिक अवयवों में भी वह पाया जाना चाहिए।[45] परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता। अतः ज्ञान शरीर का गुण नहीं है। और यदि इन शरीर के अवयवों को भी चेतन मान लें तो फिर एक ही शरीर में अनेक ज्ञाताओं की सत्ता माननी होगी और परिणामतः वैयक्तिक अभिन्नता की व्याख्या नहीं हो पायेगी।[46]

श्रीधर न्यायकन्दली में आत्मा के अस्तित्व के लिये प्रमाण देते हुए कहते हैं कि ज्ञान क्रिया है और छेदन क्रिया के समान ही इसके लिये भी कोई आश्रय होना चाहिए— ज्ञानं क्वचिदाश्रितं, क्रियात्वात्, छिदिक्रियावत् यत्रेदमाश्रितं स आत्मा।[47]

यह ज्ञान रूप क्रिया जहाँ पर आश्रित है वही आत्मा है। पुनः चक्षु, श्रोत्र आदि करण का व्यापार देखने से भी एक कर्त्ता का अस्तित्व सिद्ध होता है। जिस तरह छेदन क्रिया बसुली को इंगित करती है, अब यह बसुली जो कि करण है कर्त्ता के द्वारा ही कार्य में प्रवृत्त होता है। इसी तरह एक आत्मा को मानना आवश्यक होगा जो नेत्रादि ज्ञानसाधनों को - करणों को उनकी रूपादि शब्दादि उपलब्धि रूप क्रिया में प्रयुक्त करता है।[48] इस तरह ज्ञान न्याय-वैशेषिक मत में आश्रय के रूप में एक द्रव्य की अपेक्षा रखता है, क्योंकि वह गुण है, और यह द्रव्य आत्मा है। जिस प्रकार रथ को संचालित करने वाला सारथि होता है, उसी प्रकार शरीर को संचालित करने वाला आत्मा है।[49] यह आत्मा सभी इन्द्रियों का प्रयोक्ता है - उपयोग करने वाला है। मन इसका संवादवाहक है जो आत्मा और इन्द्रियों के मध्य में दूत का काम करता है। बुद्धि आत्मा का गुण है। यह बुद्धि या ज्ञान अनित्य है। उसके विषय अस्थायी या स्थायी हो सकते हैं पर इन विषयों का ज्ञान क्षणिक होता है। वात्स्यायन कहते हैं कि ज्ञान अनित्य है, यह बात सभी प्राणियों को अनुभव सिद्ध है– अनित्या बुद्धिरिति सर्वशरीरिणां प्रत्यात्मवेदनीयमेतत्।[50] तृतीय अध्याय के दूसरे आह्निक के **बुद्धेरनित्यत्वपरीक्षाप्रकरण** में तथा उसके बाद के आठ सूत्रों के भाष्य में वात्स्यायन बुद्धि की अनित्यता को भलीभांति व्याख्यायित करते हैं। ज्ञान एक निश्चित संयोग की अपेक्षा से उत्पन्न होता है, अतः यह क्षणिक है और जैसा कि जयन्त ने कहा है "उपलब्धेस्तु वस्तुस्वरूपप्रकाशनमात्रपरिसमाप्तप्रयोजनायाः"[51] वस्तु के प्रकाशन के बाद वह नष्ट हो जाता है तथा अपना संस्कार छोड़ जाता है। इस संस्कार से उत्पन्न हुआ ज्ञान भी क्षणिक होता है। इस तरह ज्ञान अनित्य है, क्षणस्थायी है।

अनित्य होने के साथ ही ज्ञान क्रमभावी है, क्रमिक है। ज्ञान युगपत्भावी नहीं होता है। एक साथ आत्मा को अनेक ज्ञान नहीं होता है। ज्ञान बारी-बारी से ही होता है। भिन्न-भिन्न इन्द्रियों और उनके विषयों के रहते हुए भी उनसे ज्ञान एक साथ नहीं होता, बारी-बारी से ही होता है। अर्थात् ज्ञान एक के बाद एक करके क्रमिक ही होता है। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है जैसा कि न्यायभाष्य[52] में उठाया गया है कि यह तो साफ दिखाई पड़ता है कि एक अध्यापक एक साथ पढ़ता है, चलता है, कमण्डल उठाता है, रास्ता देखता है, जंगल में होने वाला शब्द सुनता है, उनसे डरता है, सांप के निशान को देखना चाहता है...। अध्यापक की ये क्रियायें एक साथ होती दिखाई पड़ती हैं, अतः एक साथ ही अनेक क्रिया और ज्ञान संभव है। इस पर न्यायसूत्र में समाधान दिया गया है कि वस्तुतः यहाँ सारी क्रियायें क्रमिक ही हो रही हैं, पर अलातचक्र की तरह ये सब इतनी झटिति और द्रुतवेग से होती हैं कि विभिन्न अनुभवों में पौर्वापर्य का बोध न होकर यौगपद्य का भ्रम होने लगता है।[53] इस तरह

यह शंका निराधार है कि एक साथ अनेक अनुभव हो सकता है। स्वादिष्ट पूड़ी खाते समय एक साथ उसके रूप, रस, गंध, स्पर्श का अनुभव होता हुआ प्रतीत होता है, पर वस्तुतः यहाँ सारे अनुभव क्रम से ही हो रहे हैं। वस्तुतः यहाँ इतने द्रुतवेग से अनुभव होता है कि उनकी पूर्वापरता का बोध नहीं हो पाता। सिद्धान्तमुक्तावली में शतदलकमल के उदाहरण से इसे बहुत अच्छे ढंग से समझाया गया है। सौ पत्ते वाले कमल में सुई को आर-पार कर देने पर ऐसा लगता है जैसे हमने उसे एक ही बार में छेद दिया, पर क्या वास्तव में ऐसा होता है ? सही स्थिति तो यह है कि एक पत्ते के बाद ही दूसरे पत्ते का छिदना संभव है। हाँ, समय का अंतराल इतना न्यून होता है कि लगता है कि इसका छेदन युगपत् हुआ है।[54] वात्स्यायन न्यायसूत्र-3/2/58 के भाष्य में कहते हैं कि दृष्ट और श्रुत अर्थों को विचारती हुई बुद्धि क्रम से ही प्रवृत्त होती है—एक साथ नहीं। और इससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि ज्ञान क्रमिक होता है। वर्ण, पद, वाक्य और उनका अर्थज्ञान, ये सब इतनी जल्दी-जल्दी होते हैं कि इनके क्रम का ज्ञान नहीं हो पाता और हम समझते हैं कि वे युगपत् होते हैं। वस्तुतः ज्ञान क्रमिक और अयुगपत् होता है।

ज्ञान का यह अयौगपद्य स्वरूप मन की सत्ता को सिद्ध करता है। ज्ञान का क्रमिक और अयुगपत् होना न्याय-वैशेषिक परम्परा में सर्वप्रसिद्ध है। ज्ञान की यह अयुगपदता मन के कारण है : युगपज्ज्ञानानुपत्तिः मनसो लिङ्गम्।[55] केवल इन्द्रिय और अर्थ के ही संयोग से आत्मा में ज्ञान उत्पादित नहीं हो जाता क्योंकि यदि ऐसा होता तो एक साथ ही इन्द्रियों से अनेक ज्ञान—रूप, रस, गन्ध, सबका हो जाए। बल्कि ऐसा होता है कि एक समय में एक ही इन्द्रियज्ञान होता है। ऐसा इसलिये क्योंकि इन्द्रियों से भिन्न एक अन्य पदार्थ है जो भिन्न-भिन्न इन्द्रियज्ञानों को बारी-बारी से आत्मा के समक्ष उपस्थित करता है। भिन्न-भिन्न इन्द्रियों और उनके विषयों के रहते हुए भी एक साथ सभी का ज्ञान न होना यह सिद्ध करता है कि ज्ञानोत्पादन में एक ऐसा सहकारी कारण अपेक्षित है जिसकी अपेक्षा हर इन्द्रिय को रहती है— जिसके संयोग से ही ज्ञान उत्पन्न होता है। यह पदार्थ मन है। यह मन चूंकि एक है और अणु है— इसलिये एक समय में एक ही ज्ञान होता है। इस तरह ज्ञान का अयौगपद्य स्वरूप न केवल मन के अस्तित्व को सिद्ध करता है अपितु उसके अणुत्व और एकत्व को भी सिद्ध करता है।[56] विभु आत्मा तो सब इन्द्रियों के साथ संयुक्त रहता है फिर भी युगपत् ज्ञानोत्पाद नहीं होता है— इसका कारण यह है कि ज्ञान बिना इन्द्रियमनस् सन्निकर्ष के संभव नहीं है—इन्द्रियैर्मनसः सन्निकर्षाभावात् तदनुत्पत्तिः।[57] और मन के अणु तथा एक होने से एक बार में एक ही इन्द्रिय से वह सम्बन्धित हो सकता है फलतः एक ही ज्ञान हो सकता है, अनेक नहीं। इस

तरह ज्ञान की उत्पत्ति के लिये इन्द्रिय, अर्थ और आत्मा का होना ही पर्याप्त नहीं है। बिना मन के आत्मा को ज्ञान नहीं होता—सत्यप्यात्मेन्द्रियार्थसान्निध्ये ज्ञानसुखादिनामभूत्वोत्पत्तिदर्शनात् करणान्तरणमनुमीयते।[58] पुनः जैसा कि वात्स्यायन ने कहा है कि बाह्येन्द्रियाँ स्मृति आदि का निमित्त नहीं बन सकती, स्मृति के लिये किसी अन्य निमित्त की आवश्यकता होगी और वह मन है।[59] प्रशस्तपाद भी भाष्य में कहते हैं कि श्रोत्रादि के व्यापार के न रहने पर भी स्मृति की उत्पत्ति होती है—श्रोत्राद्यव्यापारे स्मृत्युत्पत्ति।[60] वस्तुतः स्मृतिज्ञान नेत्रादि बाह्य इन्द्रियों से उत्पन्न नहीं होता, इसके लिये तो एक आभ्यन्तरिक इन्द्रिय या करण की सत्ता स्वीकार करनी होगी। यही आभ्यन्तरिक करण जिसके द्वारा पूर्वानुभूत विषयों का स्मरण होता है, मन है। पुनः सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, यत्न, ज्ञान का हमें प्रत्यक्ष होता है। अब इन सबका प्रत्यक्ष चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों से संभव नहीं है। इनका ग्रहण मन नामक अन्तःकरण से होता है। प्रशस्तपाद कहते हैं—बाह्येन्द्रियैरगृहीतसुखादिग्राह्यान्तरभावाच्चान्तःकरणम्।[61] इस तरह न्याय-वैशेषिक मत में आत्मा के समान ही मन की भी अपनी स्वतंत्र सत्ता है। आत्मा और मन के अलग-अलग होने के बावजूद आत्मा में ज्ञानोत्पत्ति का कारण मन है। सारा ज्ञान मन नामक अन्तःइन्द्रिय के माध्यम से आत्मा को होता है। मन ही सभी इन्द्रियों का प्रवर्तक है। चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियाँ विषय का जो ग्रहण करती हैं, उसे मन ही आत्मा के पास पहुँचाता है। आभ्यन्तरिक सुख, दुःख आदि का अनुभव सीधे मन के द्वारा ही होता है। मन अन्तरिन्द्रिय तो है ही, साथ ही वह बाह्य इन्द्रियों का अनुग्राहक भी है। वस्तुतः मन ही समस्त ज्ञान का कारण है।[62] मन के अणु होने से उसका ध्यान एक समय में एक ही विषय पर केन्द्रित रह सकता है। किन्तु उसकी गति बिजली से भी तेज होती है। इस कारण इससे जो अनुभव प्राप्त होता है, वह इतना जल्दी-जल्दी, कि लगता है अनुभव बारी-बारी से न होकर युगपत् हो रहे हैं। यह मन करण है, साधन है सुखादि आभ्यन्तर पदार्थ के ज्ञान का, अतः इसका ज्ञाता और कर्त्ता कोई और होगा, और वह आत्मा है। करण होने के कारण ही वह दूसरों के उपयोग का साधन है, परार्थ है—करणभावात्परार्थम्।[63] गौतम न्यायसूत्र में इस बात का खण्डन करते हैं कि ज्ञान मन का गुण है—युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेश्च न मनसः।[64] वात्स्यायन व्याख्या करते हुये कहते हैं कि ज्ञान मन का गुण न होकर ज्ञाता आत्मा का गुण है क्योंकि ज्ञाता ही स्वतंत्र है और ज्ञान का करण या साधन मन उसके अधीन है। यदि ज्ञान मन का गुण हो जाएगा तो मन का साधनत्व नष्ट हो जाएगा, वह आत्मा के समान स्वतंत्र और ज्ञाता हो जाएगा, करण नहीं रह जाएगा।[65] इस तरह मन करण होने से चेतन नहीं है। श्रीधर न्यायकन्दली में कहते हैं कि मन घटादि के समान करण है इसलिये वह अचेतन है, पुनः श्रीधर कहते हैं कि लोष्टवत्

मूर्त होने से भी वह चेतन नहीं है। इस तरह मन चेतन नहीं है।[66] वह ज्ञान का आश्रय न होकर उसका उपकरण या साधन है। मन उपकरण है आत्मा का जिसके द्वारा उसे आभ्यन्तर वस्तुओं का ज्ञान होता है और स्मृति होती है। न्यायसूत्र - 3/2/38 में कहा गया है कि परतंत्र होने से मन चेतन नहीं हो सकता।[67] वात्स्यायन कहते हैं कि मन भी इन्द्रिय और अर्थ के समान अन्य द्वारा निर्दिष्ट और प्रयोज्य होकर ही धारण, प्रेरण और व्यूहन (संग्रह) क्रियाओं में प्रवृत्त होता है। अन्य के प्रयत्न से ही वह अपना व्यापार कर पाता है, अतः उसमें चेतना नहीं है।[68] यदि मन को भी चेतन माना जाए तो वह भी आत्मा के समान स्वतंत्र हो जाएगा। इस तरह मन स्वतंत्र न होने से चेतन नहीं है। ज्ञान, इच्छा आदि स्वतंत्र पदार्थ के ही धर्म हो सकते हैं। जो प्रयोज्य और पराश्रित है वह ज्ञान आदि का आश्रय नहीं हो सकता— प्रयोजकाश्रिता ज्ञानेच्छाद्वेषप्रयत्नाः, वह प्रयोजक का ही आश्रित होता है।[69] और यदि मन को भी चेतन और स्वतंत्र मान लिया जाएगा तो एक ही शरीर के आत्मा और मन दो-दो अधिष्ठाता हो जायेंगे किन्तु शरीर की प्रवृत्ति और निवृत्ति ये दोनों एक ही व्यक्ति के अनुरोध से देखी जाती हैं। अतः मन भी आत्मा के समान चेतन नहीं हो सकता—साधारणविग्रहवत्त्वप्रसंगादज्ञत्वम्।[70] दोनों को ही चेतन मान लेने पर यह समस्या हो जाएगी कि किस ज्ञान का सम्बन्ध आत्मा से है और किस का मन से। एक ही शरीर में अनेक अधिष्ठातृत्व और ज्ञातृत्व प्रसंग होगा। अस्तु, ज्ञान मन का गुण नहीं है, वह आत्मा का ही गुण है।

संदर्भ एवं टिप्पणी

1. पुरुषधर्मः खल्वयम्—ज्ञानं दर्शनमुपलब्धिर्बोधः प्रत्ययोऽध्यवसाय इति।
   वात्स्यायन, न्यायभाष्य, 3/2/3.
   प्रतीतिः, अवगमः, विज्ञानम्—इत्यादिशब्दानामपि अर्थभेदकल्पनायां किं वक्तव्यम् ?
   तत्राप्येतदेवोत्तरम्—पर्यायशब्द एव एते इति।
   भासर्वज्ञ, न्यायभूषण, पृ. 439.
   बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानं प्रत्यय इति पर्यायाः।
   प्रशस्तपादभाष्य, पृ. 410.
2. वल्लभ, न्यायलीलावती, सं. पण्डित हरिहर शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरिज ऑफिस, वाराणसी, 1991, पृ. 408.
3. चितिर्नामार्थविज्ञानं कादाचित्कन्तु तस्य तत्।।
   नार्थसंवेदनादन्यच्चैतंन्यं नाम विद्यते।
   जयन्तभट्ट, न्यायमञ्जरी (तृतीय भाग), पृ. 6-7.
4. तस्मात् निराकारं ज्ञानमर्थमात्मनो भिन्नं गोचरयतीति वाच्यम्।
   वाचस्पति मिश्र, न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, सं. अनन्त लाल ठाकुर, आई. सी. पी. आर.,

नई दिल्ली, 1997, पृ. 125.

5. अर्थप्रकाशो वा बुद्धिः। केशव मिश्र, तर्कभाषा, पृ. 318.
6. अर्थप्रकाशात्मैव खलूपलम्भः।
   जयन्तभट्ट, न्यायमञ्जरी (तृतीय भाग), पृ. 51.
7. गौतम, न्यायसूत्र, 1/1/15.
8. बी. के. मतिलाल, परशेप्सन, पृ. 131.
9. देखें, न्यायसूत्र का 3/2/1 से 3/2/9 तक बुद्धेरनित्यत्वपरीक्षाप्रकरण।
   साथ ही देखें, जयन्तभट्टकृत न्यायमञ्जरी (द्वितीय भाग) का पृ. 296 से 298 तक।
10. सा द्विविधा—स्मृतिरनुभवश्च।
    अन्नंभट्ट, तर्कसंग्रह, सं. केदारनाथ त्रिपाठी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1991, पृ. 20.
11. ज्ञानाधिकरणमात्मा।
    अन्नंभट्ट, तर्कसंग्रह, पृ. 10.
12. जयन्तभट्ट, न्यायमञ्जरी (प्रथम भाग), पृ. 28.
13. देखें, वहीं, पृ. 29-32.
14. परिशेषाद्यथोक्तहेतूपपत्तेश्च।
    गौतम, न्यायसूत्र, 3/2/39.
    परिशेषादात्मकार्य्यत्वात्तेनात्मा समधिगम्यते।
    प्रशस्तपादभाष्य, पृ. 175.
15. अग्निघटसंयोगजरोहितादि गुणवद्।
16. बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनाशब्दा अमूर्त्तगुणाः।
    प्रशस्तपादभाष्य, पृ. 229.
    यहाँ द्रष्टव्य है कि अमूर्त द्रव्य के आश्रित होने से ज्ञान की गणना भले ही अमूर्त गुणों के रूप में किया जाए लेकिन एक दृष्टि से देखा जाए तो स्वयं विशिष्ट होने से उसे सामान्य या अमूर्त नहीं कहा जा सकता।
17. एवं हि सांख्याः सङ्गिरन्ते 'बुद्धिरन्या ज्ञानमन्यदुपलब्धिरन्या'
    इति तद्भ्रमापनयनायैवमुच्यते 'बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्'।
    जयन्तभट्ट, न्यायमञ्जरी (द्वितीय भाग), पृ. 283.
18. इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्।
    गौतम, न्यायसूत्र, 1/1/10.
19. बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावना आत्ममनःसंयोगजाः।
    श्रीधर, न्यायकन्दली, पृ. 238.
20. सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नैश्च गुणैर्गुण्यनुमीयते।
    प्रशस्तपादभाष्य, पृ. 202.
21. उद्योतकर, न्यायवार्त्तिक, सं. श्रीनिवास शास्त्री, इण्डो-विजन प्राइवेट लिमिटेड, गाजियाबाद, 1986, पृ. 156.
22. बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नास्त्वन्तःकरणग्राह्याः।
    प्रशस्तपादभाष्य, पृ. 232.

23. तस्मान्न बोधरूपाः सुखादयः।
जयन्तभट्ट, न्यायमञ्जरी (प्रथम भाग), पृ. 118.
24. सुखादिनामपि ज्ञानस्वभावत्वात्। ज्ञानस्यैवामी भेदाः सुखं दुःखमिच्छा द्वेषः प्रयत्न इति।
जयन्तभट्ट, न्यायमञ्जरी (प्रथम भाग), पृ. 116.
25. देखें, न्यायसूत्र—1/1/4 पर न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका और परिशुद्धि।
26. जयन्तभट्ट, न्यायमञ्जरी (प्रथम भाग), पृ. 116-118.
27. तस्मात् सर्वं सुखादिज्ञानपूर्वकमेव।
जयन्तभट्ट, न्यायमञ्जरी (प्रथम भाग) पृ. 119.
28. बुद्धिकार्यत्वात् सुखम्...।
श्रीधर, न्यायकन्दली, पृ. 631.
29. ज्ञानत्वे चेच्छादिव्यावृत्तस्वभावस्य विषयप्रवणत्वमपेक्षितमिति।
वल्लभ, न्यायलीलावती, पृ. 812-14.
तस्मादर्थप्रवणेभ्यो ज्ञानेभ्यस्तदप्रवणतया भिन्नजातीयः सुखादयाः।
वाचस्पति मिश्र, न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, सं. अनन्तलाल ठाकुर, आई. सी. पी. आर., नई दिल्ली, 1997, पृ. 99.
30. शंकर मिश्र, न्यायलीलावतीकण्ठाभरण, सं. पण्डित हरिहर शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरिज ऑफिस, वाराणसी, 1991, पृ. 812.
31. तस्माद् ज्ञस्येच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखानि धर्माः, नाचतेनस्येति।
वात्स्यायन, न्यायभाष्य, सं. स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, बौद्ध भारती, वाराणसी, 1989, पृ. 244.
32. गौतम, न्यायसूत्र, 1/1/10.
33. गौतम, न्यायसूत्र, 3/1/1.
34. वात्स्यायन, न्यायभाष्य, पृ. 176.
35. गौतम, न्यायसूत्र, 3/1/12.
36. सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात्।
गौतम, न्यायसूत्र, 3/1/7.
37. नेन्द्रियार्थयोः, तद्विनाशेऽपि ज्ञानावस्थानात्।
गौतम, न्यायसूत्र, 3/2/18.
38. स्मरणं त्वात्मनो ज्ञस्वाभाव्यात्।
गौतम, न्यायसूत्र, 3/2/40.
39. वात्स्यायन, न्यायभाष्य, पृ. 178.
40. देखें, वहीं, पृ. 186.
41. गौतम, न्यायसूत्र, 3/2/38.
42. न शरीरस्य चैतन्यं, घटादिवद् भूतकार्य्यत्वात्।
प्रशस्तपादभाष्य, पृ. 171.
43. यावच्छरीरभावित्वाद्रूपादीनाम्।
गौतम, न्यायसूत्र, 3/2/47.
चैतन्यं शरीरस्य विशेषगुणो न भवति, अयावद्द्रव्यभावित्वात् संयोगवत्।

श्रीधर, न्यायकन्दली, पृ. 172.

44. प्रशस्तपादभाष्य, पृ. 171.

45. न, केशनखादिष्वनुपलब्धेः।
गौतम, न्यायसूत्र, 3/2/51.

46. एकस्मिन् शरीरे ज्ञातृबहुत्वञ्च प्राप्नोति।
श्रीधर, न्यायकन्दली, पृ. 172.

47. श्रीधर, न्यायकन्दली, पृ. 169.

48. वास्यादीनां करणानां कर्तृप्रयोज्यत्वदर्शनात्।
प्रशस्तपादभाष्य, पृ. 168.
यत्करणं तत् केनचित् कर्त्रा प्रयुज्यते कार्ये व्यापार्यते, यथा वास्यादिकं वर्धकिणा। करणञ्च श्रोत्रादिकं तस्मात् केनचित् प्रयोक्तव्यं य एषां प्रयोक्ता स आत्मा।
श्रीधर, न्यायकन्दली, पृ. 168-169.

49. शरीरसमवायिनीभ्याञ्च हिताहितप्राप्तिपरिहारयोग्याभ्यां प्रवृत्तिनिवृत्तिभ्यां रथकर्म्मणा सारथिवत् प्रयत्नवान् विग्रहस्याधिष्ठातानुमीयते, प्राणादिभिश्चेति।
प्रशस्तपादभाष्य, पृ. 199.

50. वात्स्यायन, न्यायभाष्य, पृ. 237.

51. जयन्तभट्ट, न्यायमञ्जरी (द्वितीय भाग), पृ. 297.

52. वात्स्यायन, न्यायभाष्य, पृ. 261.

53. अलातचक्रदर्शनवत् तदुपलब्धिराशुसञ्चारात्।
गौतम, न्यायसूत्र, 3/2/58.

54. न च दीर्घशष्कुलीभक्षणादौ नानावधानभाजां च कथमेकदाऽनेकेन्द्रियजन्यं ज्ञानमिति वाच्यम, मनसोऽतिलाघवात् झटिति नानेन्द्रियसम्बन्धान्नानाज्ञानोत्पत्त्या उत्पलशतपत्रभेदादिव यौगपद्यप्रत्ययस्य भ्रान्तत्वात्।
विश्वनाथ पञ्चानन, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, सं. श्रीकृष्णवल्लभाचार्य, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1990, पृ. 362.

55. गौतम, न्यायसूत्र, 1/1/16.

56. ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः।
गौतम, न्यायसूत्र, 3/2/56.
यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु।
गौतम, न्यायसूत्र, 3/2/59.

57. गौतम, न्यायसूत्र, 3/2/21.

58. प्रशस्तपादभाष्य, पृ. 216.

59. अनिन्द्रियनिमित्ताः स्मृत्यादयः करणान्तरनिमित्ता भवितुमर्हन्तीति।
वात्स्यायन, न्यायभाष्य, पृ. 32.

60. प्रशस्तपादभाष्य, पृ. 216.

61. वहीं, पृ. 218.

62. केशव मिश्र, तर्कभाषा, पृ. 259.

63. प्रशस्तपादभाष्य, पृ. 226.

64. गौतम, न्यायसूत्र, 3/2/19.
65. गुणो ज्ञानम्...ज्ञस्य, वशित्वात्। वशी ज्ञाता, वश्यं करणं, ज्ञानगुणत्वे वा करणभावनिवृत्तिः।
वात्स्यायन, न्यायभाष्य, पृ. 235.
66. मनश्चेतनं न भवति करणत्वाद् घटादिवदिति।...अचेतनं मनो मूर्त्तत्वाल्लोष्टवत्।
श्रीधर, न्यायकन्दली, पृ. 175.
67. यथोक्तहेतुत्वात् पारतन्त्र्यादकृताभ्यागमाच्च न मनसः।
गौतम, न्यायसूत्र, 3/2/38.
68. परतन्त्राणि भूतेन्द्रियमनांसि धारणप्रेरणव्यूहनक्रियासु प्रयत्नवशात् प्रवर्तन्ते, चैतन्ये पुनः स्वतन्त्राणि स्युरिति।
वात्स्यायन, न्यायभाष्य, पृ. 247.
69. वात्स्यायन, न्यायभाष्य, पृ. 246.
70. प्रशस्तपादभाष्य, पृ. 225.

❒

2

अनुव्यवसायवाद : ज्ञान की परप्रकाशता सम्बन्धी न्याय-वैशेषिक मत

न्याय-वैशेषिक दार्शनिक ज्ञान को स्वप्रकाश नहीं मानते हैं। उनके अनुसार ज्ञान परप्रकाशक है। ज्ञान स्वभावतः अर्थविषयक होता है तथा उसका कार्य अन्य पदार्थों का प्रकाशन है। ज्ञान विषय को प्रकाशित करता है, स्वयं को नहीं। अर्थात् ज्ञान बिना स्वयं को प्रकाशित किये ही विषय को प्रकाशित कर देता है। न्याय-दर्शन के अनुसार जब हमें वस्तु का ज्ञान होता है तो पहले तो सिर्फ वस्तु का ज्ञान होता है जिसका रूप 'अयं घटः' 'अयं पटः' इत्याकारक होता है। यह ज्ञान मात्र ज्ञेय विषयक होता है और ज्ञेय विषय का ही प्रकाशन करता है, इसे न्याय परम्परा में **व्यवसाय** कहा जाता है। बाद में इस घटज्ञान, पटज्ञान रूप व्यवसायज्ञान का ज्ञान मानस प्रत्यक्ष द्वारा होता है जिसे नैयायिक **अनुव्यवसाय** कहते हैं। इस अनुव्यवसाय में हमें अपने ज्ञान का ज्ञान होता है। यह बाद में होने वाला ज्ञान जिसे अनुव्यवसाय कहा जाता है, व्यवसाय विषयक होता है तथा वस्तुविषयक हमारा ज्ञान इसी के द्वारा प्रकाशित होता है। अर्थात् ज्ञान स्वप्रकाश न होकर परप्रकाश है तथा वह अनुव्यवसाय द्वारा प्रकाशित होता है। इस तरह नैयायिकों के अनुसार ज्ञाता का ज्ञेय से सम्पर्क होने पर जो प्रथम ज्ञान उत्पन्न होता है उसमें मात्र ज्ञेय का, विषय का प्रकाशन होता है और उसका विमर्श अयं घटः, अयं पटः इस रूप में होता है और बाद में इस ज्ञान का ज्ञान एक दूसरे ज्ञान अनुव्यवसाय रूप मानस प्रत्यक्ष से होता है जिसका विमर्श 'घटज्ञानवान् अहं' 'पटज्ञानवान् अहं' इत्याकारक होता है।[1]

न्याय-वैशेषिक दार्शनिकों के विपरीत प्राभाकर, बौद्ध और अद्वैती सभी इस विषय में एकमत हैं कि ज्ञान के ज्ञान के लिये किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। ज्ञान स्वप्रकाश होता है। ज्ञान न केवल विषय को प्रकाशित करता है अपितु वह स्वयं अपना भी प्रकाशक होता है। ज्ञान दीपक के समान है जिसको प्रकाशित करने के लिये अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। ज्ञाता को ज्ञान हो

और उसे उसका ज्ञान न हो, यह असंभव है। ज्ञान एक क्षण भी अज्ञात नहीं रहता। जो स्वयं अज्ञात है वह भला दूसरे को कैसे प्रकाशित कर सकता है। प्रभाकर कहते हैं कि ज्ञान का आकार 'अयं घटः' इत्याकारक मात्र नहीं होता है वह 'घटमहं जानामि' इस ढंग का होता है। ज्ञान का तात्पर्य विषय का प्रकाशन ही नहीं अपितु ज्ञाता को इस ज्ञान का प्रकाशन होना है। यह संभव नहीं है कि ज्ञान की उत्पत्ति हो और उसकी ज्ञप्ति न हो और वह एक पल के लिये भी ज्ञाता को अज्ञात रहे।[2] अद्वैतियों का कहना है कि ज्ञान चेतना है और चेतना स्वभावतः स्वयंप्रकाश होती है। वह कोई जड़ चीज़ नहीं है जिसके प्रकाशन के लिये उससे भिन्न (ज्ञान) की आवश्यकता होगी। इसी तरह बौद्धों का कहना है कि ज्ञान न केवल विषयसंवेदन या अर्थसंवेदन होता है अपितु वह स्वसंवेदनरूप भी होता है, आत्मसंवेदन भी होता है।[3]

न्यायमत में ज्ञान अनात्मसंवदेन है। वह अपने से पृथक् किसी अन्य अर्थ का प्रकाशन है।[4] वस्तुओं को प्रकाशित होने के लिये उसका ज्ञेय विषय होना आवश्यक है। फलतः ज्ञान भी स्वयं विषय होकर ही किसी अन्य ज्ञान द्वारा प्रकाशित हो सकता है। ज्ञान चूँकि आत्मा का गुण है अतः बाह्य विषयों के समान वह बाह्य प्रत्यक्ष का विषय न होकर आन्तर प्रत्यक्ष का विषय है। सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, यत्न और ज्ञान न्याय-वैशेषिक परम्परा में आत्मा के गुण हैं और इन आत्मगुणों का मानस प्रत्यक्ष होता है। प्रशस्तपाद भाष्य में कहते हैं कि—बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नास्त्वन्तःकरणग्राह्याः। इसी तरह न्यायसूत्र-2/1/19 के भाष्य में वात्स्यायन कहते हैं—इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मसमवायाच्च सुखादिवद् गृह्यते। न्याय-वैशेषिक परम्परा में सुख, दुःख ज्ञान आदि को मन या अन्तःकरण का धर्म नहीं माना गया है, वे आत्मा के धर्म हैं। आत्मा का गुण होने के बावजूद ज्ञान आदि का ज्ञान आत्मा को सीधे नहीं होता। आत्मा को इनका ज्ञान मन नामक अन्तःकरण से ही होता है। प्रशस्तपाद मन के अस्तित्व के लिये तर्क देते हुए कहते हैं कि आत्मा के गुणों का ज्ञान चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों से संभव न होने के कारण कोई अन्तःकरण जैसी चीज़ होनी चाहिए।[5] आत्मा को बाह्य वस्तुओं के ज्ञान के लिये जैसे बाह्य इन्द्रियों की आवश्यकता होती है उसी तरह आन्तर विषयों के लिये भी अन्तरिन्द्रिय मन की अपेक्षा होती है। बिना मन से सन्निकर्ष के उनका ज्ञान संभव नहीं है। आत्मा में समवाय सम्बन्ध से स्थित ज्ञान आदि उसके गुणों का प्रत्यक्ष मन से उनके सम्बन्ध होने पर होता है। पर मन से इनका सम्बन्ध साक्षात् संयोग का नहीं होता, इनका सम्बन्ध असाक्षात् होता है अर्थात् संयुक्त समवाय का। सुख, दुःख, ज्ञान आदि आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं और आत्मा का मन से संयोग होता है। इसी तरह सुख सामान्य, दुःख सामान्य या ज्ञान सामान्य का ज्ञान—आत्मा में रहने वाले इन

गुणों के सामान्य का ज्ञान संयुक्त समवेत समवाय सन्निकर्ष से होता है। दूसरी ओर आत्मा का ज्ञान मन से साक्षात् संयोग के कारण ही हो जाता है। आत्मद्रव्य का मन नामक द्रव्य से संयोग होता है और आत्मा का मानसप्रत्यक्ष होता है।[6] जैसा कि पीछे हमने देखा कि ज्ञान का ज्ञान न्यायमत में अनुव्यवसाय रूप मानसप्रत्यक्ष से होता है। ज्ञान स्वभावतः परप्रकाशक है और वह विषयोन्मुख होता है तथा विषय को प्रकाशित करता है न कि स्वयं को। यद्यपि ज्ञान स्वयं अपने को विषय नहीं बनाता है पर न्याय-वैशेषिक दार्शनिक यह स्वीकारते हैं कि ज्ञाता को जब किसी वस्तु का ज्ञान होता है तो उसे अपने इस ज्ञान का भी ज्ञान होता है। न्याय-वैशेषिक दार्शनिकों के अनुसार ज्ञाता को जो अपने इस ज्ञान का ज्ञान होता है वह एक दूसरा ज्ञान है जिसे वे अनुव्यवसाय कहते हैं। इस तरह उनके मत में वस्तु का ज्ञान एक चीज़ है और उस ज्ञान का ज्ञान दूसरी। प्रथम को जहाँ व्यवसाय कहा गया वहीं दूसरे को अनुव्यवसाय। व्यवसाय में मात्र ज्ञेय विषय का प्रकाशन होता है जबकि अनुव्यवसाय में इस ज्ञान का ज्ञान होता है। इस तरह न्यायमत में भी ज्ञाता को ज्ञान का ज्ञान होता है, वहाँ भी ज्ञान होने का कोई महत्त्व नहीं यदि उस ज्ञान का ज्ञान भी ज्ञाता को न हो। पर ये दोनों दो अलग-अलग ज्ञान हैं जो उत्तरोत्तरभावी हैं। पहले वस्तुओं का ज्ञान होता है जो कि व्यवसाय है और जिसका रूप **यह घट है, यह पट है** इस ढंग का होता है। और तुरंत इसके बाद इस ज्ञान का ज्ञान होता है, मानस प्रत्यक्ष होता है जो कि अनुव्यवसाय कहलाता है और उसका रूप **मैं घट जानता हूँ, मैं पट जान रहा हूँ** इस ढंग का होता है। यह अनुव्यवसाय व्यवसाय के तुरंत बाद होता है अर्थात् पहले वस्तु का ज्ञान होता है और उसके तुरन्त बाद उस ज्ञान का ज्ञान ज्ञाता को होता है। ये दोनों ज्ञान एक के बाद इतने झटित और स्वाभाविक रूप से होते हैं कि ऐसा लगता है जैसा कि प्रभाकर समझते हैं कि यह एक ही ज्ञान है। पर वस्तु का ज्ञान और उस ज्ञान का ज्ञान, व्यवसाय और अनुव्यवसाय ये दोनों वस्तुतः दो अलग-अलग ज्ञान हैं। ये दोनों ज्ञान एक दूसरे से भिन्न हैं और उत्तरोत्तरक्रमभावी हैं। ये इतने झटित रूप से एक के बाद होते हैं कि लगता है कि ये दोनों एक ही ज्ञान हैं तथा ज्ञान न केवल विषय को अपितु स्वयं को भी प्रकाशित कर रहा है। पर वस्तुतः विषय को प्रकाशित करता है व्यवसाय और उसके ज्ञान को अनुव्यवसाय प्रकाशित करता है। सामान्य स्थिति में अर्थात् यदि कोई प्रतिकूल परिस्थिति नहीं हो तो वस्तु के ज्ञान के बाद (व्यवसाय के बाद) उस ज्ञान का ज्ञान अनुव्यवसाय नामक मानस प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञाता को होता ही है। इस तरह न्याय मत में ज्ञान स्वप्रकाश नहीं है। ज्ञान का ज्ञान अनुव्यवसाय नामक मानस प्रत्यक्ष द्वारा होता है।[7]

यहाँ यह ध्यातव्य है कि न्याय मत में ज्ञान का ग्रहण और उसके प्रमात्व या प्रामाण्य का ग्रहण अलग-अलग होता है।[8] दूसरी ओर मीमांसा मत में जिस साधन से जो ज्ञान ज्ञात होता है उसी साधन से उस ज्ञान के प्रामाण्य का भी ग्रहण होता है, वह भी ज्ञात होता है। ज्ञान के प्रामाण्य का ग्राहक ज्ञान के ग्राहक से भिन्न नहीं होता। न्यायमत में परिणामतः होता यह है कि ज्ञान होने पर ज्योंहि मनुष्य को अपने इस ज्ञान का ज्ञान होता है त्योंहि वह उस वस्तु के ग्रहण या त्याग के लिये प्रवृत्त हो जाता है। वस्तुतः नैयायिक मानते हैं कि प्रवृत्ति के लिये मात्र ज्ञाता को अपने ज्ञान का संज्ञान होना अपेक्षित है, उस ज्ञान के प्रमात्व या प्रामाण्य का ज्ञान होना जरूरी नहीं है। दूसरी ओर मीमांसकों के अनुसार प्रवृत्ति के लिये ज्ञान मात्र का ही अवधारण नहीं बल्कि उसके प्रामाण्य का अवधारण भी अनिवार्यतः अपेक्षित है। मीमांसकों (भाट्ट मत) के अनुसार किसी वस्तु का ज्ञान होने पर तुरन्त मनुष्य की प्रवृत्ति नहीं होती। पहले उस वस्तु में ज्ञातता की प्रतीति होती है, फिर ज्ञातता की अन्यथा अनुपपत्ति से ज्ञान का अर्थापत्ति रूप अथवा अनुमिति रूप ज्ञान होता है। यह ज्ञान ज्ञातता के कारणभूत ज्ञान का तो ग्रहण करता ही है—उसके प्रामाण्य को भी अपना विषय बनाता है। इसी ज्ञान से वस्तु के ग्रहण अथवा त्याग हेतु मनुष्य की प्रवृत्ति होती है। इस तरह सदैव वस्तु के विषय में प्रवृत्ति के पूर्व ही न केवल उसका ज्ञान पूर्वापेक्षित है अपितु उसके प्रामाण्य का अवधारण भी। अर्थात् प्रवृत्ति मात्र ज्ञानपूर्वक ही नहीं अपितु प्रमाणज्ञान पूर्वक होती है। मीमांसा मत में जिस साधन से जो ज्ञान ज्ञात होता है उसी साधन से उस ज्ञान का प्रामाण्य भी गृहीत होता है। प्रामाण्य के ज्ञान में ज्ञानग्राहक से अतिरिक्त ज्ञान की अपेक्षा न होना ही प्रामाण्य का स्वतस्त्व है - स्वतोग्राह्यत्व है। अतः न केवल ज्ञाता को अपने ज्ञान की चेतना होती है अपितु उसके प्रमात्व का भी निश्चय होता है और तदोपरान्त ही वह अपने ज्ञान के विषयभूत पदार्थ के ग्रहण अथवा त्याग के लिये प्रवृत्त होता है। दूसरी ओर न्याय मत में ज्ञान होने और अनुव्यवसाय द्वारा उसके गृहीत होते ही मनुष्य की सद्यःप्रवृत्ति हो जाती है, प्रवृत्ति के पूर्व उस ज्ञान में प्रामाण्य के अवधारण की अनिवार्य अपेक्षा नहीं रहती। कोई मनुष्य जल आदि के ज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय होने पर उसके ग्रहण या त्याग आदि के लिये प्रयत्नशील हो सकता है और कोई जल आदि के ज्ञान में प्रामाण्य के संदेह की दशा में भी होने पर उसके ग्रहण आदि के लिये प्रयत्नशील हो सकता है। अर्थात् प्रामाण्य का अवधारण प्रवृत्ति के पूर्व अनिवार्य नहीं है और न ही ज्ञान और प्रामाण्य का ग्रहण एक ही ज्ञान से होता है। न्याय मत में तो ज्ञान का ज्ञान अलग ढंग से होता है और उसके प्रामाण्य का ज्ञान अलग ढंग से तथा प्रवृत्ति के लिये मात्र प्रथम ही अपेक्षित है, द्वितीय तो स्वयं इस प्रवृत्ति की

सफलता या विफलता से अनुमित होती है। ज्ञान का ज्ञान अनुव्यवसाय रूप मानस प्रत्यक्ष से होता है जबकि उसके प्रामाण्य का ज्ञान अनुमान से होता है। पहले पदार्थ का ज्ञान मात्र ही होता है और उस ज्ञात अर्थ के विषय में मनुष्य की प्रवृत्ति होती है और जब ज्ञात अर्थ का लाभरूप कार्य सम्पन्न हो जाता है तब प्रवृत्तिसामर्थ्य से ज्ञान में प्रामाण्य का अवधारण होता है। अर्थात् ज्ञान के ग्रहण के साथ ही प्रामाण्य भी स्वतः नहीं गृहीत होता है, वह बाद में, प्रवृत्ति साफल्य या वैफल्य के द्वारा अनुमित होता है।[9] एक दूसरे दृष्टि से देखा जाए तो नैयायिकों का परतःप्रामाण्यवाद उनके परतःप्रकाशवाद के सिद्धान्त का अनिवार्य उपफल है। यदि ज्ञान पर प्रकाशक है और वह स्वप्रकाश नहीं है तथा स्वयं को नहीं गृहीत करता परिणामतः वह अपने प्रामाण्य का भी ग्रहण नहीं कर सकता, उसका ज्ञान दूसरे ज्ञान द्वारा ही हो सकता है।

जैसा कि पीछे बताया गया है यह सही है कि न्याय-वैशेषिक मत में यद्यपि ज्ञान स्वप्रकाश नहीं है फिर भी व्यक्ति को जब किसी वस्तु का ज्ञान होता है तब परवर्ती अनुव्यवसाय द्वारा उसे उसका मानस प्रत्यक्ष होता है अर्थात् अपने ज्ञान का ज्ञान होता है। ज्ञान न्याय मत में एक प्रत्यक्ष योग्य विषय है और ज्ञान का प्रत्यक्ष मानस प्रत्यक्ष है जिसे अनुव्यवसाय कहा जाता है और यह अनुव्यवसाय व्यवसाय के बाद तुरन्त होता है अर्थात् वस्तु के ज्ञान के बाद उस ज्ञान का ज्ञान होता है। सामान्यतः हर व्यवसाय ज्ञान अनुव्यवसाय द्वारा गृहीत होता है। पर यह आवश्यक नहीं है कि हर एक ज्ञान के बाद उस ज्ञान का ग्रहण हो ही। गंगेश तत्त्वचिन्तामणि में इस बात को स्वीकार करते हैं कि यह आवश्यक नहीं कि हर ज्ञान का ज्ञान हो ही।[10] हो सकता है कि कुछ ज्ञान ज्ञात न हों, वे अज्ञात ही रह जायें। अब उपर्युक्त सिद्धान्त का परिणाम यह होता है कि न्याय मत में यह जरूरी नहीं कि 'क' को कोई ज्ञान हो और 'क' को उस ज्ञान का ज्ञान हो ही। अर्थात् यह अनिवार्य नहीं कि व्यक्ति को होने वाले हर ज्ञान का ज्ञान उस व्यक्ति को हो ही। ऐसी स्थिति संभव होती है जिसमें यह कहा जाए कि 'क' को कोई ज्ञान हुआ पर 'क' इस ज्ञान से अपरिचित रहा। ज्ञाता को ज्ञान तो हो पर स्वयं ज्ञाता उससे अज्ञात रहे। इस तरह न्याय-वैशेषिक मत में ज्ञान का अज्ञात रहना संभव रहता है। अब यही व्याधाती स्थिति स्वप्रकाशवादियों के लिये अपने पक्ष में सबसे बड़ा तर्क बनकर उभरता है। बौद्ध आचार्य प्रश्न उठाते हैं कि यदि ज्ञान स्वयं ज्ञात नहीं हो तो वह भला अर्थ का प्रकाशन कैसे कर सकता है--अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिध्यति।[11] अप्रत्यक्षभूत विज्ञान के द्वारा बाह्यार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता है। क्या ज्ञान बिना स्वयं को जाने हुए अर्थ का प्रकाशन कर सकता है ? नैयायिक इस बात में कोई विरोध नहीं देखते हैं और कहते हैं कि ज्ञान चक्षु की तरह है जो वस्तु को तो प्रकाशित करता है पर

स्वयं को नहीं। ज्ञान स्वभावतः पराभिमुख और अर्थविषयक होता है। यहाँ एक बात ध्यान में रखना आवश्यक है। यद्यपि नैयायिक ज्ञान होने का तात्पर्य अर्थप्रकाशन मानते हैं तथा इसके लिये स्वयं ज्ञान का गृहीत होना अनिवार्य नहीं मानते हैं फिर भी वे भी मानते हैं कि किसी वस्तु का ज्ञान होते ही उस ज्ञान का ज्ञान ज्ञाता को परवर्ती अनुव्यवसाय द्वारा सामान्यतः होता ही है। वस्तुविषयक व्यवहार के लिये ज्ञाता को न केवल उसका ज्ञान होना अपेक्षित होता है अपितु उस ज्ञान का भी ज्ञान होना जरूरी होता है। इस दृष्टि से देखा जाए तो नैयायिक भी हर ज्ञान के साथ 'मैं जानता हूं', इस रूप में उत्तरवर्ती विमर्श की अपेक्षा स्वीकार करते हैं। वस्तुतः वस्तुओं का ज्ञान यदि ज्ञाता को प्रकाशित न हो तो कोई मतलब नहीं रखता साथ ही उसके सम्बन्ध में संदेह भी बना रह सकता है। अतः ज्ञान (व्यवसाय) के बाद अनुव्यवसाय द्वारा ज्ञाता को उसके ज्ञान होने की प्रक्रिया को स्वीकार कर नैयायिक इन समस्याओं से मुक्ति पा जाते हैं। अर्थ प्रकाशन का अर्थ ज्ञाता को अर्थप्रकाशन है, अब यह अर्थ प्रकाशन स्वयं ज्ञाता को ही प्रकाशित नहीं है तब अर्थप्रकाशन का क्या मतलब रह जाता है, ज्ञाता को ज्ञान होने का मतलब ही क्या रह जाता है ? अस्तु, किसी न किसी रूप में ज्ञान का ज्ञात होना जरूरी है और ज्ञाता का अपने ज्ञान के प्रति सचेत होना आवश्यक है। नैयायिकों का कहना है कि व्यवसायोत्तर अनुव्यवसाय के द्वारा उसका ज्ञान स्वीकार कर वे ज्ञेय और ज्ञान के साथ ज्ञाता के एकसूत्र भाव को तथा निज-भाव को व्याख्यायित करने में समर्थ हो जाते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि वस्तु का ज्ञान स्वयं को भी प्रकाशित करे और वस्तुतः यह संभव भी नहीं है। पर इस ज्ञान का किसी न किसी रूप में ज्ञाता को प्रकाशित होना आवश्यक है और वह ज्ञान को ज्ञेय मानकर तथा परवर्ती ज्ञान द्वारा (दूसरे ज्ञान द्वारा) प्रकाशित मानकर माना जा सकता है। इस दृष्टि से देखा जाए तो न्याय मत का अपने विरोधी बौद्ध मत से कोई बहुत अधिक विरोध नहीं है। जहाँ बौद्ध दार्शनिक ज्ञान का ज्ञान उसी ज्ञान से संभव मानते हैं वहाँ न्याय-वैशेषिक आचार्य उसके लिये दूसरे ज्ञान को स्वीकारते हैं। हाँ, यह बात अवश्य है कि न्याय-वैशेषिक आचार्य सिद्धान्ततः और व्यवहारतः भी यह स्वीकार करते हैं कि ज्ञान का तात्पर्य मात्र अर्थ प्रकाशन है और इसके लिये ज्ञान को ज्ञात होने की कोई अनिवार्यता नहीं है। ज्ञान स्वभावतः परप्रकाशक होता है और वह बिना स्वयं प्रकाशित हुए ही अर्थ का प्रकाशन करने में समर्थ होता है। ज्ञान भी एक ज्ञेय विषय है और वह अपने ज्ञान के लिये अन्य ज्ञान की अपेक्षा रखता है। ऐसा संभव है कि कोई ज्ञान हो और वह अज्ञात रह जाए तथा उसका ज्ञान न हो। बी. के. मतिलाल इसी बात को ध्यान में रखकर कहते हैं कि यह न्याय मत की ही विशिष्टता है कि वह इस बात को संभव मानता है कि

'क' को कोई ज्ञान उत्पन्न हो और 'क' को उस ज्ञान का ज्ञान न हो।[12] आमतौर पर हर ज्ञान के बाद उस ज्ञान का ज्ञान अनुव्यवसाय द्वारा होता है पर कई स्थितियों में यह संभव है कि कोई ज्ञान उत्पन्न हो पर प्रतिकूल प्रतिबन्धकों के चलते उसका प्रत्यक्ष न हो पाये। तत्त्वचिन्तामणि में गंगेश इसी बात को ध्यान में रखते हुए कहते हैं कि हर ज्ञान का ज्ञात होना अनिवार्य नहीं है।[13] वस्तुतः ज्ञान में अवश्यवेद्यत्व को नकारना गंगेश प्रभृति नैयायिकों के लिये तार्किक आवश्यकता के रूप में सामने आता है। न्याय-दर्शन में प्रत्यक्ष के द्विविध प्रकार माने गये हैं।[14] अब इन द्विविध प्रकारों में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का अनुव्यवसाय नहीं माना गया है। अर्थात् निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का अनुव्यवसाय नहीं होता है, परिणामतः वह हमारे ज्ञान का विषय नहीं हो पाता, वह अज्ञात ही रह जाता है। यदि ज्ञान को अवश्यवेद्य माना जाय तब तो निर्विकल्पक प्रत्यक्ष रूप जो वस्तुज्ञान होता है ज्ञाता को उस ज्ञान का ज्ञान भी होना चाहिए। पर नव्य-नैयायिकों का कहना है कि ऐसा नहीं होता है, अतः यह मानना होगा कि ऐसा संभव है कि हमारे बहुत से ज्ञान अज्ञात ही रह जाएँ तथा उनका ज्ञान न हो पाये। लेकिन जैसा कि पीछे कहा गया था कि यदि कोई ज्ञान ज्ञाता को प्रकाशित नहीं होता है तब उस ज्ञान का क्या मतलब रह जाता है ? यदि किसी चीज का ज्ञान ज्ञाता को प्रकाशित नहीं है तब तो तद्विषयक व्यवहार भी संभव नहीं होगा और उस सम्बन्ध में संदेह भी बना रह जायेगा। गंगेश इन दोनों ही तार्किक कठिनाइयों को समझते हैं। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष यदि अनुव्यवसाय का विषय नहीं होता और उसका मानस प्रत्यक्ष से ज्ञान नहीं होता तब तो उसकी सत्ता पर ही प्रश्न खड़ा हो जाता है। अब चूँकि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का न्यायाचार्य अनुव्यवसाय नहीं मानते हैं, परिणामतः निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का ज्ञाता को कभी साक्षात् प्रत्यक्ष नहीं हो पाता और साथ ही जब तक किसी ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष रूप अनुव्यवसाय से ज्ञान नहीं होता, तब तक उसके सम्बन्ध में कोई व्यवहार संभव नहीं है, परिणामतः निर्विकल्पक ज्ञान का प्रत्यक्ष न होने से तद्विषयक कोई व्यवहार भी नहीं हो पाता। इस तरह से निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का अनुव्यवसाय रूप मानस प्रत्यक्ष से ज्ञान न होने के कारण न तो उसके सम्बन्ध में कोई व्यवहार हो पाता है और न तो उसकी सत्ता का ज्ञाता को सद्यः प्रत्यक्ष हो पाता है। परिणामतः ऐसा प्रत्यक्ष साक्षात्सिद्ध न होने से स्वयं संदिग्ध हो जाता है। गंगेश तत्त्वचिन्तामणि में इसीलिये निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की सत्ता को सिद्ध करने के लिये अत्यधिक आतुर हैं, क्योंकि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का मानस प्रत्यक्ष न होने से उसके सम्बन्ध में संदेह स्वाभाविक है। अतः निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की तार्किक आवश्यकता को सिद्ध करना नव्य-न्याय के लिये आवश्यक हो जाता है। वस्तुतः देखा जाए तो प्राचीन न्याय के वाचस्पति मिश्र प्रभृति आचार्य जहाँ

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को सविकल्पक प्रत्यक्ष से भिन्न एक वास्तविक मानसिक घटना के रूप में सिद्ध करना चाहते हैं वहाँ नव्य-न्याय में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को एक तार्किक परिकल्पना के रूप में सिद्ध किया गया है।[15] अनुभूति के रूप में अथवा अनुभूति द्वारा प्रकाशित न होने के कारण नव्य-नैयायिक निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की तार्किक सत्ता को सिद्ध करने के लिये अत्यन्त आतुर हैं और इसका अनुव्यवसाय रूप मानस प्रत्यक्ष से ग्रहण न होने के कारण इसकी सत्ता के सम्बन्ध में उठने वाले स्वाभाविक संदेह का अपने ढंग से समाधान करते हैं।[16]

श्रीहर्ष खण्डनखण्डखाद्य में तथा चित्सुखाचार्य तत्त्वप्रदीपिका में ज्ञान की स्वप्रकाशता के सम्बन्ध में जो प्रधान तर्क देते हैं वह यह ही है कि यदि ज्ञाता को ज्ञान होते ही तत्काल उस ज्ञान का भी ज्ञान होना न माना जाए तो वह अपने ज्ञान के सम्बन्ध में संदेह कर सकता है। हम अपने ज्ञान के सम्बन्ध में कभी भी संदिग्ध नहीं होते तथा कभी भी वस्तु के ज्ञान के सम्बन्ध में इस तरह का संदेह नहीं होता कि मुझे घट का ज्ञान हुआ ? कि नहीं हुआ। वस्तु ज्ञान होते ही यदि ज्ञाता से कोई पूछता है कि उसे ज्ञान हुआ, कि नहीं, तत्काल वह उत्तर देता है कि ऐसा हुआ। अब यह बात तभी संभव है जब यह माना जाए कि ज्ञाता को विषय के ज्ञान के साथ ही उस ज्ञान का ज्ञान भी साथ ही होता है।[17] नैयायिकों का इस तर्क के उत्तर में यह कहना है कि ज्ञाता को होने वाले ज्ञान के सम्बन्ध में किसी ढंग का संदेह इसलिये नहीं होता है कि उस ज्ञान का ग्रहण बाद में दूसरे ज्ञान अनुव्यवसाय से हो जाता है। ज्ञान विषयक संदेह की निवृत्ति के लिये केवल यह मानना जरूरी है कि वह ज्ञान गृहीत हो, यह मानना किसी भी ढंग से अनिवार्य नहीं है कि उसी ज्ञान द्वारा उसका ग्रहण हो। स्वप्रकाशवाद के जगह ज्ञान को परप्रकाश मानकर तथा ज्ञान का ज्ञान परवर्ती अनुव्यवसाय द्वारा मानकर नैयायिक ज्ञान में किसी ढंग के संदेहादि का अवसर नहीं देते।

अब यदि ज्ञान को ज्ञानान्तरवेद्य माना जाए और यह माना जाए कि एक ज्ञान का ग्रहण दूसरे से होता है तो फिर दूसरे का तीसरे और तीसरे का चौथे ज्ञान से ग्रहण मानने पर परपक्षियों का कहना है कि अनुव्यवसायवाद अनवस्था दोष से ग्रसित हो जाएगा। दिग्नाग प्रमाणसमुच्चय में स्वसंवित्ति के पक्ष में तर्क देते हुए कहते हैं कि यदि एक ज्ञान का ग्रहण दूसरे से माना जाएगा तो फिर दूसरे के लिये तीसरे की ओर तीसरे के लिये चौथे ज्ञान की आवश्यकता होगी, परिणामतः अनवस्था पतित होगी और हम एक वस्तु के ज्ञान पर ही अटके रह जायेंगे तथा अन्य कोई दूसरा ज्ञान-व्यवहार संभव ही नहीं हो पायेगा।[18] नैयायिकों के अनुव्यवसायवाद पर यह सबसे महत्त्वपूर्ण आरोप है, क्योंकि यदि एक ज्ञान का ज्ञान दूसरे ज्ञान से माना

जाए तो इस द्वितीय ज्ञान अनुव्यवसाय का ज्ञान कैसे हुआ, यह प्रश्न स्वाभाविक ही उठता है, यदि इसके लिये एक तदुत्तरवर्त्ती तीसरा ज्ञान और उसके लिये उत्तरोत्तरवर्त्ती अन्य ज्ञान माना जाए तो वह परम्परा नष्ट ही नहीं होगी, व्यवहारान्तर संभव ही नहीं होगा और न तो सुषुप्ति अवस्था संभव हो पायेगी। इस आक्षेप के सम्बन्ध में गंगेश का कहना है कि यह आवश्यक नहीं है कि हर ज्ञान ज्ञात ही हो। वस्तु के प्रकाशन के लिये केवल ज्ञान का होना आवश्यक है। अब यह जरूरी नहीं कि हर ज्ञान ज्ञात हो ही। हमारा काम तो ज्ञान और तद्विषयकज्ञान से ही चल जाता है। अधिक से अधिक तीन चार कक्षाओं तक हम ज्ञान का ज्ञान का ज्ञान करेंगे। मन के सुख, दुःख या अन्य चीजों द्वारा आकृष्ट हो जाने के कारण तमाम कारणसामग्री के रहते भी कोई ज्ञान बिना ज्ञात हुए ही छूट जाता है। अतः हर ज्ञान का ज्ञात होना आवश्यक नहीं। अब यदि हर ज्ञान का ज्ञात होना आवश्यक नहीं है तो अनवस्था दोष नहीं प्रसक्त होगा तथा विषयान्तर संचार की भी व्याख्या हो जाती है।[19]

इस तरह न्याय मत में यह आवश्यक नहीं है कि हर ज्ञान ज्ञात ही हो। किसी वस्तु के ज्ञान के लिये उस ज्ञान का भी ज्ञान होना आवश्यक नहीं है। इस तरह से स्वप्रकाशवादियों के उस प्रसिद्ध सिद्धान्त जिसे धर्मकीर्ति ने सबसे अच्छे ढंग से प्रामाणविनिश्चय में व्यक्त किया है – **अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिद्धयति**[20] को न्याय-वैशेषिक दार्शनिक नहीं स्वीकार करते हैं तथा वे मानते हैं कि वस्तु के प्रकाशन के लिये केवल ज्ञान का होना आवश्यक है उसका ज्ञात होना जरूरी नहीं है। ज्ञान बिना ज्ञात हुए ही अर्थप्रकाशन और तद्विषयक व्यवहार में क्षम होता है। किसी वस्तु के प्रत्यक्ष होने के लिये यह आवश्यक नहीं है कि उस प्रत्यक्ष का भी प्रत्यक्ष हो। जैसे ही वस्तु का प्रत्यक्ष होता है हम कह सकते हैं कि वस्तु का प्रत्यक्ष हो गया। हमें तब तक प्रतीक्षा नहीं करनी होगी जब तक कि उस प्रत्यक्ष का भी प्रत्यक्ष हो। अर्थात् वस्तु के प्रत्यक्ष के लिये केवल ज्ञान ही पर्याप्त है, उसकी उत्पत्ति मात्र से वस्तु प्रकाशित हो जाती है, उसके लिए उसके ज्ञान की ज्ञप्ति की कोई आवश्यकता नहीं।[21] जयन्तभट्ट न्यायमञ्जरी में कहते हैं "तस्मादर्थप्रत्यक्षीकरणात्मकत्वाज्ज्ञानस्य उत्पाद एवार्थप्रत्यक्षता, न तद्ग्रहणम् इत्यगृहीतमेव ज्ञानमर्थप्रकाशकमिति युक्तम्।"[22] अर्थात् अगृहीत ज्ञान ही अर्थ प्रकाशन में समर्थ है। वस्तुतः ज्ञान का स्वभाव ही है, जयन्त कहते हैं कि वह विषय का प्रकाशन करता है, न कि स्वयं का–स तु प्रकाशो रूपादिविषयप्रकाशो न प्रकाशप्रकाशः।[23] और विषय के प्रकाशन के लिये उस ज्ञान का उत्पन्न होना ही पर्याप्त है उस का ज्ञात होना भी अनिवार्य नहीं है। जयन्तभट्ट आगे कहते हैं कि ज्ञान की तुलना दीपक से करके उसकी स्वप्रकाशता सिद्ध करना गलत है। बल्कि दीपक के साथ भी यह कहना गलत है

कि वह स्वयं को प्रकाशित करता है क्योंकि दीपक को भी अपने अतिरिक्त अन्य शर्तों पर प्रकाशन के लिये निर्भर रहना पड़ता है। दीपक को भी चक्षु की सहायता लेनी होती है स्वयं को प्रकाशित होने के लिये—दीपोऽपि चक्षुराद्यपेक्ष एव गृह्यते ग्राहयाति चार्थम्। अस्तु, ज्ञान स्वप्रकाश नहीं है अपितु वह परप्रकाश्य है और अर्थप्रकाशन के समय वह अगृहीत ही रहता है—ज्ञानस्य तु परप्रकाश्यत्वमेव दृश्यते न स्वप्रकाशत्वम्, अर्थप्रकाशकाले तदप्रकाशस्य दर्शितत्वात्।[24] जयन्तभट्ट के समान ही भासर्वज्ञ ने भी बौद्धों की स्वप्रकाशता की जमकर आलोचना की है।[25] भासर्वज्ञ कहते हैं कि इस बात में कोई अनिवार्यता नहीं है कि वस्तु के प्रकाशन के लिये ज्ञान को स्वप्रकाश होना चाहिए। भासर्वज्ञ कहते हैं कि स्वयं अपने को प्रकाशित करने की क्षमता के अभाव का अर्थ यह नहीं है कि वह किसी अन्य को नहीं प्रकाशित कर सकता। स्वप्रकाशन की क्षमता का अभाव परप्रकाशन की क्षमता का अभाव नहीं है। इस बात का उदाहरण हम चक्षु के साथ देख सकते हैं। चक्षु स्वयं अपने को प्रकाशित किये ही अन्य चीजों को प्रकाशित करने में क्षम होता है। ज्ञान भी वस्तुतः चक्षु के समान ही है। और फिर ज्ञान का स्वभाव ही है कि वह वस्तुओं का प्रकाशन करता है। अब हम किसी चीज को जाने या न जाने, उससे उसके स्वभाव पर कोई असर नहीं पड़ता। ज्ञान भले ही स्वसंवित् न हो पर वह अर्थसंवित् में समर्थ होता है। चक्षु भले ही स्वयं को न देख पाये पर वह वस्तु को देखने में सक्षम होता है। यदि ज्ञान का स्वभाव स्वप्रकाश नहीं है तब क्या है ? इस पर भासर्वज्ञ कहते हैं कि ज्ञान का स्वभाव ज्ञानत्व ही है—स्वसंवेदनाभावे कोऽन्यो बोधस्य स्वभाव इति चेत्, बोधत्वमेव बोधस्य स्वभावः।[26] और यहीं शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह में उठाये गये उस प्रमुख आक्षेप का उत्तर मिल जाता है कि यदि ज्ञान को भी अपने प्रकाशन के लिये अन्य ज्ञान की अपेक्षा होगी तो फिर ज्ञान और जड़ वस्तुओं का अंतर ही समाप्त हो जायेगा। शान्तरक्षित का कहना है कि अन्य ज्ञान से प्रकाशित होना तो जड़वस्तु का धर्म है अब यदि ज्ञान या चेतना भी अन्य पर अपने प्रकाश के लिये आश्रित हो तो चेतन और अचेतन का भेद ही समाप्त हो जाएगा।[27] भासर्वज्ञ ने इसी प्रश्न को पूर्वपक्ष के रूप में रखते हुए कहा कि यदि ज्ञान को स्वप्रकाशक नहीं मानेंगे तब तो वह भी घटादि वस्तुओं के समान ही हो जाएगा और तब वह वस्तु का प्रकाशन भला कैसे कर पायेगा : यदि न स्वसंविदितं ज्ञानं, अप्रकाशात्मकं तर्हि प्राप्तं, स्वयमप्रकाशात्मकं च घटादिवदन्यस्यापि कथं प्रकाशकं भवेदिति।[28] इस पर भासर्वज्ञ कहते हैं कि जैसे चक्षु बिना स्वयं को देखे वस्तुओं को देख सकता है, वैसे ही ज्ञान बिना स्वयं का प्रकाशन किये ही वस्तुप्रकाशन कर सकता है। घटादि जड़वस्तुओं से ज्ञान की यह विलक्षणता है कि जहाँ घटादि केवल परप्रकाश्य हैं वहाँ ज्ञान परप्रकाशक

है। ज्ञान को परप्रकाशन में सक्षम तथा जड़वस्तु को इसमें अक्षम कहकर इनके बीच पार्थक्य को वैसे ही सुरक्षित रखा जा सकता है। और पुनः इस प्रश्न पर कि ज्ञान यदि स्वयं अपना प्रकाशन नहीं करता तब उसका रूप प्रकाशन स्वरूप कैसे माना जा सकता है भासर्वज्ञ कहते हैं कि जैसे अग्नि स्वयं को न जलाने के बावजूद ज्वलनशील है उसी तरह ज्ञान स्वयं को नहीं जानने के बावजूद ज्ञानत्व स्वभाव का है और ज्ञान का यह ज्ञानत्व या प्रकाशनत्व या बोधत्व परबोधत्व है, परप्रकाशनत्व है—स्वबोधत्व या स्वप्रकाशनत्व नहीं।[29]

दिग्नाग प्रमाणसमुच्चय में स्मृति के तर्क के आधार पर भी ज्ञान की स्वप्रकाशता सिद्ध करते हैं। दिग्नाग के अनुसार हमें उसी वस्तु का स्मरण होता है जिसके ज्ञान के प्रति हम सचेत रहते हैं। स्मरण के लिये न केवल वस्तु का ज्ञान अपेक्षित होता है अपितु उस ज्ञान का ज्ञान भी। हमारी स्मृति पूर्व ज्ञात वस्तु की ही नहीं होती अपितु वह उसके ज्ञान की होती है। हमें न केवल पूर्वानुभव के विषय का स्मरण होता है अपितु पूर्व अनुभव (ज्ञान) का भी स्मरण होता है। इस तरह स्मृति की संभावना जहाँ एक ओर यह सिद्ध करती है कि हर ज्ञान के दो आकार होते हैं—अर्थाकार और स्वाकार, वहीं यह बात यह भी सिद्ध करती है कि प्रत्येक ज्ञान स्वसंवित् होता है। यदि केवल वस्तु का ज्ञान हो और उस ज्ञान का ज्ञान नहीं, तब स्मृति नहीं संभव होगी। अर्थात् स्मृति के लिए ज्ञान को स्वसंवित् मानना ही होगा।[30] दिग्नाग के इस तर्क का जयन्तभट्ट ने न्यायमञ्जरी में तथा भासर्वज्ञ ने न्यायभूषण में जमकर खंडन किया है। स्मृति का तर्क देखा जाए तो केवल यही सिद्ध करता है कि किसी चीज के स्मरण के लिये उसके ज्ञान का ज्ञान आवश्यक है, पर इससे यह बात नहीं सिद्ध हो जाती कि हर ज्ञान का ज्ञान होता ही है। पुनः जैसा कि भासर्वज्ञ ने कहा कि स्मृति के लिये देखा जाए तो केवल विषय का कभी ज्ञान होना जरूरी है, उस ज्ञान का भी ज्ञात होना जरूरी नहीं क्योंकि इस तरह के कई उदाहरण दिखाये जा सकते हैं जिसमें हमें पूर्वानुभूत विषय का ही स्मरण होता है, उसके अनुभव का नहीं। मैंने माता-पिता की सेवा की, मेरे पांच नौकर तथा दस गाये हैं तथा देवदत्त घर में है, हमारे इन स्मरणों में अर्थ ही स्मृत होता है न कि उसका अनुभव।[31] अब यह बात भासर्वज्ञ के अनुसार यह सिद्ध करता है कि अर्थ और अनुभव, विषय और ज्ञान दोनों की प्रतीति एक ही साथ नहीं होती। स्मृति की संभावना के लिये वस्तुज्ञान के साथ उसका ज्ञान भी होना मानना आवश्यक नहीं है। वस्तुतः कई एक स्थितियों में केवल अर्थ का स्मरण होता है और कई एक स्थिति में मात्र तद्विषयक ज्ञान ही स्मृत होता है, उसके विषय का स्मरण नहीं होता। जयन्तभट्ट न्यायमञ्जरी में कहते हैं कि कई स्थिति इस तरह की हो सकती है

जिसमें हमें वस्तु के ज्ञान का तो स्मरण हो पर ग्राह्य विषय का न हो।[32] अब उपर्युक्त बातें यह सिद्ध करती हैं कि ज्ञान और अर्थ में कतई अभेद नहीं है तथा स्मृति के लिए यह आवश्यक नहीं है कि यह माना जाए कि ज्ञान अर्थाकार और ज्ञानाकार लिये होता है तथा न केवल वह वस्तु को प्रकाशित करता है अपितु वह स्वयं को भी प्रकाशित करता है।

धर्मकीर्ति सुख-दुःख का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि उनका होना और उनका ज्ञान होना एक साथ ही होता है, उसी तरह ज्ञान का होना और उसका ज्ञात होना एक साथ ही होता है। वस्तुतः सुख दुःख ज्ञान रूप हैं। हमारे अंदर सुख या दुःख उत्पन्न हो और हमें उसका ज्ञान न हो यह कहना वैसा ही है जैसे कहा जाए कि किसी को सर में दर्द है और उसे दर्द का ज्ञान नहीं है। वस्तुतः सुख और सुख ज्ञान दोनों एक साथ होता है। सुख या दुःख को तद्विषयक अनुभूति से पृथक् नहीं किया जा सकता।[33] अननुभूत सुख असंभव है। अब जो स्थिति सुखादि चैत्तों की है वही चित्त की है। सभी चित्त और चैत्त का स्वसंवेदन होता है।[34] सुख-दुःख के समान ज्ञान का भी स्वसंवेदन होता है। अज्ञात ज्ञान अननुभूत सुख के समान ही असंभव है। ज्ञान स्वप्रकाश है, वह स्वसंवित् है। न्यायदार्शनिक उपर्युक्त मत की आलोचना करते हुए कहते हैं कि सुख, दुःखादि ज्ञानरूप नहीं है।[35] सुख और सुख ज्ञान दोनों दो चीजें हैं। उद्योतकर इस बात का खंडन करते हैं कि सुख और ज्ञान में अभेद है, बल्कि प्रत्यक्ष की परिभाषा में ज्ञान शब्द का प्रयोग ही इसलिये हुआ है कि प्रत्यक्ष को सुख, दुःख से अलग किया जा सके।[36] वस्तुतः सुख दुःख को उनके प्रत्यक्ष से अलग करना चाहिये क्योंकि वे प्रत्यक्ष रूप न होकर उसके विषय हैं। वस्तुतः नैयायिकों के अनुसार कोई भी मानसिक अवस्था ऐसी नहीं होती जो स्वप्रकाश हो। सुख, दुःख का भी मानस प्रत्यक्ष द्वारा ही ज्ञान होता है। अब यह बात सही है कि सुख दुःख का प्रत्यक्ष उनके उत्पन्न होते ही हो जाता है, पर ऐसा जैसा कि उदयन कहते हैं उनकी तीव्र संवेगिता के कारण होता है।[37] इस तरह सुख और सुख का ज्ञान ये दोनों अलग-अलग चीजें हैं और उत्तरोत्तरवर्ती हैं, उसी तरह ज्ञान और ज्ञान का ज्ञान भी अलग-अलग चीज हैं और उत्तरोत्तरवर्ती हैं।

स्वप्रकाशवाद के समर्थक तर्क देते हैं कि हम सभी अपने ज्ञान के बारे में बात करते हैं, अब अपने ज्ञान के सम्बन्ध में कोई कथन यह मानकर चलता है कि हमें उस ज्ञान का ज्ञान है, अतः हमें स्वीकार करना होगा कि ज्ञान का ज्ञान होता है। अब इस बात में लाघव है कि हम यह मान लें कि ज्ञान हमेशा स्वयंप्रकाश होता है। ज्ञान स्वयं को प्रकाशित किये हुए ही होता है।[38] गंगेश तत्त्वचिन्तामणि में स्वप्रकाशता के पक्ष में दिये गये इस तर्क कि उसमें लाघव है को स्वीकार नहीं करते।

वे कहते हैं कि यदि उसी ज्ञान से उसी ज्ञान का प्रकाशन माना जाए तब यह मानना होगा कि चाक्षुषज्ञान स्वयं चाक्षुषज्ञान का विषय बनता है। पर चाक्षुष ज्ञान भला हमारे चक्षु को कैसे प्रस्तुत हो सकता है, दूरस्थ घट के समान यह ज्ञान भी तो उसे असन्निकृष्ट है।[39] जब हमें घट का प्रत्यक्ष होता है तो घट हमारे प्रत्यक्ष का विषय होता है और इस विषय एवं इन्द्रिय के सम्पर्क से ही उसका ज्ञान उत्पन्न होता है। अस्तु, चाक्षुष प्रत्यक्ष वस्तु का ही प्रत्यक्ष करा सकता है उसके प्रत्यक्ष का नहीं। श्रीधर भी न्यायकन्दली में प्रभाकर के स्वप्रकाशवाद का खंडन करते हुए कहते हैं कि घट ज्ञान में घट का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। अब यदि इस ज्ञान के साथ ही आत्मा तथा ज्ञान का ज्ञान भी माना जाए तो इनका भी चाक्षुष प्रत्यक्ष मानना होगा और वह संभव नहीं है।[40] गंगेश वहीं आगे ज्ञान की परप्रकाशता को स्वीकार करने पर उठने वाले एक महत्त्वपूर्ण व्याघात की चर्चा करते हैं। हमें यह ज्ञान हो सकता है कि सभी ज्ञान ज्ञेय हैं, अब यहाँ यह ज्ञान अन्य ज्ञानों के अतिरिक्त स्वयं को भी विषय बनाता है। फलतः ज्ञान की परप्रकाशता का एक अपवादी उदाहरण हमें प्राप्त होता है जिसमें ज्ञान स्वयं को भी विषय बनाता प्रतीत होता है। और पुनः ईश्वर का ज्ञान भी चूंकि सभी चीजों का ग्रहण करता है, फलतः वह स्वयं अपना भी ग्रहण करता है। परिणामतः ईश्वरीय ज्ञान भी एक अपवाद के रूप में सामने आता है। गंगेश इन दोनों ही विरोधी उदाहरणों का अपने ढंग से समाधान देते हैं। गंगेश प्रथम का समाधान ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति द्वारा मानते हैं। हमारा ज्ञान 'सभी ज्ञान प्रमेय है' इस ज्ञान में ही ज्ञान लक्षणा प्रत्यासत्ति द्वारा ज्ञात हो जाता है अर्थात् ज्ञानलक्षणा द्वारा हमें अपने ज्ञान में प्रमेयत्व का ज्ञान होता है। जहाँ तक ईश्वरीय ज्ञान की बात है तो उसे स्वप्रकाश माना जा सकता है।[41] पर मानवीय ज्ञान अपने ज्ञान के लिये अन्य ज्ञान की अपेक्षा रखता ही है। वह स्वप्रकाश नहीं होता।

संदर्भ एवं टिप्पणी

1. गंगेश तत्त्वचिन्तामणि के प्रत्यक्षखण्ड के अनुव्यवसायवाद परिच्छेद में विस्तार से ज्ञान की स्वप्रकाशता विषयक मत का खण्डन करते हुए न्यायसम्मत अनुव्यवसायवाद की विशद् व्याख्या करते हैं। देखें, तत्त्वचिन्तामणि के प्रत्यक्ष खण्ड का अनुव्यवसायवाद, सं. कामाख्यानाथ तर्कवागीश, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 1990, पृ. 784-808.
2. प्रमाणञ्च स्वप्रकाशे प्रत्यक्षमेव, सर्वाः प्रतीतय इदमहं जानामीत्येवमाकाराज्ञातारं ज्ञानं ज्ञेयञ्चोल्लिखन्त्यो जायन्ते, तत्रात्मा कर्तृत्वेन, ज्ञेयं कर्मतया, ज्ञानं क्रियात्वेन भासते अतो ज्ञातृ-ज्ञेय-स्वविषयं ज्ञानमनुभूयत इति त्रिपुटीप्रत्यक्षवादिनः।
   गंगेश, अनुव्यवसायवाद, तत्त्वचिन्तामणि-प्रत्यक्षखण्ड, पृ.788.
3. बौद्ध मत के विस्तृत प्रतिपादन के लिए देखें इसी पुस्तक का अगला अध्याय।
4. अर्थप्रकाशात्मैव खलूपलम्भः।

जयन्तभट्ट, न्यायमञ्जरी (तृतीय भाग), पृ. 51.

5. प्रशस्तपादभाष्य, पृ. 218.
6. एवम् मनसाऽन्तरेणेन्द्रियेण यदात्मविषयकं ज्ञानं जन्यतेऽहमिति, तदा मन इन्द्रियम्, आत्मार्थः, अनयोः सन्निकर्षः संयोग एव।
   केशव मिश्र, तर्कभाषा, पृ. 74.
7. प्रत्यक्षं न स्वप्रकाशे प्रमाणं व्यवसायानामिदमहं जानामीत्याकारासिद्धेः। न चैवमनुभवविरोधः, अर्थनिश्चयेनप्रवृत्त्यादिदर्शनात्। व्यवसायस्य अर्थविषयत्वमात्रमनुभूयते न तु स्वविषयत्वमपि गौरवेण तस्य स्वविषयभानतया प्रवृत्त्यहेतुत्वात्। अनुभवोऽपीदं रजतमित्याद्येव। न चैवमिदमहं जानामीत्यनुभवापलापे उपेक्षणीयता, व्यवसायोत्तरकालं तदुपगमात् इदं रजतमित्यादि लौकिकानुभवात् व्यवसायस्य तदाकारतां निषेधामो न त्वनुव्यवसायस्य।...तस्मादिदमहं जानामीति न व्यवसायः किन्त्वनुव्यवसायः।
   गंगेश, अनुव्यवसायवाद, तत्त्वचिन्तामणि-प्रत्यक्षखण्ड, पृ. 793-796.
8. ज्ञानं हि मानसप्रत्यक्षेणैव गृह्यते, प्रामाण्यं पुनरनुमानेन।
   केशव मिश्र, तर्कभाषा, पृ. 179.
9. ज्ञानं हि मानसप्रत्यक्षेणैव गृह्यते, प्रामाण्यं पुनरनुमानेन, तथाहि—जलज्ञानान्तरं जलार्थिनः प्रवृत्तिर्द्वेधा फलवती अफला चेति। तत्र या फलवती प्रवृत्तिः सा समर्था, तया तज्ज्ञानस्य याथार्थ्यलक्षणं प्रामाण्यमनुमीयते।
   केशव मिश्र, तर्कभाषा, पृ. 179.
   इस सम्बन्ध में विद्वतापूर्ण प्रतिपादन के लिये देखें वहीं पं. बदरीनाथ शुक्ल कृत हिन्दी व्याख्या।
10. वित्तेरवश्यवेद्यत्वाभावेनानवस्थाविगमात्।
    गंगेश, अनुव्यवसायवाद, तत्त्वचिन्तामणि-प्रत्यक्ष खण्ड, पृ. 798.
11. धर्मकीर्ति की इस महत्त्वपूर्ण पंक्ति को भासर्वज्ञ, जयन्तभट्ट और श्रीधर तीनों ही बौद्धों के स्वसंवेदन की आलोचना करते हुए उद्धरित करते हैं। देखें, न्यायभूषण का पृ. 108 तथा 134, न्यायमञ्जरी (तृतीय भाग) का पृ. 46 तथा 51 और न्यायकन्दली का पृ. 220।
12. बी. के. मतिलाल, परसेप्शन, पृ. 144.
    मतिलाल के अनुसार भारतीय दर्शनों में केवल न्यायदर्शन ही इस बात को संभव मानता है कि हममें कोई ज्ञान उत्पन्न हो और वह हमें अज्ञात ही रह जाए। यहाँ द्रष्टव्य है कि भाट्ट मीमांसकों का भी इस संदर्भ में नैयायिकों से साम्य है, जिसको मतिलाल नजरंदाज कर देते हैं। ज्ञान का ज्ञान दूसरे ज्ञान द्वारा होना स्वीकार कर तथा इस बात की संभावना को स्वीकार कर कि ज्ञान परम्परा में कोई ज्ञान अज्ञात ही रह जाता है, भाट्ट भी न्याय पक्ष के समान ही अनवस्था एवं गोचरान्तर सम्बन्धी आपत्तियों को दूर करते हैं। मानमेयोदयकार का तो स्पष्ट कहना है कि यह कोई आवश्यक नहीं कि हर ज्ञान का ज्ञान हो ही—"उत्पन्नस्य ज्ञानस्यावश्यवेदनीयत्वाभावादिति ब्रूमः। न चाविज्ञायमानस्य विषयप्रकाशकत्वानुपपत्तिरिति वाच्यम्। चक्षुरादीनामप्यप्रकाशकत्वप्रसङ्गात्। जिघृक्षायां सत्यां पश्चादर्थापत्तिगम्यत्वस्य चोभयत्रापि तुल्यत्वात्।" नारायण, मानमेयोदय, सं. सी. कुन्हन रजा एवं एस. एस. सूर्यनारायण शास्त्री, आड्यार लाइब्रेरी एण्ड रिसर्च सेण्टर, आड्यार, 1975, पृ. 256-257.
13. वित्तेरवश्यवेद्यत्वाभावेनानवस्थाविगमात्।
    गंगेश, अनुव्यवसायवाद, तत्त्वचिन्तामणि-प्रत्यक्ष खण्ड, पृ. 798.

14. तच्च प्रत्यक्षं द्विविधं निर्विकल्पकं सविकल्पकञ्चेति। तत्र नाम जात्यादियोजनारहितं वैशिष्ट्यानवगाहि निष्प्रकारकं निर्विकल्पकं।
गंगेश, निर्विकल्पकवाद, तत्त्वचिन्तामणि-प्रत्यक्ष खण्ड, पृ. 809.
15. न्यायसूत्र, वात्स्यायनभाष्य तथा न्यायवार्तिक में प्रत्यक्ष के द्विविध भेदों का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। प्रशस्तपादभाष्य में भी इसका स्पष्ट भेद नहीं हो पाया है। सर्वप्रथम वाचस्पति मिश्र ने न्यायसूत्र-1/1/4 की नवीन व मौलिक ढंग से व्याख्या करते हुए प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक और सविकल्पक भेदों की विशद् विवेचना की है। और जैसा कि वाचस्पति स्वयं कहते हैं कि एतद्विषयक प्रेरणा उनको गुरु त्रिलोचन से मिली। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि प्रत्यक्ष सम्बन्धी वाचस्पति और श्रीधर की धारणा कुमारिल की व्याख्या के समान है जिसमें निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को वस्तु का विकल्पों से रहित शुद्ध साक्षात् **आलोचन ज्ञान** मात्र कहा गया है। यह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष वस्तु के प्रत्यक्ष की वास्तविक अवस्था है। दूसरी ओर नव्य-नैयायिक इसे सविकल्पक प्रत्यक्ष की तार्किक पूर्वस्थिति के रूप में लेने को उत्सुक दिखते हैं।
16. देखें, बी. के. मतिलाल, लॉजिक, लैंग्वेज एण्ड रियलिटी, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्रा. लि., दिल्ली, 1990, पृ. 208-212.
17. किञ्चानुभूतिरर्थप्रकाशनसमये यदि न प्रकाशेत, तथा सत्यनन्तरक्षणे जिज्ञासोस्तत्र संदेहो विपर्ययो वा विपरीतप्रमावोदियात्। न च कश्चिदमुमद्राक्षीन्नो वा भवानिति पृष्ठोऽनन्तरक्षणे संदिग्धे विपर्यस्यति संविदभावं वा प्रमिणोति, किन्तु निश्चिनोत्येव 'इदमहमद्राक्षम्' इति तेन प्रकाशमानैवानुभूतिरर्थे व्यवहारं जनयतीति युक्तम्।
चित्सुखाचार्य, तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 29-30.
विज्ञानं तावत् स्वप्रकाशं स्वत एव सिद्धस्वरूपम्। न खलु विज्ञाने सति जिज्ञासोरपि कस्यचित् जानामि न वेति संशयः, न जानामीति वा विपर्ययः, व्यतिरेक प्रमा वा।
श्रीहर्ष, खण्डनखण्डखाद्य, सं. स्वामी योगीन्द्रानन्द, षड्दर्शनप्रकाशन प्रतिष्ठान, वाराणसी, 1979, पृ. 41.
18. ज्ञानान्तरेणानुभवेऽनिष्ठा तत्रापि हि स्मृतिः।
विषयान्तरसञ्चारस्तथा न स्यात् स चेष्यते।।
दिग्नाग, प्रमाणसमुच्चय, 1/12.
19. देखें, गंगेश, अनुव्यवसायवाद, तत्त्वचिन्तामणि-प्रत्यक्ष खण्ड, पृ. 798-799.
20. ज्ञान की स्वप्रकाशता की सिद्धि के लिये दिये गये इस महत्त्वपूर्ण तर्क को भासर्वज्ञ, जयन्तभट्ट, श्रीधर प्रभृति न्याय-वैशेषिक आचार्य बौद्ध मत के उपस्थनार्थ बार-बार उद्धरित करते हैं। परप्रकाशवादी न्यायादि इस मत को अस्वीकार करते हैं कि वस्तु के ज्ञान के लिये उस ज्ञान का स्वयं भी ज्ञात होना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में बौद्धों के प्रत्युत्तर के लिये देखें इसी पुस्तक का अगला अध्याय।
21. एतेनैतदपि प्रत्युक्तम्–"अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिद्ध्यति" इति। न हि ज्ञानस्य प्रत्यक्षताऽर्थस्य दर्शनम्, किन्तु विज्ञानस्योत्पत्तिः, तत्रासंविदितेऽपि ज्ञाने तदुत्पत्तिमात्रेणैवार्थस्य संवेदनं सिद्ध्यति।
श्रीधर, न्यायकन्दली, पृ. 220.
22. जयन्तभट्ट, न्यायमञ्जरी (तृतीय भाग), पृ. 51.
23. देखें, वहीं, पृ. 50.

24. वहीं, पृ. 52.
25. देखें, भासर्वज्ञ, न्यायभूषण, पृ. 132-141.
26. भासर्वज्ञ, न्यायभूषण, पृ. 136.
27. शान्तरक्षित, तत्त्वसंग्रह - 2020.
28. भासर्वज्ञ, न्यायभूषण, पृ. 135.
29. स्वात्मावबोधकत्वाभावे कथमसौ बोधस्वभाव इति चेत्, स्वात्मदाहकत्वाभावेपि यथाऽग्नेर्दहन स्वभावः, स्वात्मदीपकत्वाद्यभावेपि यथा दात्रादिकं दात्रादिस्वभावमिति।
भासर्वज्ञ, न्यायभूषण, पृ. 136.
30. दिग्नाग, प्रमाणसमुच्चय, 1/11.
साथ ही देखें, एम. हट्टोरी कृत **दिग्नाग, ऑन परसेप्शन** का पृ. 30।
31. ननु च दृष्टं मयेति सर्वदर्शनविशिष्टस्यैवार्थस्य स्मरणात्कथं नानुभवार्थयोरेकोपलंभनियम इति, नैतदस्ति; केवलस्याप्यर्थस्य स्मृतिदर्शनात्। तथा हि– मातरं पितरं शुश्रूषितवानहं, सन्ति मे पञ्च भृत्या दश गावश्च गृहेऽस्ति देवदत्त इत्यादावर्थ एव स्मर्यते, नानुभव इति।
भासर्वज्ञ, न्यायभूषण, पृ. 136.
32. क्वचिच्च ग्राह्याकारानुपश्लिष्टकेवलग्राहकावमर्शनमपि दृश्यते, न स्मरामि मया कोऽपि गृहीतोऽर्थस्तदेति हीति।
जयन्तभट्ट, न्यायमञ्जरी (तृतीय भाग), पृ. 54.
33. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक, 2/250-254, 266, 274.
34. सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनम्।
धर्मकीर्ति, न्यायबिन्दु, 1/10.
35. देखें, जयन्तभट्ट, न्यायमञ्जरी (प्रथम भाग), पृ. 116 से 118.
श्रीधर, न्यायकन्दली, पृ. 218.
36. अथ ज्ञानग्रहणं किमर्थम् ? सुखादिव्युदासार्थम्–इन्द्रियार्थसन्निकर्षात् सुखदुःखे अपि भवतः तद्व्युदासार्थमाह, ज्ञानमिति।
उद्योतकर, न्यायसूत्र- 1/1/4 पर न्यायवार्त्तिक, पृ. 84.
37. देखें, उदयन, न्यायसूत्र- 1/1/4 पर परिशुद्धि.
38. कर्तृत्वादिज्ञानवैशिष्ट्यमात्मनि मा ज्ञायि व्यवहारस्य स्वविषयकज्ञानसाध्यत्वसिद्धौ तदेव ज्ञानं स्वविषयकं कल्प्यते लाघवात्। ज्ञानवित्तिवेद्य आत्मापि तद्विषय इत्यात्मविषयत्वं सर्ववित्तीनामिति चेत्। न। स्वजनकेन्द्रियसन्निकर्षानाश्रयत्वेन स्वस्य स्वाविषयत्वात्।
गंगेश, अनुव्यवसायवाद, तत्त्वचिन्तामणि-प्रत्यक्षखण्ड, पृ. 796.
39. चाक्षुषज्ञानं न चक्षुर्जन्यज्ञानविषयः चक्षुरसन्निकृष्टत्वात् घटवत्।
गंगेश, अनुव्यवसायवाद, तत्त्वचिन्तामणि-प्रत्यक्षखण्ड, पृ. 798.
40. न तु ज्ञातृज्ञानयोश्चाक्षुषज्ञाने प्रतिभासः, तयोरपि चाक्षुषत्वप्रसङ्गात्।
श्रीधर, न्यायकन्दली, पृ. 221.
41. ज्ञानं प्रमेयमेवेतिव्याप्तिज्ञानं ज्ञानत्वप्रत्यासत्त्या स्वविषयं, ईश्वरज्ञानमहेतुकत्वेन सर्वविषयत्वात् स्वप्रकाशं।
गंगेश, अनुव्यवसायवाद, तत्त्वचिन्तामणि-प्रत्यक्षखण्ड, पृ. 798.

3

स्वसंवित्‌वाद : स्वप्रकाशता सम्बन्धी बौद्ध प्रस्थापना

भारतीय दार्शनिकों में सर्वप्रथम बौद्धों ने शुद्ध विज्ञानवादी आधार पर स्वतंत्र रूप से प्रमाणशास्त्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया। ज्ञान के सर्व अनुभूयमान तथ्य के विश्लेषण से ही बौद्ध आचार्यों ने यह सिद्ध किया कि ज्ञान स्वप्रकाश है। यह सम्पूर्ण विषय जगत् ज्ञान द्वारा प्रकाशित होता है। यदि ज्ञान न हो तो संसार में कुछ भी प्रकाशित न हो। अतः ज्ञान की सत्ता स्वयंसिद्ध है, यह स्वयंप्रकाश है। यदि यह ज्ञान भी अपनी सत्ता की सिद्धि के लिये अन्य पर आश्रित हो तथा स्वतः प्रकाशित न हो तब वह भला अर्थ का प्रकाशन कैसे कर सकता है ? बौद्धों के अनुसार कोई भी ज्ञान न केवल वस्तु को अपितु स्वयं अपने को भी प्रकाशित करता है। हमारे हर ज्ञान या संवेदन का स्वसंवेदन होता है। हमें ज्योंहि किसी विषय का का ज्ञान होता है त्योंहि उस ज्ञान का भी ज्ञान होता है। एक ज्ञान को ग्रहण करने के लिये किसी दूसरे ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। हर ज्ञान स्वतः गृहीत होता है। अगृहीत ज्ञान वदतोव्याघात है। ज्ञानविषयक यह सिद्धान्त स्वसंवित्‌वाद के नाम से प्रसिद्ध है। दिग्नाग, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित, ज्ञानश्री मित्र ने ज्ञान की इस स्वयंप्रकाशता के उपस्थापन हेतु महत्त्वपूर्ण तर्क दिये हैं। वस्तुतः ये दार्शनिक ज्ञान की स्वप्रकाशता को सिद्ध करने के लिये इतने अधिक उत्सुक इसलिये हैं कि ज्ञान का आत्मसंवेदन या स्वसंवेदन होना जहाँ एक ओर वस्तुवादियों द्वारा प्रस्तुत ज्ञान की स्वाभाविक विषयप्रवणता एवं पराभिमुखता विषयक उनके सिद्धान्त का खंडन करेगा वहीं इनके लिये यह आसान हो जाएगा कि वे यह दिखा सकें कि विज्ञानवादी प्रमाणमीमांसा में ज्ञान से पृथक् वस्तु की कल्पना अनावश्यक कोटिविस्तार है क्योंकि ज्ञान अनात्मसंवेदन रूप न होकर आत्मसंवेदन रूप है।

बौद्ध विज्ञानवादियों के अनुसार एक मात्र विज्ञानों की ही सत्ता है। विज्ञानों से व्यतिरिक्त किसी चीज की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है। एक ही विज्ञान ग्राह्य और ग्राहक भेद से प्रतीत होता है। धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक में कहते हैं कि एक ही

विज्ञान भ्रान्तिवश ग्राह्य, ग्राहक और संविति भेदों वाला सा परिलक्षित होता है—

अविभागोऽपि बुद्‌ध्यात्मविपर्यासितदर्शनैः।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते।।[1]

इस प्रकार विज्ञानवादियों के अनुसार विज्ञानों की ही पारमार्थिक सत्ता है। बाह्यजगत्‌ विज्ञान का ही मिथ्या रूप है। सुख दुःखादि आंतरिक भाव भी विज्ञान के ही आकार हैं। बौद्धों का तर्क है कि ज्ञान और ज्ञान के विषय में भेद नहीं किया जा सकता। ज्ञान से पृथक्‌ उसके विषय की उपलब्धि नहीं होती—सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः।[2] नील तथा नीलज्ञान की प्रतीति एक साथ होती है। वस्तु की उपलब्धि ज्ञान के साथ ही होती है, ज्ञान से भिन्न बाह्य वस्तु की कभी भी प्रतीति नहीं होती। अब यह तथ्य यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि ज्ञान और उसके विषय में पार्थक्य नहीं है, क्योंकि यदि इनमें पार्थक्य होता तो बिना ज्ञान के भी विषय की प्रतीति होती। अब यदि ज्ञान और उसके विषय में पार्थक्य नहीं है तो विषय ज्ञान और ज्ञान के ज्ञान में भला भेद कैसे—इस दृष्टि से हर संवेदन स्वसंवदेन है। चेतना में ग्राह्य और ग्राहक की प्रतीति भ्रामिक है। एक मात्र चेतना की ही सत्ता होने के कारण देखा जाए तो चेतना वस्तुतः स्व की ही चेतना है। वस्तुतः देखा जाए तो ज्ञान की स्वप्रकाशता हेतु बौद्धों का सबसे प्रबल तर्क यही **सहोपलम्भनियम** ही है। धर्मकीर्ति का कहना है कि नील और नीलज्ञान की प्रतीति एक साथ होती है। किसी भी विषय और उसके ज्ञान की प्रस्तुति एक साथ होने के कारण यह स्पष्ट है कि ज्ञान स्वप्रकाश है क्योंकि हमें वस्तु और उसके ज्ञान दोनों की एक साथ उपलब्धि होती है। ज्ञान को अपने ज्ञान के लिये दूसरे ज्ञान की आवश्यकता नहीं पड़ती। एक ही ज्ञान विषय और उसके ज्ञान दोनों को प्रकाशित करता है या हम कह सकते हैं कि ज्ञान न केवल विषय को बल्कि स्वयं अपने को भी प्रकाशित करता है। ज्ञान के इस विषयाभासी और स्वाभासी स्वरूप को दिगनाग ने प्रमाणसमुच्चय में स्पष्ट रूप से व्याख्यायित किया है।[3] ज्ञान न केवल विषय को प्रकाशित करता है, अपितु वह स्वयं को भी प्रकाशित करता है। धर्मकीर्ति प्रमाणवार्त्तिक में ज्ञान के इस द्विविध आकार की चर्चा करते हुए कहते हैं—तस्माद्‌ द्विरूपमस्त्येकं यदेवमनुभूयते। स्मर्यते चोभयाकारस्यास्य संवदेनं फलम्‌।[4]

वस्तुतः ज्ञान अपने इस द्विविध आकार को लेकर ही उत्पन्न होता है। वह जहाँ विषय को आभासित करता है वहीं वह स्वयं को साथ ही प्रकाशित करता है। प्रमाणवार्त्तिकवृत्ति में कहा गया गया है—स्वभासं विषयभासं च ज्ञानम्‌ उत्पद्यते, तत्र यत्‌ स्वसंवेदनं तत्‌ फलम्‌। इसी तरह प्रज्ञाकर गुप्त ज्ञान को उभयभास कहते हैं—उभयभासस्य विज्ञानस्य स्वसंवेदनमेव फलम्‌।[5] अब ज्ञान का यह द्विविध रूप

स्पष्ट रूप से स्वसंवेदन को सिद्ध करता है। धर्मकीर्ति प्रमाणवार्त्तिक में कहते हैं कि द्वैरूप्यसाधन से स्वसंवेदन प्रत्यक्ष सिद्ध है—द्वैरूप्यसाधनेनापि प्रायः सिद्धं स्वसंवेदनम्।[6] मनोरथनन्दी व्याख्या करते हुए कहते हैं—ज्ञानानां द्वैरूप्यसाधनेनापि प्रायो बाहुल्येन स्ववेदनं ज्ञानं सिद्धम्।[7] धर्मकीर्ति वहीं आगे कहते हैं कि अनुभव यदि स्वयं अपने को नहीं प्रकाशित करता है तब न तो अर्थ प्रकाशित हो सकेगा और न ज्ञान, परिणामतः ज्ञान की व्याख्या ही नहीं हो पायेगी, ज्ञान ही सिद्ध नहीं होगा। और जब ज्ञान स्वयं नहीं सिद्ध हो तो भला अर्थ की कैसे सिद्धि होगी ? जो स्वयं को नहीं जानता वह भला दूसरे को कैसे जानेगा—अथात्मरूपं न वेत्ति पररूपस्य वित् कथम्।[8] वस्तुतः सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करने वाला ज्ञान है अब यह ज्ञान ही यदि अव्यक्त हो तो समस्त जगत् अव्यक्त हो जायेगा—ज्ञानं व्यक्तिर्नसा व्यक्तेत्यव्यक्तमखिलं जगत्।[9] धर्मकीर्ति कहते हैं कि विषयों का प्रकाशन ज्ञान द्वारा होता है और ऐसा इसलिये होता है कि यह ज्ञान रूप प्रकाश प्रकाशस्वरूप है। ज्ञान के स्वरूप से ही यह सिद्ध है कि यह स्वयं प्रकाशरूप है—

विषयस्य कथं व्यक्तिः ?
प्रकाशरूपसंक्रमात्।
स च प्रकाशस्तद्रूपः स्वयमेव प्रकाशते।।[10]

वस्तुतः देखा जाय तो विज्ञानवाद की तार्किक निष्पत्ति विज्ञान की स्वयंप्रकाशता में सहज ही होती है। ज्ञान के लिये उससे पृथक् किसी ज्ञेय की सत्ता को मानना जरूरी नहीं है तब फिर ज्ञान के ग्रहण में भी तद्भिन्न किसी को ज्ञेय क्यों माना जाए ? वस्तुतः ज्ञान अपरोक्षतया उत्पन्न होकर स्वयं प्रकाशित होता है, वह अन्य के द्वारा प्रकाशित नहीं होता है—

नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोऽपरः।
तस्यापि तुल्यचोद्यत्वात् स्वयं सैव प्रकाशते।।[11]

ज्ञान इस अर्थ में प्रकाश के समान है। जैसे प्रकाश प्रकाशरूप होता है तथा प्रकाशान्तर की अपेक्षा नहीं रखता, उसी प्रकार ज्ञान प्रकाशरूप ही उत्पन्न होता है तथा अन्य ज्ञान द्वारा ज्ञात नहीं होता। वह स्वयं अपने को प्रकाशित करता है—

प्रकाशमानस्तादात्म्यात् स्वरूपस्य प्रकाशकः।
यथा प्रकाशोऽभिमतस्तथा धीरात्मवेदिनी।।[12]

बौद्ध दार्शनिकों द्वारा ज्ञान की स्वयंप्रकाशता की सिद्धि हेतु दिये गये तर्कों की सम्परीक्षा से पूर्व धर्मकीर्ति द्वारा प्रमाणविनिश्चय में प्रस्तुत उस महत्त्वपूर्ण तर्क का उल्लेख करना आवश्यक होगा जो स्वतःप्रकाशवादियों के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तर्क के रूप में बौद्ध तथा बौद्धेतर सम्प्रदायों में उद्धरित किया जाता है। तर्क यह है कि

अप्रत्यक्षभूत विज्ञान के द्वारा बाह्यार्थ का ज्ञान कभी सिद्ध नहीं हो सकता– अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिध्यति।[13] यदि ज्ञान ही ज्ञात न हो तो भला अर्थ का ज्ञान कैसे होगा ? यदि अनुभव का प्रकाश न हो, उसका प्रत्यक्ष न हो, यदि अनुभव ही छिपा रहे और प्रकट न हो तो भला वह विषयों का प्रकटन कैसे करेगा ? ज्ञान बिना ज्ञात हुए वस्तुओं को नहीं जान सकता। जो स्वयं अप्रकाशित हो वह भला दूसरे को कैसे प्रकाशित कर सकता है। किसी चीज का ज्ञान होने के लिये यह जरूरी है कि उस ज्ञान का भी ज्ञान हो। वस्तुतः हर ज्ञान स्वभावतः ही ऐसा होता है कि वह न केवल अर्थ को प्रकाशित करता है, अपितु स्वयं अपने को भी। यदि ज्ञान का ज्ञान उसी ज्ञान से न मानकर दूसरे ज्ञान से माने तो इस दूसरे ज्ञान के ज्ञान के लिये भी तीसरे ज्ञान की आवश्यकता होगी और फिर उसके लिये चौथे की और परिणामतः अनवस्था दोष प्रसक्त होगा। इसलिये अनवस्था के भय से यह मानना होगा कि ज्ञान का ग्रहण उसी ज्ञान से हो जाता है। वस्तुतः जैसे दीपक को अपने प्रकाश के लिये किसी दूसरे दीपक की अपेक्षा नहीं होती उसी तरह ज्ञान को भी प्रकाशित होने के लिये ज्ञानान्तर की जरूरत नहीं होती।[14] वह स्वयं ही अपने को भी विषय बनाता है। ज्ञान का स्वसंवेदन होता है। ज्ञान न केवल अर्थ को अवभासित करता है अपितु वह अपने आपको भी प्रकाशित करता है।

दिग्नाग प्रमाणसमुच्चय में ज्ञान के द्विविध पक्षों की चर्चा करते हैं–विषय पक्ष की और ज्ञान पक्ष की।[15] उनके अनुसार प्रत्येक ज्ञान अपने स्वरूप में अर्थाभास और स्वाभास लिये होता है। इस तरह प्रत्येक ज्ञान के दो पक्ष होते हैं–विषय की चेतना और उस चेतना की चेतना। और यह बात स्वसंवेदन की सत्ता को सिद्ध करती है। दिग्नाग का कहना है कि हर ज्ञान में विषय पक्ष और ज्ञान पक्ष दोनों होता है और यह न केवल विषय के आकार को लिये होता है बल्कि ज्ञान यानि कि स्वयं अपने आकार को भी। यदि ज्ञान केवल विषय के आकार को लिये हुए हो तथा स्वयं का नहीं तो विषयज्ञान और उस ज्ञान के ज्ञान में कोई अंतर नहीं होगा। दूसरी ओर यदि यह माना जाए कि ज्ञान में केवल स्वाकार होता है, ज्ञानाभास होता है, वस्तु का आकार नहीं होता है, उसका आभास नहीं होता है तो भी वस्तु के ज्ञान में तथा उस ज्ञान के ज्ञान में कोई अंतर नहीं रह जाएगा। अस्तु, यह मानना होगा कि प्रत्येक ज्ञान में दो पक्ष होते हैं–अर्थाभास और स्वाभास। अर्थात् ज्ञान न केवल विषय को अपितु स्वयं अपने को भी प्रकाशित करता है।

दिग्नाग स्वसंवेदन के सम्बन्ध में तर्क देते हुए वहीं आगे कहते हैं कि स्मृति का अस्तित्व भी इस बात को सिद्ध करता है कि ज्ञान न केवल अर्थाभास को लिये होता है अपितु वह स्वाभास को भी लिये होता है। दिग्नाग का कहना है कि स्मृति

के लिये न केवल वस्तु का होना आवश्यक होता है अपितु उसके ज्ञान का होना भी उतना ही आवश्यक होता है क्योंकि स्मृति पूर्वज्ञात वस्तु की ही न होकर उसके ज्ञान की भी होती है। हमें स्मरण न केवल वस्तु का अपितु उसके ज्ञान का होता है। अब यह बात जहाँ यह सिद्ध करती है कि प्रत्येक ज्ञान के दो रूप होते हैं वहीं यह भी सिद्ध करती है कि हमारा हर अनुभव स्वसंवित् होता है। स्मृति की संभावना को स्वीकार करने के लिये हमें यह मानना होगा कि हमें ज्ञान न केवल वस्तु का होता है अपितु उस ज्ञान का भी ज्ञान होता है। यदि ज्ञान की स्वसंविति नहीं मानी जाए तो स्मृति संभव नहीं है।[16]

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि स्मृति का तर्क केवल यह सिद्ध करता है कि वस्तु विषयक हमारे ज्ञान को ज्ञात होना चाहिए। यह बात यह नहीं सिद्ध करती है कि ज्ञान मात्र को स्वयंप्रकाश होना चाहिए तथा उसे उसी ज्ञान के द्वारा गृहीत होना चाहिए। ज्ञान अन्य ज्ञान द्वारा भी गृहीत होकर स्मृति का आपादन कर सकता है। बल्कि हम जानते हैं कि दिग्नाग से पूर्ववर्ती शबर और वात्स्यायन ने अपने-अपने भाष्यों में ज्ञान को अनात्मसंवेदन सिद्ध किया था। वात्स्यायन न्यायभाष्य में स्पष्ट कहते हैं कि ज्ञान का ज्ञान उस ज्ञान से न होकर मानस प्रत्यक्ष रूप ज्ञानान्तर से होता है। वात्स्यायन न्यायसूत्र-1/1/4 के भाष्य में कहते हैं कि पहले ज्ञाता को इन्द्रियों के माध्यम से व्यवसायात्मक ज्ञान होता है और तदुपरान्त मन से उसका अनुव्यवसाय होता है—सर्वत्र प्रत्यक्षविषये ज्ञातुरिन्द्रियेण व्यवसायः, पश्चान्मनसाऽनुव्यवसायः। पुनः न्यायसूत्र-2/1/19 के भाष्य में वात्स्यायन कहते हैं कि आत्मसमवायि होने से ज्ञान सुखादि की तरह (मानस प्रत्यक्ष द्वारा) गृहीत होता है—इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मसमवायाच्च सुखादिवद् गृह्यते। परपक्षियों द्वारा ज्ञान की परप्रकाशता के पक्ष में प्रस्तुत इस संभावित समाधान को ध्यान में रखते हुए दिग्नाग प्रमाणसमुच्चय में कहते हैं कि यदि ज्ञान को परप्रकाश मानते हुए यह कहा जाए कि एक ज्ञान का ज्ञान दूसरे ज्ञान से होता है तो फिर इस दूसरे ज्ञान के ज्ञान के लिये तीसरे और उसके लिये चौथे को मानना होगा और फलतः अनवस्था प्रसक्त होगी। दिग्नाग आगे कहते हैं कि जो बात सबसे अधिक दुष्कर होगी वह यह कि व्यक्ति एक ही चीज के ज्ञान पर अटका रह जायेगा तथा अन्य वस्तुओं का ज्ञान ही संभव नहीं हो पाएगा—विषयान्तरसंचार की व्याख्या ही नहीं हो पायेगी।[17] ज्ञान की परप्रकाशता के विरुद्ध दिग्नाग द्वारा उठायी गयी आपत्तियों को परवर्ती धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित प्रभृति ने अपने तर्कों से और पुष्ट किया। विषयान्तर संचार सम्बन्धी दिग्नाग के तर्क को धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित आदि ने और स्पष्ट करते हुए कहा कि यदि एक ज्ञान का ज्ञान दूसरे ज्ञान से माना जाए और दूसरे का तीसरे से

तब तो फिर एक विषय के ज्ञान से दूसरे विषय के ज्ञान पर पहुँचा ही नहीं जा सकता। धर्मकीर्ति प्रमाणवार्त्तिक में कहते हैं कि एक विषय के ज्ञान से दूसरे विषय के ज्ञान की ओर संचार के लिये यह आवश्यक है कि उस विषय के ज्ञान के ज्ञान के ज्ञान की परम्परा को विराम दिया जाए, उस कड़ी को तोड़ा जाए। अब जिस बिन्दु पर हम ज्ञान के ज्ञान के ज्ञान की इस श्रृंखला को तोड़ते हैं, उसे विराम देते हैं वहाँ उस श्रृंखला का अंतिम ज्ञान अज्ञात ही रह जाएगा। पर हम जानते हैं कि चूँकि सभी ज्ञानों का स्वरूप एक ही ढंग का होता है, अतः इस ज्ञान को भी स्मृत होने के लिए ज्ञात होना चाहिए। और यदि परपक्षियों का यह आग्रह है कि श्रृंखला के इस आखिरी ज्ञान का ज्ञान नहीं होता तब तो फिर उन्हें यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि ज्ञान अज्ञात ही रहता है, उसका ज्ञानान्तरग्रहण नहीं होता है। दूसरी तरफ यदि वे यह मानते हैं कि इस श्रृंखला के अंतिम ज्ञान का ग्रहण उसी ज्ञान से हो जाता है तब तो फिर यह ज्ञान की स्वसंवित्ति को ही स्वीकारना होगा।[18]

शान्तरक्षित के अनुसार यदि ज्ञान को स्वप्रकाश नहीं माना जाए तो दो परिणाम होंगे—या तो वस्तु का ग्रहण ही संभव नहीं होगा या फिर अनवस्था दोष प्रसक्त होगा तथा गोचरान्तरसंचार संभव नहीं होगा। यदि ज्ञान स्वयं अपना ग्रहण नहीं करता है तो उस ज्ञान के ज्ञान के लिये दूसरे की और उसके लिये तीसरे ज्ञान की आवश्यकता होगी परिणामतः अनवस्था प्रसक्त होगा और गोचरान्तरसंचार संभव नहीं होगा। और यदि यह मान लिया जाए कि ज्ञान भी जड़ वस्तुओं के समान परप्रकाश्य है तथा स्वप्रकाश नहीं है तब ऐसा अप्रत्यक्षगोचर ज्ञान भला वस्तु का ज्ञान कैसे करा सकता है। जो ज्ञान स्वयं अप्रकट है, अप्रकाशित है वह वस्तुओं को कैसे प्रकाशित कर पायेगा और वस्तुओं का प्रकाशन नहीं होगा तो ज्ञान होने का मतलब क्या रह जायेगा ? अर्थात्‌ ज्ञान की ही सिद्धि नहीं हो पायेगी। जब ज्ञान ही सिद्ध नहीं होगा, वह स्वयं अप्रकट और अप्रकाशित होगा तो वह वस्तुओं का-विषयों का-प्रकटन नहीं कर पायेगा और परिणामतः न तो ज्ञान या अनुभव प्रकाशित होगा और न विषय ही, समस्त जगत्‌ अंधकारमय हो जायेगा। इसलिये अनुभव को स्वप्रकाश मानना होगा, नहीं तो जगदान्ध्य प्रसंग होगा। जगदान्ध्य-प्रसंग के इस तर्क को वाचस्पति मिश्र ने स्वयंप्रकाश चित्‌ की सिद्धि हेतु अनेक जगह प्रयुक्त किया है और बाद में यह तर्क समूची परम्परा का प्रमुख तर्क बन जाता है। स्वप्रकाशता के पक्ष में एक अन्य महत्त्वपूर्ण तर्क देते हुए शान्तरक्षित कहते हैं कि ज्ञान को स्वप्रकाश नहीं मानने पर चेतन और जड़ का परपक्षियों द्वारा किया गया भेद ही समाप्त हो जायेगा क्योंकि अन्य से प्रकाशित होना तो जड़ वस्तु का धर्म है, अब यदि ज्ञान भी अन्य पर अपने ज्ञान के लिये आश्रित हो तो चेतन और अचेतन में क्या अंतर रह जायेगा ?[19]

शान्तरक्षित ने बौद्धविज्ञानवादी परम्परा के अनुकूल स्वसंवेदन को नये सिरे से परिभाषित किया। शान्तरक्षित के इस प्रयास से परवर्ती दर्शन में स्वप्रकाशता को परिभाषित करने के सम्प्रदायानुकूल प्रयास हुए। तत्त्वप्रदीपिकाकार ने अपने ग्रन्थ में स्वयंप्रकाशता के एकादश लक्षणों को उपन्यस्त किया। शान्तरक्षित स्वसंवेदन को जिस ढंग से परिभाषित करते हैं उसमें कुमारिल, जिनके मत का तत्त्वसंग्रह में उन्होंने सविस्तार उल्लेखपूर्वक खंडन किया है, द्वारा की गयी उस आलोचना से बच निकलने का प्रयास दिखता है जिसमें बौद्धों के स्वसंवेदन पर कर्तृ-कर्म विरोध का आक्षेप लगाया गया है।[20] आखिर ज्ञान स्वयं अपने का ग्रहण कैसे कर पाता है ? संभवतः इसीलिये शान्तरक्षित कहते हैं कि स्वसंवेदन का तात्पर्य है (1) विज्ञान को अपने प्रकाशन के लिये अन्य विज्ञान की अपेक्षा नहीं होती है और (2) फिर भी यह अज्ञात नहीं रहता है। अर्थात् विज्ञान का स्वरूप ही ऐसा है कि वह बिना किसी अन्य द्वारा गृहीत हुए स्वतः प्रकाशित होता है, अप्रकाशित नहीं रहता।[21]

ज्ञान की स्वप्रकाशता को बौद्ध **स्वसंवेदन** या **स्वसंविति** कहते हैं। ज्ञान या संविद् चूँकि स्वयं अपने को विषय बनाता है अतः वह स्वसंविद्, स्वसंवेदन या आत्मसंवेदन है। धर्मकीर्ति ने **स्वसंवेदन** को प्रत्यक्ष का एक भेद माना है। धर्मकीर्ति न्यायबिन्दु में कहते हैं—सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनम्।[22] समस्त चित्त तथा चैत्त पदार्थों का आत्मसंवेदन या स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है। चित्त से तात्पर्य हमारे विचारों-विज्ञानों से है जो कि वस्तुओं के ग्राहक होते हैं दूसरी ओर चैत्त सुखादि भावनायें हैं जो कि बाह्य वस्तुओं के ग्राहक न होकर स्वयं चित्त या विज्ञान की ही विशेष अवस्थाओं के ग्राहक हैं। इस तरह हमारे समस्त ज्ञान, विज्ञान का स्वसंवेदन होता है। धर्मोत्तर कहते हैं कि वस्तुतः चित्त की कोई भी ऐसी अवस्था नहीं है जिसका स्वसंवेदन रूप प्रत्यक्ष नहीं होता—नास्ति सा काचित् चित्तावस्था यस्याम् आत्मनः संवदेनं न प्रत्यक्षं स्यात्।[23] हर संवेदन का स्वसंवेदन होता है अर्थात् हर संवेदन जहाँ अर्थ का ग्रहण करता है वहीं वह स्वयं अपने को भी आभासित करता है। किसी चीज का ज्ञान स्वयं उस ज्ञान भी ज्ञान है। हमें जब भी किसी चीज का ज्ञान होता है, उस ज्ञान का भी ज्ञान होता है। अब यह जो ज्ञान स्वयं अपने आपको प्रकाशित करता है, इसी को बौद्ध आचार्य स्वसंवेदन कहते हैं। दिग्नाग स्वसंवेदन को मानस प्रत्यक्ष का ही भेद मानते थे। दिग्नाग के अनुसार चूंकि स्वसंवेदन के लिये इन्द्रियों की मध्यस्थता की जरूरत नहीं होती है, अतः स्वसंवेदन मानसप्रत्यक्षरूप है—स्वसंवेदनमिन्द्रियानपेक्षत्वाद् मानसं प्रत्यक्षम्।[24] किसी भी संवेदन का—ज्ञान का—जो ग्रहण होता है वह साक्षात् होता है और चूंकि यह स्वसंवेदन किसी भी प्रकार के विकल्प से रहित होता है अतः यह प्रत्यक्ष है। प्रमाणसमुच्चय- 1/7 में दिग्नाग

कहते हैं कि सविकल्पक ज्ञान भी जहाँ तक इसके स्वसंवित्ति का पक्ष है, एक अर्थ में प्रत्यक्षरूप है क्योंकि इसका स्वयं का ग्रहण बिना किसी विकल्प के साक्षात् होता है। इस प्रकार बौद्ध दार्शनिकों का मत है कि सभी मानसिक घटनायें, चेतना की सारी अवस्थायें—संवित् मात्र का स्वसंवेदन होता है, वे प्रत्यक्षात्मक होती हैं। हमारे सारे इन्द्रियप्रत्यक्ष, विकल्प, अनुमान आदि सभी इस अर्थ में प्रत्यक्षरूप हैं कि इनका स्वसंवेदन होता है। जिस प्रकार दीपक प्रकाशरूप होने के कारण अपने स्वरूप को स्वयं प्रकाशित करता है तथा अपने प्रकाशन के लिये अन्य दीपक की अपेक्षा नहीं रखता, उसी प्रकार विज्ञान आदि भी संविद् रूप होने के कारण अपने रूप का स्वयं संवेदन करते हैं तथा अपने आपको जानने के लिये अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखते। धर्मकीर्ति स्वसंवेदन प्रत्यक्ष को मानस प्रत्यक्ष का ही रूप नहीं मानते। वह उसे मानस प्रत्यक्ष से भिन्न प्रत्यक्ष का एक स्वतंत्र भेद मानते हैं।[25] जैसा कि पीछे बताया गया है धर्मकीर्ति के अनुसार हमारे सभी चित्त और चैत्तों का आत्मसंवेदन होता है। न केवल हमारे विज्ञानों का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है अपितु सुखादि मानसिक भावों का भी स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है। हर ज्ञान अपना ज्ञान लिये होता है। हर चेतना आत्मचेतना लिये होती है। संवित् स्वसंवित् होता है। स्वसंवेदन प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष के चतुर्विध प्रकारों में समाविष्ट करते हुए धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक में कहते हैं कि रागद्वेष, सुखदुःखादि समस्त चित्त और चैत्तसिक धर्मों का प्रत्यक्ष स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कहलाता है—

अशक्यसमयो ह्यात्मा रागादीनामनन्यभाक्।
तेषामतः स्वसंवित्तिर्नाभिजल्पानुषङ्गिणी।।[26]

प्रत्यक्ष ज्ञान की सभी विशेषतायें—अर्थसाक्षात्कारित्व, कल्पनारहितत्व और अभ्रान्तता चूँकि स्वसंवेदन में स्पष्ट है, अतः वह प्रत्यक्ष है।[27] यहाँ यह बात द्रष्टव्य है कि बौद्ध दार्शनिक न केवल ज्ञान को अपितु सुख-दुःखादि मानसिक अवस्थाओं का भी स्वसंवेदन मानते हैं। वस्तुतः इसके पीछे उनका अपना ही कारण है। धर्मकीर्ति का कहना है कि सुखादि मानसिक अवस्थायें ज्ञानस्वरूप ही हैं। सुखादि को ज्ञान रूप मानने के पीछे धर्मकीर्ति का जो तर्क है वह यह कि सुखादि विज्ञानाभिन्न सामग्री से उत्पन्न होते हैं। अर्थात् जिस सामग्री से सुख-दुःखादि आन्तरिक भाव उत्पन्न होते हैं उन्हीं सामग्रियों से ज्ञान भी उत्पन्न होता है, अतः सुखादि ज्ञान के ही रूप हैं—

तदतद्रूपिणो भावास्तदतद्रूपहेतुजाः।
तत्सुखादि किमज्ञानं विज्ञानाभिन्नहेतुजम्।।[28]

वस्तुतः सुख, दुःखादि विज्ञान (चित्त) की ही विशेष अवस्थायें हैं इसीलिये ये

चैत्त हैं।[29] सुखादि को ज्ञान का ही आकार सिद्ध करने के लिये बौद्ध दार्शनिक अत्यधिक आतुर हैं। वस्तुतः नैयायिकों के समान वे यह नहीं मानते हैं कि सुखादि ज्ञान से भिन्न हैं और वे स्वप्रकाश नहीं है। बल्कि सुखादि भी ज्ञानरूप हैं, बाह्य न होकर आंतरिक हैं तथा स्वप्रकाश हैं–

तस्मात् सुखादयोऽर्थानां स्वसंक्रान्तावभासिनाम्।
वेदकाः स्वात्मनश्चैषामर्थेभ्यो जन्म केवलम्।।[30]
तस्मात् त आन्तरा एव, संवेद्यत्वाच्च चेतनाः।[31]

वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका में बौद्धों के इस मत की आलोचना की है। इसी प्रकार जयन्त का कहना है कि सुखदुःखादि ज्ञान रूप नहीं हैं– न बोधरूपाः सुखादयः।[32] सुखादि को विज्ञान का ही रूप सिद्ध करने के लिये प्रयुक्त **अभिन्नहेतुजत्व** हेतु का खण्डन करते हुए वाचस्पति कहते हैं कि "यह हेतु (अभिन्नहेतुजत्व) असिद्ध है, क्योंकि चन्दन के स्पर्शज्ञान की उत्पत्ति में जो सामग्री अपेक्षित है वही चन्दन से उत्पन्न होने वाले सुख की उत्पत्ति में नहीं, यदि ऐसा होता तो जिस शीत से आतुर व्यक्ति को चन्दन और स्पर्शेन्द्रिय के संयोग से शीत स्पर्श का ज्ञान होता उसे सुख का भी अनुभव होता।"[33] यहाँ धर्मकीर्ति द्वारा प्रस्तुत पक्ष की विशिष्टता स्पष्ट देखी जा सकती है। धर्मकीर्ति का कहना है कि सुखादि का होना और उनका ज्ञात होना दोनों साथ ही होता है। आखिर हम सुख और सुख ज्ञान को कैसे अलग-अलग कर सकते हैं ? वस्तुतः सुख-दुःख ज्ञान रूप ही हैं। हमारे अंदर सुख या दुःख उत्पन्न हों और हमें उसका ज्ञान न हो यह कहना वैसा ही होगा जैसे किसी को सिर में दर्द हो और उसे दर्द का ज्ञान न हो। वस्तुतः सर का दर्द और उस दर्द का अनुभव एक ही है। सुख और सुखज्ञान एक ही है। सुख या दुःख को तद्विषयक् अनुभूति से पृथक् नहीं किया जा सकता। अननुभूत सुख असंभव है। अब जो स्थिति सुखादि चैत्तों की है वही चित्त की है। सभी चित्त और चैत्त का स्वसंवेदन होता है। सुख दुःख के समान ज्ञान का स्वसंवेदन होता है। अज्ञात ज्ञान अननुभूत सुख के समान ही असंभव है। जिस तरह सुखादि का होना और उनका ज्ञान होना दोनों एक ही साथ होता है उसी तरह ज्ञान का होना और उसका ज्ञात होना एक साथ ही होता है। जिस तरह मुझे दर्द हो और उस दर्द का ज्ञान न हो–यह असंभव है, उसी तरह मुझे ज्ञान हो और उस ज्ञान का ज्ञान न हो–यह असंभव है। ज्ञान स्वप्रकाश होता है, वह स्वसंवित् होता है। ज्ञान ज्ञात होने के लिये ज्ञानान्तर की प्रतीक्षा नहीं करता है, वह उसी ज्ञान द्वारा स्वप्रकाशित होता है।

संदर्भ एवं टिप्पणी

1. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक, 2/354.
2. धर्मकीर्ति के प्रमाणविनिश्चय की इस पंक्ति को बौद्ध और बौद्धेतर दोनों ही परम्परा के आचार्यगण बहुशः उद्धरित करते हैं। इस संदर्भ में देखें बी. के. मतिलाल कृत परसेप्शन का पृ. 14 और न्यायभूषण के पृ. 107 पर योगीन्द्रानन्द की पाद टिप्पणी। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि प्रमाणवार्त्तिक, 2/389 पर एक महत्त्वपूर्ण कारिका है—'भेदश्च भ्रान्तविज्ञानैर्दृश्यतेन्दाविवाद्वये। संवित्तिनियमो नास्ति भिन्नयोर्नीलपीतयोः।।' वाचस्पति मिश्र ने भामती- 2/2/28 में इस कारिका की प्रथम पंक्ति के साथ **सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः** इस पंक्ति को उद्धरित किया है। भामती में पाठ है—'सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः। भदेश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्यतेन्दाविवाद्वये।।'। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रमाणवार्त्तिक के किसी पाठ में 2/389 पर यही कारिका रही हो।
3. दिग्नाग, प्रमाणसमुच्चयवृत्ति, प्रत्यक्षपरिच्छेद- 11.
4. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक, 2/337.
5. यहाँ एम. हट्टोरी कृत **दिग्नाग, ऑन परसेप्शन,** पृ. 101 से उद्धरित।
6. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक, 2/426.
7. देखें, मनोरथनन्दिवृत्ति, प्रमाणवार्त्तिक- 2/426 पर।
8. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक, 2/444.
9. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक, 2/440.
10. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक, 2/479.
11. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक, 2/327.
12. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक, 2/329.
13. देखें, धर्मकीर्ति, प्रमाणविनिश्चय, 1/55.
    साथ ही तुलनीय शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह- 2073 की इस पंक्ति से— अप्रसिद्धोपलम्भस्य नार्थवित्तिः प्रसिद्ध्यति।
14. न चागृहीते ज्ञानाख्ये प्रकाश्योऽर्थोऽवधार्यते।
    तदधीनप्रकाशत्वाद् दीपाभासे यथा घटः।।
    ज्ञानस्योत्पद्यमानस्य प्रतिबन्धो न कश्चन।
    न चाप्रकाशरूपत्वं येनास्याग्रहणं भवेत्।।
    प्राक् चार्थग्रहणादिष्टा तस्योत्पत्तिस्तदैव च।
    संवेदनं भवेदस्य न चेत् कालान्तरेऽपि न।।
    किं हि तस्य भवेदूर्ध्वं प्राक् च नासीन्न येन तत्।
    पूर्वं गृहीतं पश्चाच्च गृहीतमिति भाष्यते।।
    ज्ञानान्तरस्य चोत्पत्तिं प्रकाशो न प्रतीक्षते।
    तस्य तस्यापि चान्येन संवित्तावस्थितिर्भवेत्।।
    कुमारिलभट्ट, श्लोकवार्त्तिक-शून्यवाद-22, 24, 25, 26, 27.
    यहाँ यह द्रष्टव्य है कि कुमारिल ने श्लोकवार्त्तिक के शून्यवाद परिच्छेद में बौद्धों के स्वयंप्रकाशता सम्बन्धी मत को पूर्वपक्ष के रूप में बड़े ही विद्वता और विशदता से पूरी ईमानदारी के साथ प्रस्तुत किया है। कुमारिल के समान ही वाचस्पति, भासर्वज्ञ और

जयन्तभट्ट पूर्वपक्ष के रूप में बौद्धमत की प्रस्तुति में पूरा न्याय करते हैं। कई स्थितियों में तो यह कहा जा सकता है कि बौद्धों के पक्ष को बौद्धेतर दार्शनिक स्वयं उनकी अपेक्षा अधिक अच्छे ढंग से प्रस्तुत करते हैं।

15. दिग्नाग, प्रमाणसमुच्चयवृत्ति, 1/11.

16. एम. हट्टोरी, **दिग्नाग, ऑन परसेप्शन**, पृ. 29-30. साथ ही देखें, हट्टोरी की टिप्पणी, वहीं पृ. 106-113.

17. ज्ञानान्तरेणानुभवेऽनिष्ठा तत्रापि हि स्मृतिः।
विषयान्तरसञ्चारस्तथा न स्यात् चेष्यते।।
दिग्नाग, प्रमाणसमुच्चय, 1/12.

18. विषयान्तरसञ्चारे यद्यन्त्यं नानुभूयते।
परानुभूतवत् सर्वाननुभूतिः प्रसज्यते।।
आत्मानुभूतं प्रत्यक्षं नानुभूतं परैः यदि ?
आत्मानुभूति सा सिद्धा कुतो येनैवमुच्यते।।
धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक, 2/539-40.

19. प्रकृत्या जड़रूपत्वान्नास्यात्मानुभवो यदि।
ज्ञानसंवेदनाभावात् परार्थानुभवस्तदा।।
अर्थस्यानुभवो नाम ज्ञानमेवाभिधीयते।
तस्याप्रसिद्धिरूपत्वे प्रसिद्धिस्तस्य का परा।।
ज्ञानान्तरेणानुभवे सोऽर्थः स्वानुभवे सति।
न सिद्धः सिद्ध्यसंसिद्धेः कदा सिद्धो भवेत्पुनः।।
तज्ज्ञानज्ञानजातौ चेदसिद्धः स्वात्मसंविदि।
परसंविदि सिद्धस्तु स इत्येतत् सुभाषितम्।।
तस्याप्यनुभवेऽसिद्धे प्रथमस्याप्यसिद्धता।
तत्रान्यसंविदुत्पत्तावनवस्था प्रसज्यते।।
गोचरान्तरसञ्चारस्तथा न स्यात् स चेक्ष्यते।
गोचरान्तरसञ्चारे यदन्त्यं तत् स्वतोऽन्यतः।।
न सिद्धमस्य चासिद्धौ सर्वेषामप्यसिद्धता।
अतश्चान्ध्यमशेषस्य जगतः सम्प्रसज्यते।।
अन्त्यस्य तु स्वतःसिद्धावन्येषामपि सा ध्रुवम्।
ज्ञानत्वादन्यथा नैषां ज्ञानत्वं ते घटादिवत्।।
शान्तरक्षित, तत्त्वसंग्रह, 2020-2027.

20. शान्तरक्षित तत्त्वसंग्रह-2012 से 2015 में कुमारिल के श्लोकवार्तिक (शून्यवाद परिच्छेद) के 184 से 188 तक के श्लोकों को पूर्वपक्ष के रूप में उद्धरित करते हैं। पश्चात् इस मत का खंडन करते हैं। कुमारिल के मत की विस्तृत समीक्षा के लिये देखें इसी प्रबन्ध का पंचम अध्याय।

21. स्वरूपवेदनायान्यद् वेदकं न व्यपेक्षते।
न चाविदितमस्तीदमित्यर्थोऽयं स्वसंविदः।।
शान्तरक्षित, तत्त्वसंग्रह, 2011.

22. धर्मकीर्ति, न्यायबिन्दु, 1/10.
23. धर्मोत्तर, न्यायबिन्दुटीका, 1/10.
24. दिग्नाग, प्रमाणसमुच्चयवृत्ति, 1/6.
25. धर्मकीर्ति, न्यायबिन्दु, 1/7-11.
26. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक, 2/249.
27. तच्च ज्ञानरूपवेदनमात्मनः साक्षात्कारि निर्विकल्पकम् अभ्रान्तं च। ततः प्रत्यक्षम्।
    धर्मोत्तर, न्यायबिन्दुटीका, 1/10.
28. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक, 2/251. साथ ही देखें, वहीं, 2/250-54.
29. चित्तम् अर्थमात्रग्राहि। चैत्ता विशेषावस्थाग्राहिणः सुखादयः।
    धर्मोत्तर, न्यायबिन्दुटीका, 1/10.
30. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक, 2/266.
31. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक, 2/274.
32. जयन्तभट्ट, न्यायमञ्जरी (प्रथम भाग), पृ. 118.
33. अभिन्नहेतुजत्वासिद्धेः। न खलु यैव चन्दनस्पर्शज्ञानस्योत्पत्तौ सामग्री सैव सुखस्यापीति, अस्ति हि शीतार्तस्यापि चन्दनेन्द्रियसंयोगात् शीतस्पर्शज्ञानमिति तद्वदेवास्य सुखमपि भवेत्।
    वाचस्पति मिश्र, न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, 1/1/4., पृ. 98.

❐

4

भाट्ट मत में ज्ञान का स्वरूप एवं आत्मा

मीमांसा दर्शन अपने वस्तुवाद के लिये प्रसिद्ध है। शबर भाष्य में और कुमारिल वार्तिक में बौद्धविज्ञानवाद का जमकर खंडन करते हैं। शबर का कहना है कि ज्ञान हमेशा अर्थविषयक ही होता है—अर्थविषया हि प्रत्यक्षाबुद्धिः।[1] बौद्धविज्ञानवादियों के विपरीत मीमांसक मानते हैं कि ज्ञान आत्मसंवेदन न होकर अनात्मसंवेदन है। पार्थसारथि मिश्र न्यायरत्नाकर में कहते हैं कि ज्ञान अपने से इतर अन्यवस्तु को प्रकाशित करता है—प्रतीति वस्त्वन्तरप्रकाशस्वभावा।[2] इसी तरह सुचरित मिश्र कहते हैं कि ज्ञान स्वयं को न प्रकाशित कर अर्थ को प्रकाशित करता है।[3] ज्ञान जहाँ एक ओर अपने से पृथक् वस्तु को संकेतित करता है वहीं एक ज्ञाता की अपेक्षा रखता है जहाँ वह स्वयं आश्रित हो। ज्ञान हमेशा किसी विषय का होता है और किसी ज्ञाता को होता है। एक तरह से देखा जाय तो ज्ञान इसी ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्ध को पैदा करता है। ज्ञान के कारण ज्ञाता को ज्ञेय की मानसिक प्राप्ति होती है। उसके कारण अभी एक जो वस्तु ज्ञाता के लिये अज्ञात और अप्रकट होता है वह प्रकट हो जाता है। हम कह सकते हैं कि ज्ञान विषय को प्रकट कर देता है, उसमें प्राकट्य का फल उत्पन्न करता है। यदि ज्ञान का स्वरूप उपर्युक्त ढंग का है तो जाहिर है कि ज्ञान को कर्त्ता, क्रिया, कर्म और फल मॉडल पर समझना अधिक उचित होगा। मीमांसकों ने यही किया। उनके अनुसार ज्ञान क्रिया है। पार्थसारथि मिश्र शास्त्रदीपिका में कहते हैं कि ज्ञान आत्मा की सकर्मक क्रिया है जो विषय में उसी प्रकार फल उत्पन्न करती है जिस प्रकार पकाने की क्रिया चावल में विक्लित्ति रूप फल उत्पन्न करती है।[4] ज्ञान को आत्मा की सकर्मक क्रिया मानकर भाट्ट दार्शनिक ज्ञान की ज्ञातृसापेक्षता और विषयप्रवणता की व्याख्या अन्य दर्शनों से अपेक्षाकृत अधिक अच्छे ढंग से कर लेते हैं। ज्ञान रूपी सकर्मक क्रिया को जहाँ अपने अधिष्ठान के रूप में ज्ञाता (आत्मा) की अपेक्षा होती है वहीं उसका एक विषय होता है जो कि उसका कर्म है और ज्ञान इस कर्मभूत विषय में फल उत्पन्न करता है।

कुमारिल ने ज्ञान और विषय के बीच अभेदता के सम्बन्ध का खण्डन करते हुए कहा था कि इनके बीच विषयत्व या विषयता का सम्बन्ध है।[5] ज्ञान में होने वाली इस विषयता या विषयी-विषयभाव की भी व्याख्या भाट्टों ने कर्तृ-कर्म-क्रिया मॉडल द्वारा ही किया है। पार्थसारथि विषयत्व का लक्षण देते हुए कहते हैं कि ज्ञानक्रियाफलभागित्व ही विषयत्व है और विषयनिष्ठ इस फल का जनक विषयी है।[6] भाट्ट दार्शनिकों का कहना है कि ज्ञान द्वारा विषयी-विषय सम्बन्ध उत्पन्न होता है और विषय के प्रति एक तरह की ज्ञातता का भाव उत्पन्न होता है। अब, विषय में उत्पन्न इस ज्ञातता की या विषयी-विषय सम्बन्ध की तब तक उपपत्ति नहीं हो सकती जब तक हम इसके कारण के रूप में किसी क्रिया को न स्वीकार करें, और यही क्रिया ज्ञान है। इस तरह से ज्ञान आत्मा की क्रिया है।

ज्ञान को आत्मा की क्रिया मानने के पीछे भाट्टों के अपने ही तर्क हैं। पर जो तर्क सबसे महत्त्वपूर्ण दिखता है वह यह कि ज्ञान को क्रियात्मक मानने पर ही विषय में उत्पन्न भासन, प्रकाशन, प्राकट्य, दृष्टत्व या ज्ञातत्व जो भी कहें, की व्याख्या की जा सकती है। ज्ञान होने पर विषय में **यह मुझे ज्ञात हो गया** इस की प्रतीति होती है। ज्ञान अपने विषय में इसी ज्ञातता का धर्म **कि ज्ञातोऽयं मया** उत्पन्न करता है। ज्ञान को क्रियात्मक मानने पर ही वस्तुओं में उत्पन्न होने वाले इस **ज्ञातत्व** फल की व्याख्या की जा सकती है। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि ज्ञान का कार्य विषय को प्रकाशित करना है, न कि उसमें नया धर्म उत्पन्न करना। इस पर भाट्टों का कहना है कि यह अर्थ का भासन ही तो उसका ज्ञातत्व या दृष्टत्व है जो उसमें उत्पन्न एक नया धर्म है। वस्तुतः भाट्ट मीमांसकों ने यह महसूस किया कि वस्तुवाद की रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि ज्ञात वस्तु और अज्ञात वस्तु में अंतर रहे। जिस प्रकार पका हुआ चावल बिन पके हुए चावल से अलग होता है उसी प्रकार ज्ञात विषय अज्ञात विषय से अलग होता है। अज्ञात विषय से ज्ञात विषय की भिन्नता यही होती है कि उसमें **ज्ञातत्व या ज्ञातता** का एक नया धर्म रहता है। इसलिये वस्तुवाद की रक्षा के लिए भाट्ट मीमांसकों ने यह आवश्यक समझा कि ज्ञान होने पर विषय में ज्ञातता नामक एक धर्म (फल) की उत्पत्ति मानी जाए। अब विषय में उत्पन्न होने वाला ज्ञातता रूप यह फल बिना किसी क्रिया के संभव नहीं है। ज्ञातता रूप फल जिस क्रिया के कारण है वही क्रिया ज्ञान है। आत्मा इस ज्ञान क्रिया का कर्त्ता है। ज्ञान क्रियारूप होने से अज्ञात विषय को ज्ञात के रूप में रूपान्तरित कर देता है। इस तरह से ज्ञात वस्तु में होने वाले **ज्ञातता** की अभिनव कल्पना और उसके कारण के रूप में ज्ञान को क्रिया मानना—इन दोनों के ही पीछे वस्तुवाद को बनाये रखने की मीमांसकों की अदम्य आकांक्षा ही है।

पुनः ज्ञान को द्रव्य, गुण या सम्बन्ध के बजाए आत्मा की क्रिया मानने से मीमांसक कई अन्य समस्याओं को भी सुलझा देते हैं। उदाहरण के लिये ज्ञान की विषयता की समस्या को लिया जाए। सभी दार्शनिक यह स्वीकार करते हैं कि ज्ञान किसी न किसी विषय का होता है और न्याय-वैशेषिक जैसे वस्तुवादी दर्शनों को तो यह मानना ही होगा कि ज्ञान बिना विषय के संभव नहीं है। अब ज्ञान की अनिवार्य पराभिमुखता और सविषयकता की व्याख्या उसे अकर्मक गुण मानने के बदले सकर्मक क्रिया मानकर ही की जा सकती है। ज्ञान को आत्मा का गुण मान लेने पर और उसे क्रिया रूप नहीं मानने पर उसके लिये किसी विषय के संदर्भ की कोई अपेक्षा नहीं रह जाती। दूसरी ओर ज्ञान को आत्मा की सकर्मक क्रिया मान लेने पर ज्ञान में ज्ञाता आत्मा और ज्ञान के अतिरिक्त कर्म के रूप में एक विषय का भी होना आवश्यक हो जाता है। पुनः ज्ञान को आत्मा की क्रिया मानने से ज्ञान में आत्मा की सक्रिय साझेदारी की व्याख्या अधिक अच्छे ढंग से होती है। न्याय की तरह यदि ज्ञान को आत्मा का गुण मात्र माना जाए और उसे क्रियारूप नहीं माना जाए तो आत्मा के ज्ञातृत्व का मतलब ही क्या रह जाता है ? मन, इन्द्रिय और विषय के साथ संयोग होने पर आत्मा में ज्ञान एक तरह से यान्त्रिक ढंग से उत्पन्न हो जाता है। दूसरी ओर मीमांसकों के अनुसार आत्मा ज्ञानरूपी क्रिया का सक्रिय कर्त्ता है जो विषयों को अज्ञात से ज्ञात बनाता है। अर्थात् आत्मा संवेदनों का ग्राहक मात्र न होकर उन्हें उत्पन्न करने वाला है। **'मैं जानता हूँ'** इस तरह की ज्ञाता के अंदर होने वाली प्रतीति ज्ञान में होने वाली उसकी इस सक्रिय साझेदारी को सही ही अभिव्यक्त करती है।

इन सब कारणों से भाट्ट दार्शनिकों का कहना है कि ज्ञान आत्मा की क्रिया है। सुचरित मिश्र काशिका में कहते हैं कि जब ज्ञाता **'मैं जानता हूँ'** इस तरह के कथनों का प्रयोग करता है तो ऐसा प्रयोग यही सिद्ध करता है कि जानना एक क्रिया है जिसका कर्त्ता आत्मा और विषय कर्म है—अस्ति कश्चिदात्मसमवायी ज्ञानसंवेदनादिपर्यायवाच्यो जानातिधातूपादानः क्रियाभेदो यस्मिन्नर्थानां प्राप्तिकर्मता।[7] वस्तुतः ज्ञान द्वारा विषय की एक तरह से प्राप्ति होती है। यह जो अर्थ का अधिगमन या अवगमन है वह गमन क्रिया के समान ही क्रियारूप है। विषय की अवगति की व्याख्या हेतु अवगति के कारणरूप ज्ञान को क्रिया मानना होगा। यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु पर ध्यान देना आवश्यक होगा। ज्ञान को क्रिया मानने के पीछे कुमारिल की अपनी व्याख्या है। कुमारिल का कहना है कि जो कुछ भी धात्वर्थ में प्रयुक्त होता है वह क्रिया है—क्रिया धात्वर्थमात्रम्। अब ज्ञान शब्द भी चूँकि धातु अर्थ में प्रयुक्त होता है अतः वह क्रिया है। कुमारिल कहते हैं कि क्रिया के लिए यह जरूरी नहीं

है कि वह गति या स्पंदन रूप हो। इस सम्बन्ध में वे वैशेषिकों के इस मत का खंडन करते हैं कि परिस्पन्द या गति ही क्रिया का एक रूप है—न परिस्पन्द एवैकः क्रिया नः कणभोजिवत्। धात्वर्थ मात्र के क्रिया होने के कारण भाट्टों ने ज्ञान को क्रिया माना।[8]

कुछ दार्शनिक ज्ञान को सम्बन्ध मानते हैं। इनके अनुसार ज्ञान वस्तुतः ज्ञाता और ज्ञेय के सम्बन्ध का ही नाम है। एक तरह से देखा जाए तो यह बात उचित भी लगती है। ज्ञान में ज्ञाता की ज्ञेय के प्रति आप्त बुद्धि होती है। ज्ञाता का ज्ञेय के साथ यह जो सम्बन्ध है, वही ज्ञान है। भाट्ट दार्शनिक इस तरह के किसी मत का खण्डन करते हैं। उनका मानना है कि ज्ञान सम्बन्ध नहीं है। यह सही है कि ज्ञान ज्ञाता को ज्ञेय से सम्बन्धित करता है और यह भी सही है कि ज्ञान में ज्ञाता ज्ञेय से सम्बन्धित होता है। ज्ञाता और ज्ञेय के बीच इस तरह का एक सम्बन्ध होना जरूरी है। पार्थसारथि कहते हैं कि यह सम्बन्ध व्याप्तृत्व-व्याप्यत्व सम्बन्ध होता है। वे ज्ञाता और ज्ञेय के बीच इस तरह के सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं। पर पार्थसारथि का कहना है कि ज्ञाता और ज्ञेय के बीच इस तरह का सम्बन्ध ज्ञान न होकर उसका फल है। ज्ञान पूर्ववर्ती है और उसके कारण ही ज्ञाता और ज्ञेय के बीच सम्बन्ध की उत्पत्ति होती है। इस तरह पार्थसारथि का मानना है कि ज्ञान की प्रक्रिया में ज्ञाता और ज्ञेय के बीच जो सम्बन्ध दिखता है वस्तुतः वह ज्ञान न होकर ज्ञान क्रिया का फल है।[9] कुमारिल का तो यहाँ तक कहना है कि वस्तुतः सारे सम्बन्ध क्रियाकर्तृसम्बन्ध पर आधारित होते हैं। ऐसा कोई भी सम्बन्ध नहीं है जो क्रियाकर्तृसम्बन्ध पर आधारित न हो—न क्रियाकर्तृसम्बन्धादृते सम्बन्धनं क्वचित्।[10] अस्तु, ज्ञान सम्बन्ध नहीं है। वह क्रिया है।

ज्ञान जहाँ एक ओर अपने विषय को निर्दिष्ट करता है वहीं अपने आश्रय के रूप में एक ज्ञाता आत्मा की अपेक्षा रखता है। हर क्रिया का कोई न कोई कर्त्ता होता है। ज्ञान क्रिया का कर्त्ता आत्मा है। शबर कहते हैं कि ज्ञान क्रिया के कर्तृत्व के लिये ज्ञान से भिन्न एक आत्मा को मानना होगा। जानाति जैसे शब्द यह सूचित करते हैं कि कोई कर्त्ता है जिसके बारे में जानाति (जानता है) इस क्रिया का प्रयोग किया गया है।[11] यह आत्मा शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि से भिन्न नित्य और चेतन द्रव्य है।[12] चेतना या ज्ञान आत्मा का स्वरूप है, उसका अनिवार्य धर्म है। शरीरादि से पृथक् एक नित्य चेतन तत्त्व को स्वीकार करना मीमांसकों के लिये अत्यावश्यक है। वेद यज्ञकर्त्ता के स्वर्गगमन की बात करते हैं। अब शरीर तो मृत्यु के बाद नष्ट हो जाता है, अतः शरीर से पृथक् एक नित्य आत्मा को मानना होगा जो स्वर्गगमन करता है। यदि इस तरह के किसी आत्मा की सत्ता नहीं मानी जाएगी तो वेदवचन अप्रामाणिक

हो जायेंगे और 'स्वर्गकाम' वाले सारे विधिवाक्य व्यर्थ तथा मृषा हो जायेंगे। अतः कुमारिल कहते हैं कि श्रुति के प्रामाण्य की रक्षा के लिये आत्मा की सत्ता को मानना जरूरी होगा। वस्तुतः देखा जाए तो सारे वैदिक कर्मकाण्ड शरीरादि से भिन्न नित्य आत्मा की पूर्वापेक्षा रखते हैं।[13]

सभी मनुष्यों को अपने-अपने आत्मा का स्पष्ट भान होता है। हर मनुष्य को मैं या अहम् की प्रतीति सुस्पष्ट होती है। कुमारिल का कहना है कि इस अहम् प्रत्यय का विषय आत्मा ही है। 'अहम् प्रत्यय' का यह स्वभाव है कि वह ज्ञातृविषयक ही हो सकता है। अतः हर मनुष्य को साक्षात् रूप से होने वाले अहम् के बोध में जिस चीज का ज्ञान होता है वह शरीर, इन्द्रियादि से भिन्न **ज्ञाता** आत्मा है। कुमारिल का कहना है कि **'अहं वेद्मी'** में अहं प्रत्यय ज्ञाता को सूचित करता है। यह ज्ञातृत्व ज्ञान से पृथक् एक स्थिर ज्ञाता रूप आत्मा को मानने पर ही उपपन्न हो सकता है।[14] पुनः न केवल ज्ञान अपितु शरीर और इन्द्रियादि भी इस अहंप्रत्यय के विषय नहीं हो सकते, क्योंकि अहम् प्रत्यय ज्ञातृविषयक होता है और शरीर-इन्द्रियादि ज्ञाता नहीं हो सकते। शरीर-इन्द्रियादि यावत् आत्मभिन्न वस्तुयें इसलिये भी अहंप्रत्ययवेद्य नहीं हैं क्योंकि इनके प्रति इदं और मम की बुद्धि होती है। अतः अहम् प्रत्यय के विषय के रूप में शरीरादि से पृथक् आत्मा की सत्ता माननी होगी।[15]

आत्मा के संबंध में भाट्ट दार्शनिकों की सबसे बड़ी विलक्षणता यह है कि वे आत्मा को नित्य और विभु मानने के बाद भी उसे कर्त्ता और भोक्ता मानते हैं। कुमारिल श्लोकवार्त्तिक के **आत्मवाद** में इस प्रश्न की विस्तार से चर्चा करते हैं कि आत्मा विभु होने के बाद भी कैसे कर्त्ता हो सकता है। जैसा कि पीछे हम लोगों ने देखा कि कुमारिल इस बात का खंडन करते हैं कि क्रिया स्पन्दनात्मक ही होती है। धात्वर्थ मात्र क्रिया होती है। क्रिया सम्बन्धी उपर्युक्त मत होने से ज्ञान, सत्ता, याग आदि अस्पन्द रूप क्रियाओं का साक्षात् कर्तृत्व आत्मा में स्वीकार करने में कोई तार्किक कठिनाई नहीं रह जाती। इस तरह से विभु आत्मा ज्ञानादि क्रियाओं का कर्त्ता है। पर भाट्ट मत में आत्मा न केवल उपर्युक्त ज्ञान, सत्ता आदि अस्पन्द स्वरूप क्रियाओं का कर्त्ता है, अपितु शरीरादि भूतों में होने वाली स्पन्द रूप क्रिया का भी कर्त्ता वही है। शरीरादि भूतों में होने वाला स्पन्द वस्तुतः उसी द्वारा प्रयोज्य होता है, अतः उनमें होने वाली गति का प्रयोजक होने से वही वास्तविक कर्त्ता है। कुमारिल कहते हैं कि वास्तविक कर्त्ता तो वही हो सकता है जो स्वतंत्र कर्त्ता हो और यह स्वतंत्र कर्तृत्व आत्मा में ही हो सकता है। आत्मा ही भूतगत परिस्पन्द रूप क्रिया का भी स्वतंत्र कर्त्ता है। बिना आत्मा के शरीरादि भूतों में यह स्पन्द असंभव है। अतः आत्मा ही वास्तविक कर्त्ता है। यह सही है कि चलन व्यापार शरीर में दिखता है पर इसका

भी वास्तविक कर्त्ता आत्मा ही है क्योंकि उसी के **संकल्प** से यह हो रहा है। आत्मा के ही **संकल्प, प्रयत्न** के कारण शरीरादि भूतों में परिस्पन्द होता है। कुमारिल कहते हैं कि छेदन स्वरूप एक ही क्रिया का सैनिक तलवार चलाकर, सेनापति आदेश देकर और राजा बिना कुछ बोले अपनी सत्ता मात्र से संपादन करता है। अतः यह आवश्यक नहीं है कि कर्तृव्य के लिये अपेक्षित धर्म सर्वत्र एक जैसा हो। जहाँ स्पन्दन हो वहीं क्रिया है– यह बात गलत है। आत्मा कर्त्ता है। सत्ता स्वरूप व्यापार की दृष्टि से तो सभी क्रियाओं का कर्तृत्व आत्मा में है ही, जहाँ तक विभिन्न विशिष्ट क्रियाओं की बात है तो संकल्प, प्रयत्न आदि व्यापारों द्वारा भी वही वास्तविक कर्त्ता है।[16]

यहाँ कुछ समस्याओं पर चर्चा करना आवश्यक होगा। ज्ञान यदि क्रिया है तो यह क्रिया जरूरी नहीं कि हमेशा हो ही। यह सही है कि हमें जीवन के अधिकतर क्षणों में कोई न कोई ज्ञान होता रहता है। पर हमारे जीवन में ही कई क्षण ऐसे होते हैं जब हमें कोई ज्ञान नहीं होता। उदाहरण के लिये सुषुप्ति या मूर्च्छा की अवस्था में हममें कोई ज्ञान नहीं उत्पन्न होता। अब इस तरह की अवस्था में आत्मा में ज्ञान क्रिया तो होती नहीं, तो क्या इस तरह की अवस्था में आत्मा ज्ञानशून्य हो जाता है ? पुनः ज्ञान भाट्ट मीमांसकों के अनुसार विक्रिया है। ज्ञान को आत्मा की विक्रिया मानने से आत्मा का नित्यत्व प्रभावित होता है। अतः या तो ज्ञान को आत्मा की क्रिया नहीं माननी चाहिए या फिर आत्मा नित्य नहीं हो सकता। ज्ञान को क्रियात्मक मानने से और भी समस्या उठती है। ज्ञान क्रिया होने से उत्पन्न-विनाश स्वभाव की होगी। ज्ञान को उत्पन्न-विनाश स्वभाव मानने पर तदाश्रय आत्मा में भी चेतना या ज्ञान का जन्म और नाश मानना होगा। फलतः आत्मा को नित्यज्ञानस्वरूप नहीं मानना होगा। ज्ञान या चैतन्य भाट्टों के मत में भी आत्मा के लिये आगन्तुक हो जाएगा। पर जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है कि कुमारिल आत्मा को चेतन द्रव्य बताते हैं और चेतना या ज्ञान को आत्मा का नित्य धर्म या स्वरूप बताते हैं। अतः एक तरफ आत्मा को नित्य चेतन स्वीकार करना दूसरी तरफ ज्ञान को आत्मा की उत्पन्नविनाशधर्मा क्रिया स्वीकार करना परस्पर विरोधी बातें हैं। यहाँ एक विशेष बिन्दु पर चर्चा अप्रासंगिक नहीं होगी। मीमांसा दर्शन में भी न्याय-वैशेषिक के समान ही चेतना और ज्ञान में कोई अंतर नहीं किया गया है।[17] चेतना और ज्ञान में अंतर नहीं स्वीकार करने के कारण ऊपर उठायी गयी समस्या का यह समाधान संभव नहीं रह पाता कि चेतना आत्मा का अनिवार्य धर्म है जबकि ज्ञान उसके लिये आगंतुक है। परिणामतः ज्ञान न होने की स्थिति में आत्मा चेतन भी नहीं रह जाता, वह जड़तुल्य हो जाएगा।

उपर्युक्त समस्याओं का समाधान हमें भाट्ट दार्शनिकों द्वारा ही मिलता है।

भाट्टों के अनुसार जब आत्मा में ज्ञानक्रिया नहीं होती उदाहरणतः सुषुप्ति या मूर्च्छा की अवस्था में या मोक्षावस्था में भी, उस समय भी आत्मा नितान्त ज्ञानशून्य या अचेतन नहीं हो जाता। कुमारिल श्लोकवार्तिक के आत्मवाद परिच्छेद में कहते हैं कि चैतन्य, सत्तादि स्वरूप का आत्मा में कभी भी अभाव नहीं होता है।[18] आत्मा ज्ञानशक्तिस्वभाव है।[19] ज्ञान आत्मा की शक्ति या योग्यता है। सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में भी आत्मा अपने इस ज्ञानशक्ति-स्वभाव को नहीं छोड़ता। उन अवस्थाओं में इन्द्रियों और विषयों से सम्पर्क के अभाव के कारण यह ज्ञानशक्ति व्यक्त नहीं हो पाती, अन्य अवस्थाओं में यह अभिव्यक्त होती है।[20] इस तरह से आत्मा में ज्ञान हमेशा रहता है। जाग्रतावस्था में यह अभिव्यक्त रहता है जबकि सुषुप्ति आदि में यह शक्ति रूप में आत्मा में विद्यमान रहता है। शक्ति या योग्यता होने के कारण ही ज्ञान को कदाचित् गुण कहा जा सकता है। ज्ञान यदि क्रिया है तो उसे गुण नहीं कहा जाना चाहिए। पर कई मीमांसकों ने ज्ञान को सुखादि की तरह आत्मा का गुण कहा है और सुखादि की ही तरह ज्ञान के आश्रय के रूप में आत्मा को सिद्ध करने का प्रयास किया है। मानमेयोदयकार ज्ञान को आत्मा का सुखादि के समान विशिष्ट गुण बतलाते हैं।[21] स्वयं पार्थसारथि भी आगमापायिन धर्म के रूप आत्मा के अन्य आठ गुणों के साथ बुद्धि की चर्चा करते हैं।[22] पर देखा जाय तो ज्ञान को इस तरह गुण मानकर आत्मा के साथ उसके सम्बन्धों की व्याख्या करना इन मीमांसकों पर न्याय-वैशेषिक दर्शन और उसकी पदावली का प्रभाव सिद्ध करता है। यहाँ गुण और धर्म के बीच शास्त्रीय अंतर की चर्चा करना अप्रासंगिक नहीं होगा। ज्ञान, मीमांसा मत में, जहाँ आत्मा का धर्म है वहाँ न्याय-वैशेषिक परम्परा में वह आत्मा का गुण है। कुमारिल स्वयं ज्ञान को आत्मा का धर्म बताते हैं।[23] और पार्थसारथि प्रभृति भी ज्ञान का आत्मधर्म के रूप में बहुशः उल्लेख करते हैं। धर्म और गुण के बीच अंतर को इस तरह समझा जा सकता है कि जहाँ दाहकता अग्नि का धर्म है वहाँ लालिमा उसका गुण है। जो कुछ भी द्रव्याश्रित हो वह धर्म हो सकता है चाहे वह गुण हो या क्रिया या फिर व्यापार। अतः ज्ञान के क्रिया होने के बावजूद उसके आत्मधर्म होने में कोई विरोध नहीं है। अग्नि में दाहकता के समान आत्मा में ज्ञान हमेशा शक्त रूप में रहता है। ज्ञानशक्ति सम्पन्न होने के बावजूद आत्मा की यह शक्ति हमेशा अभिव्यक्त नहीं होती। घट, पटादि वस्तुओं का ज्ञान तो उत्पन्न होता रहता है और नष्ट हो जाता है। विशेष वस्तुओं का ज्ञान क्षणिक होता है और विषय एवं इन्द्रिय व्यापार की अपेक्षा रखता है। सुषुप्ति या मूर्च्छा में ऐसा न होने से आत्मा को इनका ज्ञान नहीं होता है। पर इन विशेष ज्ञानों के न रहने के बावजूद ज्ञान शक्ति रूप में हमेशा बना रहता है। चेतना या ज्ञान समानार्थक हैं और यह आत्मा का नित्य

धर्म या स्वरूप है। आत्मा नित्य चेतन और ज्ञानस्वरूप है। उसमें ज्ञानशक्ति का अभाव कभी नहीं होता। जिस प्रकार अग्नि में दाहकता की शक्ति हमेशा रहती है पर वास्तविक दाहनव्यापार तो वस्तुओं के इसमें फेंके जाने पर ही होता है या जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्बन क्षमता हमेशा होती है पर वास्तविक प्रतिबिम्बन तो वस्तुओं को इसके सामने लाने पर ही होता है, उसी प्रकार आत्मा नित्य चेतना या ज्ञान रूप है। हाँ, वस्तुओं का विशेष ज्ञान तभी होता है जब विषय हो और इन्द्रिय व्यापार हो।[24] उपर्युक्त तथ्यों पर ध्यान देने से कई बातें स्पष्ट होती हैं–(1) ज्ञान क्रिया होने के बावजूद वस्तुतः आत्मा की शक्ति है। (2) हमें ज्ञान के शक्त रूप में और वास्तविक रूप में अंतर करना होगा। आत्मा ज्ञानशक्तिस्वभाव होने के कारण नित्य चेतन है। उत्पन्न-नष्ट होने वाले ज्ञान को ही आत्मा की क्रिया कहा जा सकता है। (3) ज्ञान का एक नित्य रूप है जिसमें वह आत्मा की शक्ति है, उसका स्वरूप है। दिन-प्रतिदिन होने वाला वस्तु विशेष का जो ज्ञान है वह इसी शक्ति के कारण होता है। आत्मा के नित्य धर्म के रूप में या स्वभाव के रूप में ज्ञान नित्य और एक है। दिन-प्रतिदिन होने वाला उत्पत्ति-विनाशशील ज्ञान इसी ज्ञानस्वभाव आत्मा की विक्रिया है। अद्वैतियों की तरह भाट्टों में भी स्वरूपज्ञान और व्यावहारिक ज्ञान जैसा भेद किया जा सकता है। व्यावहारिकज्ञान ही उत्पन्न-विनाशधर्मा है। इसी ज्ञान को भाट्टों ने उत्पन्न-विनाशधर्मा या क्रियारूप माना है। ज्ञान स्वयं में तो नित्य और एक है तथा इस रूप में वह आत्मा का स्वरूप या धर्म है जिससे आत्मा कभी भी च्युत नहीं होता। (4) ज्ञान के आत्मा के विक्रिया होने के बावजूद इससे आत्मा के नित्यत्व पर कोई असर नहीं होता। जिस तरह सुवर्ण कुण्डल हो जाने पर भी सुवर्ण ही रहता है उसी प्रकार आत्मा विभिन्न अवस्थाओं में रूपायित होने के बावजूद अपने स्वरूप से कभी च्युत नहीं होता।[25] कुमारिल का स्पष्ट कथन है कि ज्ञान आत्मा की विक्रिया होने के बावजूद उसके नित्य स्वरूप को नहीं प्रभावित करता है।[26]

संदर्भ एवं टिप्पणी

1. मीमांसा-शाबर-भाष्य, 1/1/5.
2. पार्थसारथि मिश्र, श्लोकवार्तिक–निरालम्बनवाद–44 पर न्यायरत्नाकर।
3. संविदोऽपि हि न स्वात्मप्रकाशात्मत्वं, अर्थप्रकाशौ ह्यसौ। सुचरित मिश्र, श्लोकवार्तिक–शून्यवाद–64 पर काशिका।
4. ज्ञानक्रिया हि सकर्मिका कर्मभूतेऽर्थे फलं जनयति पाकादिवत्। पार्थसारथि मिश्र, शास्त्रदीपिका, सं. किशोरदास स्वामी, स्वामी रामतीर्थ मिशन, देहरादून, 1996, पृ. 98.
5. कुमारिलभट्ट, श्लोकवार्तिक–शून्यवाद, 200.

6. ...विषयत्वं च ज्ञानफलभागित्वम्, तदेव च ग्राह्यलक्षणम्, नान्यत्, सम्भवतीति शास्त्रदीपिकायाम् उपपादितम्। ज्ञानं हि स्वकारणवशादर्थविषयफलजनकस्वभावमुत्पद्यत इति न किञ्चिदनुपपन्नमिति।
पार्थसारथि मिश्र, श्लोकवार्तिक–शून्यवाद–200 पर न्यायरत्नाकर।
7. सुचरित मिश्र, श्लोकवार्तिक–चोदनासूत्र–114 पर काशिका।
8. न परिस्पन्द एवैकः क्रिया नः कणभोजिवत्।।
न च स्वसमवेतैव कर्तृभिः क्रियते क्रिया।
क्रिया धात्वर्थमात्रं स्यादन्याधारेऽपि कर्तृता।।
कुमारिलभट्ट, श्लोकवार्तिक–आत्मवाद, 74-75.
9. पार्थसारथि मिश्र, शास्त्रदीपिका, पृ. 98-99.
10. कुमारिलभट्ट, श्लोकवार्तिक–शब्दपरिच्छेद, 69.
11. यदि विज्ञानादन्यो नास्ति, कस्तर्हि 'जानाति' इत्युच्यते? ज्ञानस्य कर्तुरभिधानमनेन शब्देनोपपद्यते। तदेष शब्दोऽर्थवान् कर्त्तव्यः, इति ज्ञानात् व्यतिरिक्तमात्मानं कल्पयिष्याम इति।
मीमांसा–शाबर–भाष्य, 1/1/5.
12. शरीरेन्द्रियबुद्धिभ्यो व्यतिरिक्तत्वमात्मनः।
नित्यत्वं चेष्यते, शेषं शरीरादि विनश्यति।।
कुमारिलभट्ट, श्लोकवार्तिक-आत्मवाद, 7.
13. कुमारिलभट्ट, श्लोकवार्तिक–आत्मवाद, 1-7.
14. अहं वेद्मीत्यहं बुद्धिर्ज्ञातारमधिगच्छति।
तत्र स्याद् ज्ञातृविज्ञानं तदाधारोऽथ वा पुमान्।।
कुमारिलभट्ट, श्लोकवार्तिक–आत्मवाद, 110.
15. ज्ञातुरन्यश्च विषयस्तस्य न स्यात् स्वभावतः।
अहं प्रत्ययविज्ञेयो ज्ञाता नः सर्वदैव हि।।
कुमारिलभट्ट, श्लोकवार्तिक–आत्मवाद, 126.
16. कुमारिलभट्ट, श्लोकवार्तिक–आत्मवाद, 74-86.
17. चेतना बुद्धिः ज्ञानं संविदित्यनर्थान्तरमिति लौकिका बुध्यन्ते।
सुचरित मिश्र, श्लोकवार्तिक– शून्यवाद–32 पर काशिका।
18. सुखदुःखाद्यवस्थाश्च गच्छन्नपि नरो मम।
चैतन्यद्रव्यसत्तादिरूपं नैव विमुञ्चति।।
कुमारिलभट्ट, श्लोकवार्तिक–आत्मवाद, 26.
19. ज्ञानशक्तिस्वभावोऽतो नित्यः सर्वगतः पुमान्।
कुमारिलभट्ट, श्लोकवार्तिक–आत्मवाद, 73.
20. यदि शक्तिरस्ति, तस्यामवस्थायां ततः केन ज्ञानानुत्पत्तिः ?
ज्ञानसाधनानामिन्द्रियाणां ज्ञेयानां च विषयाणामभावात्।
पार्थसारथि मिश्र, शास्त्रदीपिका, पृ. 273.
21. बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्ना आत्मविशेषगुणाः।
नारायण, मानमेयोदय, पृ. 253.

22. पार्थसारथि मिश्र, शास्त्रदीपिका, पृ. 278.
23. कुमारिलभट्ट, श्लोकवार्त्तिक–आत्मवाद, 73 तथा श्लोकवार्त्तिक–निरालम्बनवाद, 47.
24. कुमारिलभट्ट, श्लोकवार्त्तिक–शब्दनित्यत्वाधिकरण, 404-408.
25. तस्मादुभयहानेन व्यावृत्त्यनुगमात्मकः।
    पुरुषोऽभ्युपगन्तव्यः कुण्डलादिषु स्वर्णवत्।।
    कुमारिलभट्ट, श्लोकवार्त्तिक–आत्मवाद, 28.
26. विक्रिया ज्ञानरूपास्य न नित्यत्वे विरोत्स्यते।
    बुद्धिजन्मेति चाप्याह जायमानप्रमाणताम्।।
    कुमारिलभट्ट, श्लोकवार्त्तिक–प्रत्यक्षसूत्र, 53.

❑

5

ज्ञाततालिङ्गानुमेयवाद : ज्ञान-ग्रहण सम्बन्धी भाट्ट मीमांसक मत

बौद्ध विज्ञानवादियों द्वारा ज्ञान की स्वप्रकाशता के पक्ष में दिये गये तर्कों की कुमारिल ने जमकर आलोचना की है। स्वसंवेदन सम्बन्धी बौद्ध मत की आलोचना करते हुए कुमारिल इस बात में विरोध दिखाते हैं कि ज्ञान स्वयं को जानता है। कुमारिल श्लोकवार्त्तिक के शून्यवाद—64 में कहते हैं कि ज्ञान को स्वप्रकाश मानने पर कर्तृ-कर्म विरोध होगा क्योंकि एक ही ज्ञान ग्राह्य और ग्राहक दोनों होगा। पर हम ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं दिखा सकते हैं जहाँ कर्त्ता और कर्म एक ही हो—

नैतदस्ति, त्वयैकं हि ग्राह्यं ग्राहकमिष्यते।
न चैकस्येवमात्मत्वे दृष्टान्तः कश्चिदस्ति।।

पार्थसारथि मिश्र न्यायरत्नाकर में कुमारिल के इस कथन को व्याख्यायित करते हुए कहते हैं कि जैसे पकाने की क्रिया अपने आपको नहीं पकाती, काटने की क्रिया अपने आपको नहीं काटती, अंगुली का अग्र भाग अपने आपको नहीं छू सकता, उसी प्रकार ज्ञान भी अपने आपको नहीं जान सकता। इस तरह ज्ञान का ग्रहण अगर उसी ज्ञान द्वारा माना जाए तब कर्तृ-कर्म या करण-कर्म विरोध प्रसक्त होगा। पुनः एक मात्र ज्ञान की ही सत्ता मानने पर और यह मानने पर कि वह अपने आपको ही जानता है, हमारा ज्ञान **यह नीला है** इस प्रकार न होकर **मैं नीला हूँ** इस प्रकार होने लगेगा। पर हम जानते हैं कि ऐसा नहीं होता। हमारा ज्ञान सदैव अपने से बाहर का निर्देश करता है—परागृवृत्ति होता है न कि प्रत्यक्वृत्ति।[1]

वस्तुतः देखा जाये तो ज्ञान एक साथ ही दो-दो काम कैसे कर सकता है, वह अर्थप्रकाशन के साथ ही स्वयं अपने को भी कैसे प्रकाशित कर सकेगा, क्योंकि एक साथ ही कोई दो-दो व्यापार नहीं कर सकता। अतः स्पष्ट है कि अर्थप्रकाशन के समय वह स्वयं को नहीं प्रकाशित कर सकता है—

व्यापृतं चार्थसंवित्तौ ज्ञानं नात्मानमृच्छति।[2]

पार्थसारथि मिश्र कहते हैं कि उत्पत्ति के क्षण में ज्ञान नीलादि विषयों के प्रकाशन में लगा रहता है, अतः उस समय वह 'स्व' का ग्रहण नहीं कर सकता और उसके बाद तो वह स्वयं नष्ट हो जाता है। अतः 'स्व' का ग्रहण नहीं हो सकता—शक्तावपि हि कारणानि कार्यान्तरव्यापृतानि न कार्यान्तरं कुर्वन्ति, पश्चात्तु विनष्टत्वान्न प्रकाशयतीति।[3]

कुमारिल और उनके अनुयायी घोर वस्तुवादी हैं। उनके अनुसार ज्ञान का कार्य अर्थ का प्रकाशन है, स्व का प्रकाशन नहीं। ज्ञान आत्मसंवेदन नहीं है। वह अपने से परे किसी बाह्य वस्तु का प्रकाशन करता है। वह चूँकि बाह्य अर्थ को ही प्रकाशित कर सकता है अतः वह स्वयं अपना ग्रहण नहीं कर सकता—प्रकाशकत्वं बाह्येऽर्थे शक्त्यभावात् तु नात्मनि।[4]

ज्ञान में अर्थ को ही प्रकाशित करने का सामर्थ्य है, क्योंकि उसमें सर्वदा अर्थ की ही अनुस्यूति देखी जाती है, 'स्व' की नहीं। अतः ज्ञान का ग्रहण स्वयं अपने से संभव नहीं है—

ईदृशं वा प्रकाशत्वं तस्यार्थानुभवात्मकम्।
न चात्मानुभवोऽस्त्यस्येत्यात्मनो न प्रकाशकम्।।[5]

बौद्धों ने ज्ञान की स्वप्रकाशता के लिये एक महत्त्वपूर्ण तर्क यह दिया था कि ज्ञान यदि स्वयं अगृहीत हो तो वह भला अर्थ का ग्रहण कैसे कर सकता है ? दीपक स्वयं प्रकाशित होने पर ही घट को प्रकाशित करता है। अर्थ को प्रकाशित होने के लिये यह आवश्यक है कि उसका प्रकाशक ज्ञान स्वयं भी प्रकाशित हो, अन्यथा वह अर्थप्रकाशन नहीं कर सकता है—

अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिद्ध्यति।[6]

धर्मकीर्ति के इस तर्क को कुमारिल शून्यवाद प्रकरण में पूर्वपक्ष के रूप में रखते हुए कहते हैं—

न चागृहीते ज्ञानाख्ये प्रकाश्योऽर्थोऽवधार्यते।
तदधीनप्रकाशत्वाद् दीपाभासे यथा घटः।।[7]

बौद्धों के इस तर्क के उत्तर में कुमारिल का कहना है कि ज्ञान दीपक की तरह नहीं है अपितु वह चक्षु की तरह है। रूपादिग्रहण पहले होता है और तत्पश्चात् उसके बाद उसके कारण रूप ज्ञान का अनुमान होता है।[8] जिस तरह चक्षु बिना स्वयं अपना ग्रहण किये हुये रूपादि ग्रहण में सक्षम होता है, उसी तरह ज्ञान बिना स्वयं अपना ग्रहण किये हुए ही अर्थग्रहण में सक्षम होता है। वास्तव में ज्ञान तथा विषय एक

साथ प्रकाशित नहीं होते। पहले हमें विषय का ज्ञान होता है। तत्पश्चात् विचार करने पर अर्थापत्ति या अनुमान द्वारा हमें ज्ञान का ज्ञान होता है। भाट्ट मीमांसक शबर का अनुसरण करते हुए तर्क देते हैं कि यह आवश्यक नहीं कि साधन का ज्ञान साध्य के साथ या उसके पूर्व हो। हाँ, सत्ता की दृष्टि से पहले उसका होना आवश्यक है। भाष्यकार कहते हैं—उत्पद्यमानैवासौ ज्ञायते, ज्ञापयति च अर्थान्तरं प्रदीपवद् इति यद् उच्यते, तन्न, न ह्यज्ञातेऽर्थे कश्चित् बुद्धिमुपलभते, ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छति।... सत्यम्, पूर्वं बुद्धिरुत्पद्यते, न तु पूर्वं ज्ञायते।[9] सुचरित मिश्र काशिका में कहते हैं कि सभी अस्तित्ववान वस्तुयें अपने अस्तित्व मात्र से अपना व्यापार करते हैं, उनके इस अस्तित्व का ज्ञात होना जरूरी नहीं। उसी तरह विषयप्रकाशन के लिये ज्ञान का अस्तित्व मात्र आवश्यक है, उसका गृहीत होना नही।[10]

बौद्धों के अनुसार ज्ञान स्वयंप्रकाश होने से उत्पत्ति के क्षण ही गृहीत होता है। अपनी उत्पत्ति के क्षण ही वह प्रकाशित होता है क्योंकि जहाँ वस्तुओं के अप्रकाशरूप होने के कारण उनके बारे में यह कहा जा सकता है कि उनके प्रकाशन में बाधा है, ज्ञान के उत्पत्ति के क्षण ही गृहीत होने में किसी तरह की बाधा नहीं होती। ज्ञान वस्तुओं के समान अप्रकाशरूप तो है नहीं, अतः उत्पत्ति के क्षण ही उसके गृहीत न होने में कोई कारण नहीं है। यदि उत्पत्ति के क्षण ही ज्ञान का ग्रहण नहीं होगा तो फिर कभी भी उसका ग्रहण नहीं हो पायेगा क्योंकि ऐसी कौन सी विशेषता होगी जो बाद में उसमें आ जाएगी जिसके कारण वह बाद में गृहीत होगा? अस्तु, ज्ञान अपनी उत्पत्ति के क्षण ही स्वयं प्रकाशित होता है। वह एक क्षण भी अप्रकाशित नहीं रह सकता। ज्ञान चूँकि प्रकाशरूप है और एक प्रकाश अपने प्रकाश के लिये दूसरे प्रकाश की प्रतीक्षा नहीं करता, अतः यह कहना संभव नहीं होगा कि चूँकि वह दूसरे ज्ञान से ही प्रकाशित होगा अतः उत्पत्तिक्षण में उसका प्रत्यक्ष संभव नहीं है। फिर यदि एक ज्ञान अपने को प्रकाशित करने के लिये दूसरे ज्ञान की अपेक्षा रखेगा, तब दूसरे को तीसरे की और उसे चौथे की अपेक्षा होगी, फलतः अनवस्था दोष प्रसक्त होगा। अतः ज्ञान उत्पत्ति के साथ ही स्वयं प्रकाशित होता है। बौद्धों के उपर्युक्त तर्कों को कुमारिल दिग्नाग और धर्मकीर्ति से भी अच्छे ढंग से रखते हैं—

उत्पन्नेष्वपि चार्थेषु प्रकाशाभावतः क्वचित्।
प्रतिबन्धकयोगाद् वा संवित्तिर्नोपजायते।।
ज्ञानस्योत्पद्यमानस्य प्रतिबन्धो न कश्चन।
न चाप्रकाशरूपत्वं येनास्याग्रहणं भवेत्।।
प्राक् चार्थग्रहणादिष्टा तस्योत्पत्तिस्तदैव च।
संवेदनं भवेदस्य न चेत् कालान्तरेऽपि न।।

किं हि तस्य भवेदूर्ध्वं प्राक् च नासीन्न येन तत्।
पूर्वं गृहीतं पश्चाच्च गृहीतमिति भाष्यते।।
ज्ञानान्तरस्य चोत्पत्तिं प्रकाशो न प्रतीक्षते।
तस्य तस्यापि चान्येन संवित्तावस्थितिर्भवेत्।।[11]

कुमारिल बौद्धों के इस तर्क के प्रत्युत्तर में कहते हैं कि उत्पत्तिक्षण में ज्ञान का ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि उत्पत्तिक्षण में वह भला किससे प्रकाशित होगा ? वह स्वयं अपना ग्रहण नहीं कर सकता और उस क्षण में कोई दूसरा ज्ञान उत्पन्न नहीं होता जिसके द्वारा वह गृहीत हो सके—

तत्रात्मना न शक्यं तन्नान्योत्पत्तिस्तदस्ति वा।
तेनैतत् कारणाभावात् तदानीं नानुभूयते।।[12]

ज्ञान अपना ग्रहण स्वयं इसलिये नहीं कर सकता क्योंकि ऐसा होने पर कर्तृ-कर्म या करण-कर्म विरोध प्रसक्त होगा। वस्तुतः ज्ञान में अर्थ को ही प्रकाशित करने की क्षमता है, स्वयं को नहीं। दूसरी बात यह है कि एक ही साथ दो-दो व्यापार संभव नहीं हैं। अर्थप्रकाशन और स्वयं अपना प्रकाशन दोनों एक साथ नहीं हो सकता है। यह सही है कि ज्ञानोत्पत्ति के समय उसके प्रकाशन में कोई बाधा या प्रतिबन्ध नहीं है। पर केवल प्रतिबन्धक से ही कार्य की उत्पत्ति नहीं प्रतिरुद्ध होती है। विशिष्ट कारण के अभाव से भी कार्य की उत्पत्ति प्रतिरुद्ध होती है। ज्ञानोत्पत्ति के समय उसके ग्रहण में प्रतिबन्धक का अभाव होने पर भी चूँकि उस समय उसके ग्रहण के लिये कोई विशिष्ट कारण नहीं है अतः उत्पत्तिक्षण में प्रतिबन्धकाभाव होने पर भी ज्ञान का ग्रहण नहीं होता। वस्तुतः ज्ञान को गृहीत होने के लिये दूसरे ज्ञान की आवश्यकता होती है। इस प्रश्न के उत्तर में कि ऐसी कौन सी विशेषता है जो उत्पत्तिक्षण में ज्ञान में नहीं होती और बाद में हो जाती है जिसके फलस्वरूप वह गृहीत होता है, कुमारिल का कहना है कि ज्ञान अपनी उत्पत्ति क्षण में तो मात्र अर्थ का प्रकाशन करता है और बाद में घटादि अर्थों में **ज्ञातत्व** की अन्यथाऽनुपपत्ति रूप अर्थापत्ति प्रमाण से वह ज्ञान गृहीत हो जाता है। अतः ज्ञान अपनी उत्पत्तिक्षण में प्रकाशित नहीं होता, उसका ग्रहण बाद में दूसरे ज्ञान से होता है।[13] बौद्धों ने ज्ञान की परप्रकाशता के विरुद्ध अनवस्था दोष का जो आरोप लगाया था उस पर कुमारिल का कहना है कि यह सही है कि ज्ञातता की अन्यथा अनुपपत्ति से ज्ञान का ज्ञान होता है और इस ज्ञान का भी ज्ञान उसी ढंग से अर्थापत्ति द्वारा होगा, पर एक के बाद दूसरे और फिर तीसरे ज्ञान को जानने की जरूरत ही क्या है ? हमारा सामान्य व्यवहार तो वस्तुग्रहण और उस ग्रहण विषयक हमारे बोध जो कि अर्थापत्ति द्वारा हो जाता है, से ही चल जाता है। उस ज्ञान विषयक ज्ञान और उसके ज्ञान को ग्रहण

करने की न तो कोई जिज्ञासा होती है और न कोई आवश्यकता, फलतः हम उनका ग्रहण नहीं करते। यहीं दिग्नाग प्रभृति द्वारा उठाये गये उस समस्या का भी समाधान मिल जाता है जिसमें यह कहा गया है कि ज्ञान को उसके उत्पत्तिक्षण में ही स्वतः प्रकाशित मानना होगा अन्यथा यदि ज्ञान का ग्रहण दूसरे ज्ञान से होगा तो फिर इस दूसरे के लिये तीसरे और फिर चौथे की जरूरत होगी और सम्पूर्ण आयु एक ही विषय के ज्ञान में समाप्त हो जायेगी, व्यक्ति एक ही ज्ञान पर अटका रह जायेगा, अन्य विषयों का ज्ञान ही नहीं हो पायेगा। कुमारिल का कहना है कि ज्ञान के ज्ञान की परम्परा या श्रृंखला अनन्त नहीं होती अपितु सीमित होती है। उत्तरोत्तर भावी इन ज्ञानों (ज्ञान के ज्ञान के ज्ञान...) की उत्पत्ति सहज और अनिवार्य नहीं होती अपितु वह ज्ञाता के रुचि, श्रम और अन्य विषय से उसके सम्पर्क आदि पर निर्भर करती है। जिस प्रकार घटादि किसी विषय का चक्षु से जो ग्रहण होता है वह श्रम, रुचि अथवा अन्य विषय के साथ चक्षु के सम्बन्ध के कारण टूट जाता है और ज्ञाता किसी अन्य चीज का ग्रहण करने लगता है और उस विषय को छोड़ देता है, उसी प्रकार उक्त श्रम, रुच्यादि कारणों से किसी एक विषय के ज्ञान की प्रवाह टूट जाती है। अतः एक ही ज्ञान की परम्परा में समस्त आयु समाप्त हो जाएगा—यह आशंका निराधार है—

यावच्छ्रमं च तद्बुद्धिस्तत्प्रबन्धे महत्यपि।
श्रमाद् रुच्यान्यसम्पर्काद् विच्छेदो विषयेष्विव।।[14]

यहाँ बौद्धों के तरफ से एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि ज्ञान परम्परा जब टूटती है तो उस परम्परा में आखिरी ज्ञान अज्ञात ही रह जाता है। और जो ज्ञान अज्ञात हो वह अर्थ का प्रकाशन कैसे कर सकता है तथा साथ ही एक विचित्र स्थिति यह होगी कि ज्ञाता को तो कोई ज्ञान होगा पर उसे उसका बोध नहीं होगा। मानमेयोदयकार का इस विषय में यह कहना है कि यह कोई आवश्यक नहीं कि हर ज्ञान प्रकाशित ही हो, ज्ञात ही हो। यह संभव है कि कोई ज्ञान हो और उस ज्ञान का ज्ञान न हो। जहाँ तक वस्तु के प्रकाशन की बात है तो उसके लिये उसके प्रकाशक ज्ञान का भी प्रकाशित होना आवश्यक नहीं है। जिस तरह चक्षु बिना प्रकाशित हुए अर्थ प्रकाशन में समर्थ है उसी तरह ज्ञान भी—उत्पन्नस्य ज्ञानस्यावश्यवेदनीयत्वाभावादिति ब्रूमः। न चाविज्ञायमानस्य विषयप्रकाशकत्वानुपपत्तिरिति वाच्यम्। चक्षुरादीनामप्यप्रकाशकत्व-प्रसंगात्। जिधृक्षायां सत्यां पश्चादर्थापत्तिगम्यत्वस्य चोभयत्रापि तुल्यत्वात्।[15]

इन्हीं कारणों से मानमेयोदयकार बौद्धों द्वारा लगाये गये अनवस्था दोष को खारिज कर देते हैं। क्योंकि अनवस्था वहीं दोष है—दूषणीय है जहाँ वह मूलक्षयकारी है। चूँकि मीमांसा मत में यह मूलक्षयकारी नहीं है, अतः यहाँ इस तरह का दोष

प्रसक्त नहीं होता।[16] बौद्ध दार्शनिकों ने ज्ञान की स्वप्रकाशता हेतु एक महत्त्वपूर्ण तर्क यह दिया था कि स्मृति की संभावना यह सिद्ध करती है कि ज्ञान न केवल अर्थविषयक होता है अपितु वह स्वविषयक भी होता है। बौद्धों का कहना है कि हमारी स्मृति का आकार **यह घट है** इस प्रकार न होकर **मुझे घट का ज्ञान है** इस तरह का होता है। अर्थात् जब भी हमें स्मृति होती है तो वह केवल अर्थविषयक नहीं होती अपितु तद्विषयक ज्ञान की होती है। **मुझे घट का ज्ञान है** इस तरह की उक्ति यही सिद्ध करती है कि ज्ञान न केवल घटविषयक होता है अपितु वह स्वविषयक भी होता है। स्मरण वस्तु विषयक ज्ञान का ही होता है। अर्थात् स्मृति में ज्ञान और विषय दोनों ही भासित होता है। यदि किसी चीज के ज्ञान का हमें पहले से अनुभव नहीं है तो उसका स्मरण नहीं होता है। अब यह बात यह सिद्ध करती है ज्ञान न केवल अर्थविषयक होता है अपितु वह स्वविषयक भी होता है। दिग्नाग इसी आधार पर कहते हैं कि ज्ञान द्विविध आकार से युक्त होता है, वह विषयाकार के साथ स्वाकार को लिये होता है। ज्ञान स्वप्रकाशित होता है। बौद्धों के इस तर्क के प्रत्युत्तर में कुमारिल का कहना है कि यह बात गलत है कि स्मरण के लिये वस्तु का होना ही पर्याप्त नहीं है अपितु उसके ज्ञान का भी होना जरूरी है। कुमारिल के अनुसार हम जब भी किसी को याद करते हैं तो उस वस्तु को याद कर रहे होते हैं न कि उसके ज्ञान को। स्मृति के लिये मात्र वस्तु का पूर्वानुभूत होना आवश्यक है न कि वस्तुविषयक ज्ञान का अनुभूत होना। हम जब किसी पूर्व में जानी गयी वस्तु का स्मरण करते हैं तो वहाँ स्मरण तो मात्र वस्तु का होता है। जहाँ तक उस वस्तु के ज्ञान का प्रश्न है तो वह अर्थापत्ति या अनुमान जैसे परोक्ष प्रमाणों द्वारा ज्ञात होता है।[17] यह सही है कि **'ज्ञातो मया घटः'** यह घट विषयक स्मरण चूँकि घटविषयक अनुभव के बिना संभव नहीं है, अतः पूर्व में उस अनुभव की कल्पना करनी होगी। पर यह कल्पना अर्थापत्ति प्रमाण से उत्पन्न होती है, वह कल्पनात्मक ज्ञान या अर्थापत्ति अनुभव रूप ही है, स्मृतिरूप नहीं। इस तरह 'ज्ञातो मया घटः' में घटांश का स्मरण होता है और ज्ञानांश का अनुभव। इस तरह यदि यह कथन स्वीकार भी कर लिया जाए कि ज्ञानपूर्वक ही अर्थ का स्मरण होता है तो इसका तात्पर्य यह नहीं होता कि विषयग्रहण के साथ ही ज्ञान का भी ग्रहण होता है। ज्ञानपूर्वक विषय स्मरण की उपपत्ति हम अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा उसी समय ज्ञान का ज्ञान स्वीकार कर भी कर सकते हैं। हमें वस्तु का स्मरण होता है और स्मृति बिना अनुभव के संभव नहीं है—इस अर्थापत्ति द्वारा उस ज्ञान का ज्ञान होता है।

कुमारिल (शून्यवाद—82-85—श्लोकवार्तिक) में कहते हैं कि कई एक स्थितियों में केवल हमें ज्ञान का स्मरण होता है और उसके विषय का स्मरण नहीं हो रहा होता

है तथा कई एक स्थितियों में केवल ग्राह्य विषय का स्मरण होता है—अब यह अन्वय और व्यतिरेक यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि अर्थ और तद्विषयक ज्ञान, ग्राह्य और ग्राहक दोनों भिन्न-भिन्न हैं। कई एक स्थितियों में केवल ग्राह्यविषयक अनुभव होता है और कई स्थिति में केवल ग्राहक ही भासित होता है—ग्राह्याकारस्य संवित्तिर्ग्राहकानुभावद्दृते[18]—ग्राहकस्यैव संवित्तिर्लक्ष्यते ग्रहणे क्वचित्।[19] केवल ग्राहक की एवं केवल ग्राह्य की प्रतीति, इसी तरह से केवल ग्राह्य की स्मृति एवं केवल ग्राहक की स्मृति आसानी से देखी जा सकती है। अस्तु, ज्ञान इन दोनों ही आकारों से युक्त होता है, यह बात गलत है। ज्ञान केवल ग्राह्य अर्थ का प्रकाशक होता है। वह स्वयं अपने को प्रकाशित नहीं करता।

कुमारिल कहते हैं कि ज्ञान को स्वविषयक इसलिये भी नहीं माना जा सकता है कि यदि घटादिविषयक ज्ञान को ज्ञानविषयक माना जाए तब फिर घटविषयक ज्ञान एवं घटज्ञानविषयक ज्ञान इन दोनों में कोई अंतर ही नहीं रह जाएगा। पर इन दोनों ज्ञानों में अर्थात् घटज्ञान और घटज्ञानविषयक ज्ञान में अंतर सर्वसिद्ध है। अतः ज्ञान को स्वविषयक नहीं माना जा सकता है।[20]

भाट्ट मीमांसक न केवल बौद्धों की स्वप्रकाशता के सिद्धान्त का खण्डन करते हैं, अपितु वे इस बात का भी खण्डन करते हैं कि ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है। इस अर्थ में कुमारिल और उनके अनुयायी मीमांसकों का ज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्त अन्य भारतीय दर्शनों से विलक्षण है। न्यायदर्शन भी वस्तुवादी दर्शन है और ज्ञान की स्वप्रकाशता का खंडन करता है। पर न्याय दर्शन ज्ञान को स्वप्रकाश नहीं मानने के बावजूद उसे मानसप्रत्यक्ष का विषय मानता है। दूसरी ओर न्याय, बौद्ध, प्राभाकर, और अद्वैतियों के विपरीत भाट्ट मीमांसकों को ज्ञान की साक्षात् प्रतीति किसी भी ढंग से स्वीकार नहीं है। देखा जाए तो भाष्यकार स्वयं इस बात का खंडन करते हैं कि ज्ञान प्रत्यक्ष है—तस्मादप्रत्यक्षा बुद्धिः। ज्ञान चूँकि निराकार होता है, अतः उसका प्रत्यक्ष संभव नहीं है। शबर का तर्क यह था कि ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने पर उसे साकार मानना होगा क्योंकि साकार का ही प्रत्यक्ष होता है निराकार का नहीं। और यदि ज्ञान को साकार मान लिया जाएगा तब तो अर्थ और ज्ञान का भेद ही समाप्त हो जायेगा। इसीलिये भाष्यकार का कहना है कि ज्ञान में जो आकार होता है वह वस्तुतः वस्तु का होता है ज्ञान तो निराकार होता है। अपने वस्तुवाद के विश्लेषण से ही शबर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ज्ञान का प्रत्यक्ष संभव नहीं है। ज्ञान हमेशा अर्थविषयक होता है—अर्थविषया हि प्रत्यक्षा बुद्धिः। बौद्ध विज्ञानवादियों के विपरीत मीमांसक यह मानते हैं कि ज्ञान आत्मसंवेदन न होकर अनात्मसंवेदन है तथा वह अपने से परे वस्तु को प्रदर्शित करता है—पराक्मुखी है। अब ज्ञान यदि अर्थ को ही

प्रकाशित करता है तो वह भला ज्ञान को कैसे प्रकाशित कर सकता है। यदि ज्ञान ज्ञान को प्रकाशित करने लगे तब तो फिर वह अर्थविषयक न होकर **ज्ञानविषयक** हो जायेगा, और यह संभव नहीं है क्योंकि इससे उस मौलिक बाह्यार्थवादी मान्यता में तार्किक रूप से अपवाद उत्पन्न हो जायेगा कि ज्ञान ज्ञानविषक भी हो सकता है। पुनः ज्ञान इस कारण भी ज्ञान को विषय नहीं बना सकता है कि वह क्षणिक होता है। क्षणिक होने के कारण कोई ज्ञान दूसरे ज्ञान को नहीं प्रकाशित कर सकता है। ज्ञान चूँकि क्षणस्थायी है और अन्य ज्ञान उत्पन्न होने तक नहीं ठहर सकता अतः वह भला उससे कैसे प्रकाशित हो सकता है। इन सब कारणों से शबर का कहना है कि ज्ञान अप्रत्यक्ष है। उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। प्रत्यक्ष मात्र बाह्य अर्थ का होता है। अर्थ के ज्ञानोपरांत उसके ज्ञान का अनुमान होता है : अर्थविषया हि प्रत्यक्षाबुद्धिः, न बुद्धयन्तरविषया। क्षणिका हि सा, न बुद्धयन्तरकालमवस्थायते इति। उत्पद्यमानैवासौ ज्ञायते, ज्ञापयति च अर्थान्तरं, प्रदीपवद्' इति यद् उच्यते, तन्न, न ह्यज्ञातेऽर्थे कश्चिद् बुद्धिमुपलभते, ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छति।...अनाकारमेव हि बुद्धिमनुमिमीमहे, साकारं चार्थं प्रत्यक्षमेवावगच्छामः।[21]

कुमारिल श्लोकवार्तिक के शून्यवाद परिच्छेद में शबर के मत को विस्तार से विश्लेषित करते हुए बौद्धों की स्वसंवित्ति का जमकर खंडन करते हैं। बौद्ध विज्ञानवादियों द्वारा प्रस्तुत ज्ञान की स्वप्रकाशता विषयक मत का खण्डन करते हुए कुमारिल भी शबर के समान ही यह स्वीकार करते हैं कि ज्ञान का कार्य अर्थ को प्रकाशित करना है। ज्ञान स्वयं को नहीं प्रकाशित कर सकता है। बौद्धों के विपरीत भाट्टों का कहना है कि ज्ञान तथा विषय एक साथ नहीं प्रकाशित होते। पहले हमें विषय का ज्ञान होता है तथा बाद में विचार करने पर अर्थापत्ति के द्वारा हम ज्ञान की कल्पना करते हैं। जब हमें किसी वस्तु का ज्ञान होता है तो उस समय हमें ज्ञान का ज्ञान नहीं रहता। पर चूँकि विषय का प्रकाशन ज्ञान के बिना अनुपपन्न है, अस्तु अर्थापत्ति से हमें ज्ञान का ज्ञान होता है। इस तरह (भाट्ट) मीमांसकों के अनुसार जब हमें किसी वस्तु का ज्ञान होता है तो हमें उस ज्ञान का ज्ञान नहीं रहता। प्रत्यक्षतया तो हम वस्तु को ही देखते हैं, हाँ उस वस्तु का प्रकाशन बिना ज्ञान द्वारा संभव नहीं है, इस आधार पर ज्ञान की सत्ता का अनुमान करते हैं। इस तरह कुमारिल के अनुसार ज्ञान का ज्ञान अर्थापत्ति रूप प्रमाण से परोक्षतया होता है। ज्ञान प्रदीप की तरह उत्पन्न होते ही स्वयं को भासित करता हुआ अर्थ को भासित करता है–ऐसी बात नहीं है। यह सही है कि अर्थप्रकाशन से पूर्व ही ज्ञान उत्पन्न होता है। पर सत्ता की दृष्टि से पहले होते हुए भी अर्थप्रकाशनोपरान्त ही उसकी सत्ता का अनुमान हो पाता, अंदाज हो पाता है। इस अर्थ में ज्ञान चक्षु की तरह है जो वस्तु

को तो प्रत्यक्ष करता है पर स्वयं अपना प्रत्यक्ष नहीं कर पाता। वस्तुओं के प्रत्यक्ष के आधार पर ही कोई ज्ञाता अपने चक्षु का ज्ञान कर पाता है। इस प्रश्न के उत्तर में कि ज्ञान यदि अर्थ को प्रकाशित कर सकता है तो स्वयं को क्यों नहीं कर सकता है, कुमारिल का कहना है कि जिस प्रकार चक्षु में रूपप्रकाशन का सामर्थ्य व्यवस्थित है, उसी प्रकार ज्ञान में विषयमात्र के प्रकाशन की व्यवस्था है। अस्तु, ज्ञान में बाह्य विषयों के ही प्रकाशन का सामर्थ्य है, स्व को प्रकाशित करने का सामर्थ्य नहीं है।[22]

यह सही है कि ज्ञान स्वप्रकाश एवं प्रत्यक्ष नहीं है, फिर भी मीमांसकों के अनुसार ज्ञान के अस्तित्व पर संदेह नहीं किया जा सकता है। व्यक्ति को उसके ज्ञान का साक्षात् और अपरोक्ष ज्ञान न भी हो तो भी ज्ञान की सत्ता है ही क्योंकि बिना ज्ञान के वस्तुओं में प्रतीत होने वाले ज्ञातत्व या ज्ञातता की व्याख्या नहीं की जा सकती। जब भी हमें किसी विषय का ज्ञान होता है तो उस विषय में होने वाले प्राकट्य या ज्ञातता की व्याख्या बिना ज्ञान की सत्ता माने नहीं हो सकती। अतः ज्ञान और वस्तु में पहले हमें वस्तु का ज्ञान होता है और बाद में उस वस्तु में होने वाली ज्ञातता की अन्यथा अनुपपत्ति रूप अर्थापत्ति से ज्ञान का ज्ञान होता है–

नान्यथा ह्यर्थसद्भावो दृष्टः सन्नुपपद्यते।
ज्ञानं चेन्नेत्यतः पश्चात् प्रमाणमुपजायते।।

(श्लोकवार्तिक–शून्यवाद–182)

कुमारिल के उक्त मत को और स्पष्ट करते हुए पार्थसारथि मिश्र कहते हैं कि ज्ञान आत्मा की सकर्मक क्रिया है जो विषय में उसी प्रकार फल उत्पन्न करती है जिस प्रकार पकाने की क्रिया चावलों में विक्लिति रूप फल उत्पन्न करती है। जिस प्रकार पकाने की क्रिया चावल में **पकाये हुए** का नया गुण उत्पन्न कर उसे बिन पके हुए अन्य चावलों से पृथक् कर देती है, उसी प्रकार ज्ञान क्रिया भी अपने विषय में **ज्ञातता** का नया गुण उत्पन्न कर उसे अज्ञात से ज्ञात बना देती है तथा अन्य अज्ञात वस्तुओं से अलग कर देती है। यदि ज्ञात वस्तुओं में **ज्ञातता** नामक इस नये गुण को नहीं स्वीकार किया जाए तो अज्ञात विषय और ज्ञात विषय में कोई अंतर नहीं रह जाएगा तथा हम अज्ञात विषय को ज्ञात विषय से पृथक् नहीं कर पायेंगे। अब वस्तुओं में उत्पन्न होने वाली इस ज्ञातता की व्याख्या तब तक नहीं हो सकती जब तक हम इसके कारण के रूप ज्ञान की सत्ता को नहीं मानते क्योंकि ज्ञान ही अपने विषय में **ज्ञातता** रूप यह फल उत्पन्न करता है।[23] इस प्रकार पहले हमें वस्तु का ज्ञान होता है और पश्चात् वस्तु में उत्पन्न होने वाली ज्ञातता की अन्यथा अनुपपत्ति होने से अर्थापत्ति द्वारा ज्ञान का ज्ञान होता है। पार्थसारथि न्यायरत्नाकर में कहते हैं कि "अर्थापत्ति से ज्ञान का ज्ञान होता है, अर्थ में **ज्ञातत्व** की अन्यथा अनुपपत्ति से ज्ञान

की अर्थापत्ति होती है। अर्थ में ज्ञातत्व की उत्पत्ति से पूर्व ज्ञान की अभिकल्पना नहीं की जा सकती। अर्थ के ज्ञात होने के उपरान्त उसके ज्ञातत्व की अन्यथा अनुपपत्ति से ज्ञान की अर्थापत्ति होती है।"[24] इसी प्रकार शास्त्रदीपिका में पार्थसारथि मिश्र अनेक ढंग से अपनी बातों को रखते हुए यही प्रतिपादित करना चाहते हैं कि ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता और ज्ञातता की अन्यथा अनुपपत्ति रूप अर्थापत्ति द्वारा ज्ञान का ज्ञान होता है अथवा ज्ञातता रूप लिङ्ग द्वारा ज्ञान की सत्ता अनुमित होती है। वस्तुतः मीमांसक ज्ञान को कर्त्ता, क्रिया, कर्म मॉडल पर समझना चाहते हैं। ज्ञान को वे आत्मा का गुण नहीं मानकर उसे उसकी सकर्मक क्रिया बतलाते हैं। ज्ञान रूपी क्रिया का कर्त्ता आत्मा है तथा कर्म अर्थ है। जिस प्रकार पाक क्रिया चावल में **पक्वता** का फल उत्पन्न करती है उसी प्रकार ज्ञान अपने विषय में **ज्ञातता** का फल उत्पन्न करता है। इस तरह से भाट्टों की ज्ञानमीमांसा में ज्ञान के तीन पक्ष न होकर चार पक्ष होते हैं—कर्त्ता, कर्म, क्रिया और उसका फल। ज्ञान क्रिया अपने विषय में जो फल उत्पन्न करती है उसे ही अतिशय, ज्ञातता, प्राकट्य, प्रकाशन, भासन कहा जाता है। इन्द्रियजन्य ज्ञान अपने विषय में अपरोक्ष प्रकाश या ज्ञातता उत्पन्न करता है जबकि आनुमानिक ज्ञान अपने विषय में पारोक्ष्य प्रकाश उत्पन्न करता है। वस्तुओं में उत्पन्न होने वाले इसी परोक्ष या अपरोक्ष प्राकट्य या ज्ञातता रूप फल से उसके कारणभूत ज्ञान की कल्पना की जाती है, उसका अनुमान होता है।[25]

श्रीधर न्यायकन्दली में, वल्लभ न्यायलीलावती में तथा केशवमिश्र तर्कभाषा में मीमांसकों के इस ज्ञाततालिङ्गानुमेयवाद की जमकर आलोचना करते हैं। श्रीधर न्यायकन्दली में ज्ञान को मानसप्रत्यक्ष का विषय सिद्ध करते हुए इस बात का खंडन करते हैं कि ज्ञान का अनुमान होता है। श्रीधर का कहना है कि अर्थ की ज्ञातता रूप हेतु से ज्ञान का अनुमान नहीं हो सकता क्योंकि अर्थ में ज्ञान का सम्बन्ध ही ज्ञातता है और अर्थ में ज्ञान का यह सम्बन्ध ज्ञान का कर्म या विषय होना है—ज्ञानविषयता है, अब ज्ञान की प्रतीति के बिना ज्ञानकर्मत्व रूप ज्ञातता की प्रतीति नहीं हो सकती।[26] श्रीधर का तात्पर्य यह है कि ज्ञातता का निर्धारक ही ज्ञान है, फलतः ज्ञातता से ज्ञान का अनुमान उचित नहीं है क्योंकि ज्ञान ज्ञातता से पूर्व है और उसी से सम्बन्धित होने पर अर्थ में उसकी कल्पना की जा सकती है। मीमांसकों के इस तर्क के प्रत्युत्तर में कि ज्ञान अपनी उत्पत्ति के अनन्तर अर्थ में ज्ञातता का नूतन धर्म उत्पन्न करता है ठीक वैसे ही जैसे पाकक्रिया चावल में पक्वता का नूतन धर्म उत्पन्न करती है और इस **ज्ञातता** का अर्थ के साथ सबको स्पष्ट प्रत्यक्ष होता है, श्रीधर कहते हैं कि जिस प्रकार पाकक्रिया से चावल में उत्पन्न **पक्वता** का अनुभव होता है उसी प्रकार अर्थ में उत्पन्न होने वाली किसी ढंग के ज्ञातता नामक

नये धर्म का हमें अनुभव नहीं होता—"अथ मन्यसे 'ज्ञानेन स्वोत्पत्त्यनन्तरमर्थे ज्ञातता नाम काचिदवस्था जन्यते पाकेनेव तण्डुलेषु पक्वता, सा चार्थधर्मत्वादर्थेन सह प्रतीयते' इति। तदप्यसारम् अननुभवात्। यथा हि तण्डुलानामेवौदनीभावः पक्वताऽनुभूयते नैवमर्थस्य ज्ञातता।"[27]

पुनः श्रीधर कहते हैं कि मीमांसकों के मत में अनवस्था दोष है। ज्ञातता नामक धर्म स्वयं ज्ञान का विषय है, फलतः इसके लिये हमें इसमें भी ज्ञातता का धर्म उत्पन्न मानना होगा तथा फिर यह श्रृंखला अनन्त तक चलेगी। यदि यह कहा जाए कि ज्ञातता के ज्ञानविषयत्व को ज्ञातता से नियम्य न मानकर स्वभाव से नियम्य माना जाएगा फलतः ज्ञातता की कल्पना में अनवस्था की आपत्ति नहीं हो सकती है तो यह तार्किक नहीं है। यदि ज्ञातता में स्वभावतः ज्ञानविषयता है तो फिर घट आदि पदार्थों को स्वभावतः ज्ञान का विषय क्यों नहीं माना जाए ?[28] केशवमिश्र तर्कभाषा में **ज्ञातता** का खंडन करते हुए कहते हैं कि ज्ञानविषयता से अतिरिक्त ज्ञातता नामक कोई धर्म ही प्रामाणिक नहीं है, अतः इससे अर्थापत्ति द्वारा ज्ञान को सिद्ध करने का मनोरथ नितान्त निराधार है। घटज्ञान का जन्म होने पर 'मया घटोऽयं ज्ञातः' इस रूप से घट में जो ज्ञातता अवगत होती है वह कोई नूतन धर्म नहीं है अपितु वह ज्ञानविषयता रूप है। 'मुझे घट ज्ञात हो गया' इस कथन का यही अर्थ है कि घट मेरे ज्ञान का विषय बन गया और जब ज्ञानविषयता से अतिरिक्त ज्ञातता नामक कोई धर्म ही नहीं है तो फिर उसके कारण रूप ज्ञान की कल्पना भला कैसे हो ? वस्तुतः नैयायिकों का यह मानना है कि अर्थ और ज्ञान का विषयविषयीभाव स्वाभाविक है, उसके लिये ज्ञातता को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि ज्ञानजन्य ज्ञातता के आधार को ही ज्ञान का विषय माना जाए तो अतीत एवं अनागत पदार्थों का ज्ञान संभव नहीं हो पायेगा क्योंकि अविद्यमान धर्मी में धर्म का जन्म संभव न होने के कारण अतीत और अनागत पदार्थों में ज्ञातता की उत्पत्ति नहीं होगी, फलतः वे ज्ञान के विषय नहीं बन पायेंगे।[29]

मीमांसकों के तरफ से देखा जाए तो उनका तर्क स्पष्ट है। जब भी हमें किसी वस्तु का ज्ञान होता है तो उस वस्तु के बारे में 'यह वस्तु मुझे ज्ञात हो गया' इस तरह की स्पष्ट अनुभूति होती है। ज्ञानोपरान्त अर्थ में आये इस प्राकट्य, भासन, प्रकाशन, ज्ञातता को नकारा नहीं जा सकता है जिसकी भाषिक अभिव्यक्ति **ज्ञातो मया अयं घटः** एवंप्रकारक होती है। अब वस्तु में आयी यह प्रकटता या **ज्ञातता** जाहिर है ज्ञान द्वारा उत्पन्न की गयी है। ज्ञान द्वारा वस्तु में जो यह **ज्ञातता** नामक नूतन धर्म उत्पन्न होता है वह इस प्रकार सर्वलोकसिद्ध है तथा संयुक्ततादात्म्य सम्बन्ध द्वारा प्रत्यक्षगम्य है। ज्ञातता की सिद्धि **ज्ञातो मया घटः** एवंप्रकारक प्रत्यक्ष

से तो होती ही है साथ ही इसके लिये सबसे बड़ा तर्क यह है कि यदि ज्ञान द्वारा विषय के ऊपर **ज्ञातता** नामक धर्म की उत्पत्ति न मानी जाए तो 'कौन पदार्थ किस ज्ञान का विषय हो' इस बात की व्यवस्था नहीं हो सकेगी। ज्ञानविषयता से भिन्न ज्ञातता का अस्तित्व मानने पर ही यह कहा जा सकेगा कि जिस ज्ञान से जिस पदार्थ के ऊपर ज्ञातता का जन्म होता है वह पदार्थ उस ज्ञान का विषय है, अब घटज्ञान में घट के ऊपर ही ज्ञातता धर्म का उदय होता है, पटादि पदार्थ में नहीं, फलतः घट ही घटज्ञान का विषय है पट नहीं। यदि यह कहा जाए कि जो ज्ञान जिस पदार्थ से उत्पन्न होता है वह उस ज्ञान का विषय होता है, घट ज्ञान चूंकि घट से ही उत्पन्न होता है पट से नहीं अतः घट ही घटज्ञान का विषय है पट नहीं, तो यह बात ठीक नहीं क्योंकि घटज्ञान का उत्पादक तो न केवल घट अपितु चक्षु और प्रकाश भी हैं अतः उसे भी उस ज्ञान का विषय मानना होगा। यदि यह कहा जाए जो ज्ञान जिस पदार्थ के आकार से आकारवान होता है वह ज्ञान उसी पदार्थ विषयक होता है, घटज्ञान घटाकारक ही होता है पटाकारक नहीं अतः घट ही घटज्ञान का विषय है पट नहीं, फलतः ज्ञानविषयता की व्यवस्था हेतु ज्ञातता की कल्पना अनावश्यक है, इसके प्रत्युत्तर में मीमांसकों का कहना है कि ज्ञान निराकार होता है, तद् तद् ज्ञान में तद् तद् अर्थविषयत्व के अतिरिक्त तद् तद् अर्थाकारत्व असिद्ध है। अतः आकार से भी विषयता का नियामन संभव नहीं है। मीमांसकों का कहना है कि यदि **ज्ञातता** को न स्वीकारा जाए तो ज्ञानविषयता का नियामन असंभव है, इसलिये ज्ञानविषयता की अन्यथा अनुपपत्ति से प्रादुर्भूत होने वाली अर्थापत्ति से **ज्ञातता** सिद्ध है। पार्थसारथि मिश्र शास्त्रदीपिका में कहते हैं कि ज्ञान क्रियाजन्यफल का आश्रय ही विषय है। ज्ञान क्रिया जिस पदार्थ में अपना फल उत्पन्न करती है वही उसका विषय है। संसार की यावत् वस्तुओं में वही हमारे ज्ञान का विषय है जिसमें ज्ञानक्रिया अपने फल को उत्पन्न करती है, बाकी सब उसके अविषय हैं। फल में भी ऐन्द्रिकज्ञान **आपरोक्ष्य** और आनुमानिक ज्ञान **पारोक्ष्य** का फल अपने विषय में उत्पन्न करते हैं। पार्थसारथि मिश्र कहते हैं कि यदि ज्ञान यह फल न उत्पन्न करे तो यह सांसारिक वस्तुओं में जो **विषय-अविषय विभाग** है और विषय में भी जो **पारोक्ष्य-आपरोक्ष्य** भाव है उसकी व्याख्या नहीं हो पायेगी। अतः यह स्वीकार करना होगा कि ज्ञान द्वारा अर्थ में कोई फल—अतिशय—प्रकाशन—भासन—दृष्टत्व—ज्ञातत्व—प्राकट्य—**ज्ञातता** उत्पन्न होती है—"अस्ति हि विषयाविषयविभागः, विषयेष्वपि परोक्षापरोक्षविभागः सार्वजनीनः। न च फलमन्तरेणायं विभागः सम्भवतीति तदाश्रीयते।"[30]

इस आक्षेप पर कि ज्ञानजन्य ज्ञातता तो विषय के वर्तमान स्थल पर ही संभव है, अतीत और अनागत विषयों में ज्ञान ज्ञातता रूप अतिशय कैसे उत्पन्न कर सकेगा

और यदि नहीं करता तो अतीत एवं अनागत विषयों के ज्ञान की व्याख्या नहीं हो पायेगी, पार्थसारथि का कहना है कि विद्यमान धर्मी में ही धर्म उत्पन्न हो यह आवश्यक नहीं है। जिस तरह बीते हुए दिनों की दशत्व आदि संख्या उत्पन्न होती है उसी तरह अविद्यमान अतीत और अनागत के विषयों में भी ज्ञान प्राकट्य उत्पन्न करता है—अतिक्रान्तदिवसगतदशत्वादिसंख्यावच्चाऽसतोर्भूतभविष्यतोरविद्यमानत्वेऽपि धर्मिणः प्रकाशनधर्मो जायत इति प्रमाणबलादभ्युपगम्यते।[31]

ज्ञातता के सम्बन्ध में एक और समस्या यह उठती है कि यदि ज्ञान वस्तु में ज्ञातता का धर्म उत्पन्न करता है तो वस्तु में होने वाली इस ज्ञातता का ज्ञान तो न केवल ज्ञाता बल्कि दूसरों को भी होना चाहिए क्योंकि चावल में उत्पन्न होने वाली पक्वता तो सभी को दिखायी पड़ती है। इस प्रश्न के सम्बन्ध में मीमांसा का उत्तर है कि जैसे दूरवर्ती स्थान पर वही व्यक्ति पहुँचता है जो चलने का व्यापार करता है, न कि वह जो नहीं चलता है उसी प्रकार वस्तु में होने वाली **ज्ञातता** उसी व्यक्ति को दिखायी पड़ती है जिसके अंदर ज्ञान उत्पन्न हुआ है न कि अन्य दूसरों को।

पीछे जो अतीत एवं अनागत वस्तुओं के ज्ञान की समस्या उठायी गयी वह निश्चित रूप से विशेष विश्लेषण की अपेक्षा रखती है। परवर्ती प्रायः सभी आलोचकों ने **ज्ञातता** के खंडन के लिये यह युक्ति अवश्य दी है। विद्यमान वस्तु में ज्ञान अपना फल उत्पन्न करता है यह बात तो समझ में आती है पर जो वस्तु अविद्यमान है उनमें वह कैसे कोई अतिशय उत्पन्न कर सकती है ? इस समस्या को हम आनुमानिक ज्ञान के संदर्भ में समझें तो समस्या स्पष्ट होती है। प्रत्यक्ष ज्ञान की स्थिति में तो यह सहज रूप से समझ में आता है कि ज्ञान अपने विषय में प्राकट्य या ज्ञातता का फल उत्पन्न करता है क्योंकि यहाँ विषय सीधे ज्ञान का विषय बनता है। प्रत्यक्ष ज्ञान में विषय वर्तमान रहता है और उस विषय में उत्पन्न होने वाली ज्ञातता के प्रत्यक्ष से व्यक्ति उसके कारण के रूप ज्ञान का अनुमान कर सकता है। पर आनुमानिक ज्ञान में तो विषय उपस्थित नहीं रहता, फलतः उसमें होने वाली ज्ञातता अप्रत्यक्षभूत रहती है फिर भला वह कैसे ज्ञान का ज्ञान करा पायेगी। जैसा कि हमने पीछे देखा पार्थसारथि शास्त्रदीपिका में इस समस्या का उत्तर इस ढंग से देते हैं कि ऐन्द्रिक ज्ञान अपने विषय में **आपरोक्ष्य** और आनुमानिक ज्ञान विषय में **पारोक्ष्य** का फल उत्पन्न करता है और विषय में उत्पन्न होने वाले इस **पारोक्ष्य-आपरोक्ष्य** फल से हम इनके कारण के रूप में ज्ञान का अनुमान करते हैं। वहीं पार्थसारथि यह भी कहते हैं कि ज्ञान द्वारा अपने विषय में फल उत्पन्न करने के लिये यह आवश्यक नहीं है कि विषय विद्यमान ही हो, अविद्यमान विषय में भी ज्ञान अपना फल उत्पन्न कर सकता है। न्यायरत्नाकर में पार्थसारथि इस समस्या का दूसरा ही समाधान देते हैं। पार्थसारथि

का कहना है कि ज्ञान द्वारा ज्ञाता और ज्ञेय के बीच एक सम्बन्ध उत्पन्न होता है। वस्तुतः ज्ञान क्रिया क्या करती है ? यह ज्ञाता और ज्ञेय के बीच, विषयी और विषय के बीच या कहिए कि आत्मा और अर्थ के बीच सम्बन्ध को जनती है। ज्ञान के कारण ज्ञाता ज्ञेय से सम्बन्धित होता है। इस तरह विषय दूर हो या निकट, अतीत हो या अनागत, प्रत्यक्ष हो या आनुमानिक, ज्ञान उसका ज्ञाता से सम्बन्ध उत्पन्न करता है। ज्ञानजन्य ज्ञातृ-ज्ञेय सम्बन्ध रूप यह फल जो कि मानस प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात होता है अपने कारण के रूप में अनुमानादि स्थलों में अपने ज्ञान का कल्पक होता है—ज्ञान का ज्ञान कराता है। यह ज्ञातृ-ज्ञेय सम्बन्ध क्या है, इस पर पार्थसारथि मिश्र का कहना है कि ज्ञान द्वारा ज्ञाता ज्ञेय को व्याप्त करता है और ज्ञेय ज्ञाता द्वारा व्याप्त होता है अथवा कह सकते हैं कि ज्ञान द्वारा ज्ञेय विषय की ज्ञाता को प्राप्ति होती है। इस तरह मीमांसकों के अनुसार ज्ञान ज्ञाता को विषय से सम्बन्धित करता है, ज्ञाता और ज्ञेय के बीच व्याप्तृ-व्याप्य रूप जो सम्बन्ध होता है उसे जनता है। पार्थसारथि स्वयं पूछते हैं कि ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्ध क्या है और उत्तर देते हैं **प्राप्ति** का...कः पुनरसौ सम्बन्धः ? उक्तम्-प्राप्तिरिति।[32] वस्तुतः मीमांसकों का कहना है कि ज्ञान क्रिया ज्ञाता को विषय से जोड़ती है। ज्ञान के कारण ज्ञाता को ज्ञेय की एक तरह से प्राप्ति होती है। ज्ञाता-ज्ञेय के इस आप्त सम्बन्ध के कारण ही ज्ञाता के अंदर विषय के प्रति **यह मुझे ज्ञात हो गया—ज्ञातोऽयं मया** इस तरह की प्रतीति होती है। ज्ञाता का ज्ञेय से यही आप्त सम्बन्ध कि **यह मुझे ज्ञात हो गया** पार्थसारथि के अनुसार दृष्टत्व या ज्ञातत्व है—**स एवात्मनोऽर्थेन सम्बन्धो दृष्टत्वज्ञातत्वादिपदैरभिधीयत** इति।[33]

लेकिन यहाँ एक समस्या उठ खड़ी होती है। यदि दृष्टत्व, ज्ञातत्व या कहिये कि **ज्ञातता** ज्ञातृ-ज्ञेय सम्बन्ध है और वह मानस प्रत्यक्ष द्वारा गम्य है तो इस **ज्ञातता** का आश्रय विषय नहीं होगा। अर्थात् ज्ञान क्रिया द्वारा जन्य ज्ञातता का आश्रय विषय नहीं होगा बल्कि आत्मा होगी, क्योंकि मानस प्रत्यक्ष से आत्मा के ही गुणों अवस्थाओं का ज्ञान होता है विषय के धर्मों का नहीं। अगर हम अपनी ज्ञानप्रक्रिया पर विचार करें तो यह ठीक भी लगता है। जब हमें किसी चीज का ज्ञान होता है तो उस चीज के प्रति अपने इस अवाप्त सम्बन्ध का—कि वह चीज मुझे ज्ञात हो गयी है—उस वस्तु से अपने सम्बन्ध का—स्पष्ट रूप से बोध होता है। ज्ञान ज्ञाता का ज्ञेय के प्रति इस तरह का जो गुणभाव जनता है—उसे मानसप्रत्यक्षगम्य होने से ज्ञाता का धर्म मानना होगा। वाचस्पति मिश्र न्यायकणिका में ज्ञातृ-ज्ञेय सम्बन्ध रूप इस ज्ञातता को विषय का धर्म न कहकर ज्ञाता का ही धर्म बताते हैं।[34] ज्ञाता का धर्म मानने पर भी **ज्ञातता** इस अर्थ में ज्ञान से अलग ही रहेगा कि जहाँ ज्ञातता का ज्ञान सीधे

मानसप्रत्यक्ष से होता है, ज्ञान का ज्ञान मानसप्रत्यक्षगम्य इस **ज्ञातता** की अन्यथा अनुपपत्ति प्रसूत अर्थापत्ति द्वारा या अनुमान द्वारा परोक्षतः होगा। **ज्ञातता** का आश्रय आत्मा में स्वीकार करने से और उसे मानसप्रत्यक्षगम्य मानने से अतीत और अनागत, दूरस्थ और निकट, प्रत्यक्ष और परोक्ष सभी प्रकार के ज्ञानों में उत्पन्न होने वाली ज्ञान-ज्ञेय या ज्ञातृ-ज्ञेय सम्बन्ध रूपा **ज्ञातता** की व्याख्या हो जाएगी। पार्थसारथि भी शास्त्रदीपिका में विकल्प रूप में इस पक्ष को प्रस्तुत करते हैं जिसमें ज्ञान द्वारा मानसप्रत्यक्षगम्य एक ज्ञातृ-ज्ञेय सम्बन्ध के उत्पत्ति की बात की गयी है और इस सम्बन्ध की अन्यथानुपपत्ति प्रसूत अर्थापत्ति द्वारा इसके कारण के रूप में ज्ञान के ज्ञान होने की बात की गयी है। शास्त्रदीपिका में वे कहते हैं– अथ वा ज्ञानक्रियाद्वारको यः कर्तृभूतस्यात्मनः कर्मभूतस्य चार्थस्य परस्परं सम्बन्धो व्याप्तृव्याप्यत्वलक्षणः स मानसप्रत्यक्षावगतो विज्ञानं कल्पयति।[35] पार्थसारथि इस पक्ष की तार्किक सुसंगतता को देखते हुए इसे रोचक भी बताते हैं–तस्मान्मानसप्रत्यक्षगम्योऽर्थेन सहात्मनः सम्बन्धो ज्ञानं कल्पयतीति रमणीयम्। अस्ति हि कोऽपि सम्बन्धोऽर्थेन सहात्मनो मानसप्रत्यक्षगम्यः सर्वजनीनः स ज्ञानस्य कल्पकः।[36]

पर **ज्ञातता** को इस तरह ज्ञाता का धर्म मानने पर और उसे मानसप्रत्यक्षगम्य मानने से भले ही सभी तरह के ज्ञानों में होने वाले ज्ञातृ-ज्ञेय सम्बन्ध की व्याख्या हो जायेगी और उन ज्ञानों के ज्ञान की व्याख्या भी हो जायेगी, पर इससे स्वयं पार्थसारथि द्वारा प्रस्तुत उस पूर्व मत का विरोध होगा जिसमें उन्होंने ज्ञान द्वारा अर्थ में अतिशय–ज्ञातता–प्राकट्य धर्म के उत्पत्ति की बात की है। **ज्ञातता** के सम्बन्ध में सामान्य अवधारणा यही प्रसिद्ध है कि **ज्ञातता** ज्ञान द्वारा अर्थ में उत्पन्न होने वाला अतिशय है। वस्तुतः भाट्ट परम्परा में विषय का लक्षण ही ज्ञातता को विषयाश्रित मानकर दिया गया है। ज्ञान जन्य ज्ञातता के आश्रय को ही विषय कहा गया है। ज्ञानजन्यफलभागित्व ही विषयत्व है अर्थात् ज्ञानजन्यफल के आधार को विषय कहते हैं और विषयनिष्ठ फल के जनक को विषयी कहा गया है। इस तरह ज्ञान में होने वाले विषयी-विषय भाव की व्याख्या ही ज्ञातता को **विषयनिष्ठ** मानकर किया गया था। अब **ज्ञातता** को यदि उपरोक्त ढंग से **विषयीनिष्ठ** मानकर मानसप्रत्यक्षगम्य माना जाए तो इससे भाट्टों के मत में विरोध उत्पन्न हो जायेगा ओर **कर्त्ता–क्रिया–कर्म–फल** मॉडल पर ज्ञान की व्याख्या का उनका प्रयास असफल हो जाएगा। वस्तुतः **ज्ञातता** को मानने वाले मीमांसक ऐसे विरोधी स्थिति में पहुँच जाते हैं जहाँ या तो उन्हें यह मानना होगा कि ज्ञातता अर्थधर्म न होकर ज्ञातृधर्म है और उसका मानसप्रत्यक्ष होता है तथा उसके आधार पर उसके कारण के रूप में ज्ञानक्रिया का अनुमान या अर्थापत्ति से ज्ञान होता है जैसा कि न्यायकणिकाकार

मानते हैं अथवा उन्हें अपने इस विषय-विषयी सम्बन्ध की नये ढंग से व्याख्या करनी होगी तथा उनका नया लक्षण देना होगा। पार्थसारथि को इस अंतर्विराध की स्पष्ट चेतना थी। उनके इस द्वन्द्व की स्पष्ट अभिव्यक्ति इस रूप में सामने आती है कि वे अपने मत को स्पष्ट करते समय विभिन्न विकल्प का सहारा लेते हैं। वस्तुतः पार्थसारथि का आशय यह प्रतीत होता है कि प्रत्यक्षज्ञान की स्थिति में ज्ञान विषय में एक अतिशय जिसे हम भासन-प्रकाशन, प्राकट्य या ज्ञातता जो भी कहें उत्पन्न करता है, यह ज्ञातता विषय में उत्पन्न होती है और विषय के साथ इसका भी प्रत्यक्ष होता है, हम विषय में उत्पन्न होने वाली इस **ज्ञातता** के कारण के रूप में किसी ज्ञान क्रिया की कल्पना करते हैं अनुमान करते हैं क्योंकि बिना इसके ज्ञेय विषय में **ज्ञातोऽयं** इस प्रकार उत्पन्न होने वाली ज्ञातता की व्याख्या नहीं हो सकती। प्रत्यक्षेतर ज्ञान की स्थिति में ज्ञान जन्य ज्ञातता विषय में न होकर ज्ञाता में ही होती है और इसका जैसा कि वाचस्पति ने कहा कि सुखादि के तरह मानस प्रत्यक्ष होता है, मानसप्रत्यक्षगम्य यह ज्ञातता अपने कारण के रूप में ज्ञान की कल्पना कराती है, अनुमान कराती है। इस तरह प्रत्यक्ष ज्ञान की स्थिति में ज्ञातता अर्थगत और प्रत्यक्षेतर ज्ञान में ज्ञातृगत होती है, प्रथम स्थिति में इसका अर्थ के साथ ही प्रत्यक्ष होता है जबकि दूसरी स्थिति में इसका मानस प्रत्यक्ष होता है। दूसरी ओर वाचस्पति मिश्र इन्हीं कारणों से उसे ज्ञाता का ही धर्म मानते हैं तथा इसको मानसप्रत्यक्षगम्य बताते हैं। जो भी हो, ज्ञान जन्य इस ज्ञातता के प्रत्यक्षोपरान्त इसके कारण के रूप में अर्थापत्ति या अनुमान द्वारा ज्ञान का ज्ञान होता है। इस प्रकार भाट्टों के अनुसार ज्ञान न तो स्वप्रकाश है और न प्रत्यक्ष। ज्ञान का ज्ञान ज्ञातता की अन्यथा अनुपपत्ति प्रसूत अर्थापत्ति द्वारा या ज्ञाततालिङ्गक अनुमान द्वारा होता है।

संदर्भ एवं टिप्पणी

1. पार्थसारथि मिश्र, श्लोकवार्तिक–शून्यवाद–64 पर न्यायरत्नाकर।
2. कुमारिलभट्ट, श्लोकवार्तिक–शून्यवाद, 184.
3. पार्थसारथि मिश्र, श्लोकवार्तिक–शून्यवाद–184 पर न्यायरत्नाकर।
4. कुमारिलभट्ट, श्लोकवार्तिक–शून्यवाद, 187.
5. कुमारिलभट्ट, श्लोकवार्तिक–शून्यवाद, 185.
6. धर्मकीर्ति, प्रमाणविनिश्चय, 1/55.
7. कुमारिलभट्ट, श्लोकवार्तिक–शून्यवाद, 22.
8. कुमारिलभट्ट, श्लोकवार्तिक–शून्यवाद, 180.
9. मीमांसा–शाबर–भाष्य, 1/1/5.
10. अतो मृत्सलिलप्रच्छन्नबीजादिवदविदितस्वरूपसामर्थ्यैव संविद् विषयं व्यवस्थापयति।

सुचरित मिश्र, श्लोकवार्त्तिक–चोदनासूत्र–114 पर काशिका।

11. कुमारिलभट्ट, श्लोकवार्त्तिक–शून्यवाद, 23-27.
12. कुमारिलभट्ट, श्लोकवार्त्तिक–शून्यवाद, 181.
13. कुमारिलभट्ट, श्लोकवार्त्तिक–शून्यवाद, 182, 184, 232.
14. कुमारिलभट्ट, श्लोकवार्त्तिक–शून्यवाद, 193.
15. नारायण, मानमेयोदय, पृ. 256-257.
16. ननु ज्ञानस्य प्राकट्यावगम्यत्वेऽपि ज्ञातस्यैव प्राकट्यस्य ज्ञानगमकत्वम्। ततश्च प्राकट्यगतेन ज्ञानान्तरेण भवितव्यम्। तदपि ज्ञानं प्राकट्यान्तरावसेयम्। इत्यनवस्थाप्रसङ्ग इति चेद् मैवम्। मूलक्षयाभावेनास्या अनवस्थाया अदूषणत्वात्। तथा प्राहुः – मूलक्षयकरीं प्राहुरनवस्थां हि दूषणीम्।

    नारायण, मानमेयोदय, पृ. 256.

17. 'ज्ञातो मया घटः' इस स्मृति के द्वारा जो ज्ञान के पूर्वानुभव की कल्पना की जाती है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि उस स्मृति में तो ज्ञान का विषयविधया भान अर्थापत्ति द्वारा होता है–

    स्मृतेरुत्तरकालं चेत्येतन्मिथ्यैव गीयते।
    तदैव ह्यस्य संवित्तिरर्थापत्त्योपजायते।।

    कुमारिलभट्ट, श्लोकवार्त्तिक–शून्यवाद, 118.

18. कुमारिलभट्ट, श्लोकवार्त्तिक–शून्यवाद, 79.
19. कुमारिलभट्ट, श्लोकवार्त्तिक–शून्यवाद, 82.
20. देखें, कुमारिलभट्ट, श्लोकवार्त्तिक–शून्यवाद, 110-114.
21. मीमांसा–शाबर–भाष्य, 1/1/5.
22. देखें, कुमारिलभट्ट, श्लोकवार्त्तिक–शून्यवाद, 181-193.
23. ज्ञानजन्योऽर्थगतः कश्चिदतिशयः प्रकाशनभासनादिपर्यायपदवाच्यः, स च पाकजन्यौदनादिगतातिशयवदनवगतेऽपि ज्ञाने शक्यतेऽवगन्तुम्, अतः ज्ञानस्य कल्पक इति, सत्यमस्त्यतिशयः।

    पार्थसारथि मिश्र, श्लोकवार्त्तिक–शून्यवाद–182 पर न्यायरत्नाकर।

24. अर्थापत्तिर्ज्ञानस्य प्रमाणम्, सा चार्थस्य ज्ञातत्वान्यथानुपपत्तिप्रभवा प्रागर्थस्य ज्ञातत्वाभावान्नोत्पद्यते, ज्ञाते त्वर्थे पश्चात् तज्ज्ञातत्वानुपपत्त्या अर्थापत्तिप्रमाणमुपजायते; तद्युक्तम्–पूर्वं त्वग्रहणं पश्चाच्च ग्रहणमिति।

    पार्थसारथि मिश्र, श्लोकवार्त्तिक–शून्यवाद–182 पर न्यायरत्नाकर।

25. ज्ञानक्रिया हि सकर्मिका कर्मभूतेऽर्थे फलं जनयति पाकादिवत्। तच्चफलमैन्द्रियक ज्ञानजन्यमापरोक्ष्यम्, लिङ्गादिज्ञानजन्यन्तु पारोक्ष्यमित्युच्यते। अस्ति हि विषयाविषय विभागः, विषयेष्वपि परोक्षापरोक्षविभागः सार्वजनीनः। न च फलमन्तरेणायं विभागः सम्भवतीति तदाश्रीयते। तदेव च फलं कार्यभूतं कारणभूतं विज्ञानमुपकल्पयतीति सिध्यत्यप्रत्यक्षमपि ज्ञानम्।

    अथ वा ज्ञानक्रियाद्वारको यः कर्तृभूतस्यात्मनः कर्मभूतस्य चार्थस्य परस्परं सम्बन्धो व्याप्तृव्याप्यत्वलक्षणः स मानसप्रत्यक्षावगतो विज्ञानं कल्पयति।

    पार्थसारथि मिश्र, शास्त्रदीपिका, पृ. 98.

26. ज्ञानसम्बन्धो ज्ञातता, याऽसौ ज्ञानकर्मता सा प्रतीयमाने न प्रतीयते।
श्रीधर, न्यायकन्दली, पृ. 232.
27. श्रीधर, न्यायकन्दली, पृ. 233.
28. यथा चार्थे ज्ञायमाने ज्ञातता, तथा ज्ञाततायामपि ज्ञायमानायां ज्ञाततान्तरमित्यनवस्था। अथेयं स्वप्रकाशा ? ज्ञाने कः प्रद्वेषः ?
श्रीधर, न्यायकन्दली पृ. 233.
29. स्वभावादेव विषयविषयितोपपत्तेः। अर्थज्ञानयोरेतादृश एव स्वाभाविको विशेषः येनानयोर्विषय विषयिभावः। इतरथाऽतीतानागतयोविर्षयत्वं न स्यात्, ज्ञानेन तत्र ज्ञातताजननासम्भवादसति धर्मिणि धर्मजननायोगात्। किं च ज्ञाततायाः अपि स्वज्ञानविषयत्वात् तत्रापि ज्ञाततान्तरप्रसङ्गस्तथा चाऽनवस्था। अथ ज्ञाततान्तरमन्तरेणाऽपि स्वभावादेव विषयत्वं ज्ञाततायाः। एवं चेत्, तर्हि घटादावपि किं ज्ञाततयेति।
केशवमिश्र, तर्कभाषा, पृ. 176.
30. पार्थसारथि मिश्र, शास्त्रदीपिका, पृ. 98.
31. पार्थसारथि मिश्र, शास्त्रदीपिका, पृ. 102.
32. पार्थसारथि मिश्र, श्लोकवार्त्तिक—शून्यवाद—182 पर न्यायरत्नाकर।
33. देखें, वहीं।
साथ ही देखें, पार्थसारथि मिश्र कृत शास्त्रदीपिका, पृ. 98-102.
34. नेयमर्थधर्मः, किं तु ज्ञातुरात्मनोज्ञेयसम्बन्धभेद एव ज्ञातता। स च ज्ञातृधर्मो ज्ञायमानार्थाऽवच्छिन्नो ज्ञेयं प्रति गुणभाव आत्मनः सुखादिवत्प्रमित्साऽनपेक्ष समनन्तरप्रत्ययोत्पन्नमानसप्रत्यक्षवेदनीय एकसमवेतोऽप्युभयाऽधीन निरूपणताद्याश्रयः शक्तिरिव सम्बन्धः संभवति।
वाचस्पति मिश्र, न्यायकणिका, सं. महाप्रभुलाल गोस्वामी, तारा प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी, 1986, पृ. 190.
35. पार्थसारथि मिश्र, शास्त्रदीपिका, पृ. 98.
36. पार्थसारथि मिश्र, शास्त्रदीपिका, पृ. 100.

❑

6

प्राभाकर मत में ज्ञान का स्वरूप और आत्मा एवं मन

न्याय-वैशेषिक दार्शनिकों के समान ही प्राभाकर मत में भी ज्ञान या चेतना आत्मा का स्वरूप या नित्य धर्म न होकर उसका आगंतुक गुण है। प्राभाकरों के अनुसार आत्मा न तो चेतन है और न ही चेतना उसका अनिवार्य स्वभाव है। ज्ञान या चेतना की उत्पत्ति आत्मा में तभी होती है जब आत्मा का मन से संयोग होता है।[1] आत्म-मनः सम्पर्क के बिना आत्मा में ज्ञान नहीं होता है। जिन दशाओं में ऐसा संयोग नहीं होता उन दशाओं में आत्मा में चेतना नहीं होती। ऐसी अवस्थाओं में आत्मा जड़रूप हो जाता है। वस्तुतः ज्ञान प्राभाकर मत में सुख, दुःख, इच्छा आदि के समान ही आत्मा का गुण है। आत्मा में इन गुणों की स्थिति उसके शरीर-इन्द्रियादि से संयोग के कारण है। अपने प्राक्तन कर्मों या अदृष्ट के कारण आत्मा का शरीरादि विशेष से सम्बन्ध होता है। और जब आत्मा का शरीर-इन्द्रिय-मन विशेष से इस प्रकार सम्बन्ध होता है तो उसमें बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छादि गुणों की उत्पत्ति होती है। इस तरह प्राभाकर मत में ज्ञान या चेतना कोई शाश्वत अतीन्द्रिय सत्ता नहीं है और न ही वह ऐसे किसी सत्ता का स्वरूप या नित्यधर्म ही है। ज्ञान पूरी तरह एक मानवीय व्यापार है जो आत्मा में तभी उत्पन्न होता है जब उसका शरीर और मन से सम्पर्क होता है। ज्ञान चूँकि उत्पन्न होता है और नष्ट होता है, इसलिये उसे कार्य मानना अधिक सुसंगत लगता है। जिस तरह से हर कार्य का समवायी कारण और असमवायी कारण होता है, उसी तरह ज्ञान का भी समवायी कारण और असमवायी कारण होता है। ज्ञान का समवायी कारण आत्मा है।

शबर ने भाष्य में आत्मा की सत्ता को अनिवार्य माना है।[2] ज्ञान, सुखादि गुणों के आश्रय के रूप में आत्मा नामक द्रव्य की सत्ता को स्वीकारना मीमांसकों ने अनिवार्य समझा। पुनः वैदिक कर्मकाण्डों की भी व्याख्या के लिये शरीर से पृथक् एक नित्य आत्मा की सत्ता को जो शरीर के नष्ट हो जाने पर भी नष्ट न हो, मानना मीमांसकों के लिये अनिवार्य था। 'स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गलोकं याति'

वाक्य के विश्लेषण द्वारा शबर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शरीर से पृथक् आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किये बिना उन विधिवाक्यों की कोई व्याख्या दे सकना असंभव होगा जिसमें यजमान के स्वर्गगमन की बात की जाती है क्योंकि शरीर तो मृत्यु के साथ ही नष्ट हो जाता है।[3] उपर्युक्त कारणों से ही आत्मा को कर्त्ता और भोक्ता भी मानना होगा।[4] शालिकनाथ प्रकरणपञ्चिका में प्राभाकरों के सिद्धान्तपक्ष को रखते हुए कहते हैं कि शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि से पृथक् आत्मा की अलग सत्ता है। यह आत्मा नित्य है; विभु एवं सर्वव्यापी है। यह हर शरीर में पृथक्-पृथक् है और जब भी कभी हमें ज्ञान होता है ज्ञाता रूप में यह आत्मा उसमें अवश्य प्रकाशित होता है–

बुद्धीन्द्रियशरीरेभ्यो भिन्न आत्मा विभुर्ध्रुवः।
नानाभूतः प्रतिक्षेत्रमर्थवित्तिषु भासते।।[5]

यहाँ अंतिम बात जो कही गयी है वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्राभाकर दार्शनिकों के अनुसार जब भी हमें किसी चीज का ज्ञान होता है तो उस ज्ञान में न केवल वह चीज प्रकाशित होती है अपितु उसका ज्ञान और ज्ञाता भी प्रकाशित होता है। प्रत्येक ज्ञान में ज्ञाता, ज्ञेय, और ज्ञान तीनों ही प्रकाशित होते हैं।[6] ज्ञान का रूप **अयं घटः** इत्याकारक न होकर **अहं घटं जानामि** इस ढंग का होता है। इस तरह हर ज्ञान में ज्ञाता आत्मा प्रकाशित होता है क्योंकि तभी **मैं अमुक चीज जानता हूँ** इस तरह का विमर्श संभव होता है। ज्ञान प्राभाकर मत में प्रदीप की तरह होता है। जिस तरह प्रदीप वस्तु को, स्वयं को तथा अपने आधार को प्रकाशित करता है उसी प्रकार ज्ञान एक साथ ही ज्ञेय वस्तु, स्वयं ज्ञान तथा अपने आश्रयभूत ज्ञाता आत्मा को आलोकित करता है। इस तरह ज्ञान का स्वरूप ही एक ज्ञाता आत्मा की सत्ता को सिद्ध करता है जो कि हर ज्ञान में ज्ञाता रूप में प्रकाशित होता है। ज्ञान हमेशा किसी ज्ञाता को होता है।

हर ज्ञान में ज्ञाता रूप में जो आत्मा भासित होता है वह शरीर-इन्द्रियादि से पृथक् है, क्योंकि जब हमें किसी चीज का ज्ञान होता है जैसे कि उदाहरणतः घट ज्ञान में तब हमें **मैं घट जानता हूँ** में मैं के द्वारा शरीर-इन्द्रियादि का बोध न होकर उससे पृथक् ज्ञाता आत्मा का बोध होता है। शालिकनाथ इस बात का खंडन करते हैं कि शरीरादि किसी भी ढंग से अहम् पद का आस्पद हो सकते हैं। जहाँ कहीं भी शरीरादि के संदर्भ में **मैं** शब्द का प्रयोग होता है वह आलंकारिक ही होता है। वस्तुतः मैं शब्द द्वारा चेतन ही सूचित होता है।[7] जड़ात्मक वस्तुयें–शरीरादि–**आत्मा** शब्द से नहीं कहे जा सकते क्योंकि वे चेतन नहीं हैं। वस्तुतः शरीर, इन्द्रिय से पृथक् आत्मा तत्त्व अलग है। ज्ञान इसी आत्मा का गुण है।

ज्ञान का आश्रयभूत आत्मा शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि से अलग कोई नित्य तत्त्व है।[8] अयावत्‌शरीरभावी होने से ज्ञान या चेतना शरीर का गुण नहीं हो सकता है। इसी प्रकार ज्ञान इन्द्रियों का भी गुण नहीं हो सकता है। हमारी इन्द्रियाँ ज्ञाता नहीं हो सकती हैं। जिस वस्तु का नेत्र से दर्शन होता है उसी का हम हाथ से स्पर्श करते हैं और हमारे अंदर इस तरह की प्रतीति होती है कि जिस वस्तु को मैंने देखा था उसी को छू रहा हूँ—**यदहमद्राक्षं तदहं स्पृशामि**। अब भिन्न-भिन्न इन्द्रियों से तो उनके-उनके विषयों का ही ग्रहण संभव है। अतः इन इन्द्रियों से भिन्न एक नित्य आत्मा की सत्ता माननी होगी जो उन सबको समवेत रूप से विषय बनाता है। तभी तो हम इस तरह का कथन कर सकते हैं कि जिस चीज को देखा था उसी को छू रहा हूँ।[9] वस्तुतः किसी तरह के प्रतिसन्धान या प्रत्यभिज्ञान और स्मृति की व्याख्या तभी संभव है जब एक स्थायी आत्मा को ज्ञाता रूप में स्वीकारा जाए। स्मृति और प्रत्यभिज्ञा की ही तरह **इच्छा** भी स्थायी आत्मा की सत्ता को सिद्ध करती है। इच्छा पूर्व अनुभूत या उपलब्ध की होती है। अब इस पूर्वानुभव या उपलब्धि और इच्छा का समानकर्तृक होना आवश्यक है। अतः स्थायी आत्मा को मानना होगा। यह आत्मा ज्ञाता, कर्त्ता, और भोक्ता है। यह नित्य और विभु है तथा हर शरीर में भिन्न-भिन्न है। यह आत्मा हर ज्ञान में ज्ञातृत्वेन भासित होता है।

प्राभाकर मीमांसक इस बात का खण्डन करते हैं कि आत्मा मानस प्रत्यक्ष का विषय है। आत्मा का मानस प्रत्यक्ष मानने पर आत्मा एक साथ ही प्रत्यक्ष का कर्त्ता और कर्म दोनों हो जाएगा, फलतः कर्तृ-कर्म विरोध प्रसक्त होगा। अतः आत्मा को मानस प्रत्यक्ष का विषय नहीं माना जा सकता।[10] कुमारिल आत्मा को अहंप्रत्यय का अधिष्ठान मानते हैं तथा उसे अहंप्रत्ययगम्य मानते हैं। अहंप्रत्ययगम्य होने से पार्थसारथि कहते हैं कि आत्मा मानसप्रत्यक्ष का विषय है। इस तरह भाट्टों के अनुसार आत्मा अहंप्रत्ययगम्य है तथा वह अहंप्रत्यय का आश्रय अथवा जैसा कि पार्थसारथि मानते हैं विषय है। दूसरी ओर प्राभाकर मत में यह अहम् ही आत्मा है और हर ज्ञान में यह ज्ञाता रूप में प्रकाशित होता है। प्राभाकरों के अनुसार जैसा कि पीछे कहा गया है ज्ञान स्वप्रकाश होता है तथा हर ज्ञान विषय को, स्वयं अपने को तथा अपने ज्ञाता को प्रकाशित करता है। ज्ञान जब भी होता है तो किसी विषय का होता है और उसमें उसका ज्ञाता भी प्रकाशित होता है। इस तरह बिना आत्मा या ज्ञाता के ज्ञान हुए वस्तुओं का ज्ञान संभव नहीं है और न तो बिना वस्तुओं के ज्ञान हुए आत्मा का ही ज्ञान संभव है।[11] केवल आत्मा का अलग से ज्ञान होने की न तो कोई जरूरत ही है और न यह संभव ही है। वस्तुओं के ज्ञान में ही वह ज्ञाता रूप में प्रकाशित हो जाता है। यद्यपि हर ज्ञान में ज्ञाता आत्मा प्रकाशित होता है फिर

भी आत्मा इस ज्ञान का विषय नहीं होता। जिस तरह गमन क्रिया का आस्पद होता हुआ भी व्यक्ति उस क्रिया का कर्म नहीं है, उसी प्रकार ज्ञान का आस्पद होता हुआ भी आत्मा उसका कर्म नहीं होता।[12] आत्मा प्रत्येक ज्ञान में ज्ञाता रूप में प्रकाशित होता है पर वह ज्ञाता रूप में ही प्रकाशित होता है। ज्ञाता का ज्ञान ज्ञेय रूप में कभी संभव नहीं है। आत्मा कभी ज्ञेयत्वेन नहीं प्रकाशित होता है।

यहाँ प्राभाकर मत की अद्वैत मत से विलक्षणता पर प्रकाश डालना आवश्यक होगा। प्राभाकर दार्शनिक अद्वैत की तरह ही यह मानते हैं कि ज्ञाता कभी भी ज्ञेय नहीं हो सकता। अतः उसे मानस प्रत्यक्ष का विषय नहीं माना जा सकता। अद्वैत की तरह वे यह भी मानते हैं कि ज्ञान स्वप्रकाश होता है। पर ज्ञान को स्वप्रकाश मानने के बावजूद प्रभाकर अद्वैत मत के विपरीत आत्मा को स्वप्रकाश नहीं मानते हैं। प्राभाकर दार्शनिकों के ऐसा मानने के पीछे कारण यह है कि वे अद्वैत वेदान्त की तरह आत्मा और ज्ञान की अभिन्नता को नहीं स्वीकार करते हैं। प्राभाकर मतानुयायी ज्ञान और आत्मा में स्पष्ट भेद मानते हैं तथा ज्ञान को आत्मा का आगन्तुक गुण मानते हैं। फलतः वे ज्ञान को स्वप्रकाश मानने के बावजूद आत्मा को स्वप्रकाश नहीं मानते हैं। उनके अनुसार आत्मा और ज्ञान में ज्ञान ही स्वप्रकाश है और चूँकि आत्मा ज्ञान से भिन्न है अतः ज्ञान के स्वप्रकाश होने के बावजूद आत्मा वैसा नहीं है। आत्मा स्वप्रकाश ज्ञान का आश्रय है, पर आश्रय होने के बावजूद अपनी अभिव्यक्ति के लिये ज्ञान पर आश्रित है। हाँ यह अवश्य है कि वह हमेशा ज्ञातृत्वेन ही प्रकाशित होता है। इस प्रकार प्राभाकर मत में आत्मा स्वप्रकाश ज्ञान का अधिष्ठान है तथा हर ज्ञान में ज्ञाता रूप में प्रकाशित होता है। यदि आत्मा को स्वप्रकाश माना जाएगा तो हमें सुषुप्ति में भी उसके ज्ञान को मानना होगा जो कि नहीं होता है। सही स्थिति तो यह है कि सुषुप्ति में ज्ञान के न होने से आत्मा भी प्रकाशित नहीं होता। अतः आत्मा को स्वप्रकाश नहीं माना जा सकता है। यह ज्ञान ही है जो स्वप्रकाश है।[13] फिर प्राभाकर दार्शनिकों का सोचना है कि ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान में यदि ज्ञान को ही स्वप्रकाश मानने से काम चल जाता है तो किसी और को स्वप्रकाश मानने की क्या आवश्यकता है ?

ज्ञान में विषय और ज्ञान के अतिरिक्त ज्ञाता को भी प्रकाशित मानने के पीछे प्राभाकर दार्शनिकों का तर्क है कि यदि 'क' को होने वाले ज्ञान में 'क' और 'ख' को होने वाले ज्ञान में 'ख' प्रकाशित न हो तो 'क' को होने वाले ज्ञान और 'ख' को होने वाले ज्ञान में कोई अंतर नहीं रह जाएगा। दूसरे शब्दों में यदि ज्ञान में उसका ज्ञाता भी प्रकाशित नहीं हो तो विभिन्न व्यक्तियों के ज्ञान में पार्थक्य नहीं किया जा सकता है। इस तरह प्राभाकर मत में ज्ञान का पार्थक्य हेतु न केवल उसका विषय

है बल्कि विषयी भी। वस्तुतः 'य' सम्बन्धी 'क' और 'ख' का ज्ञान एकविषयक होते हुए भी दो व्यक्तियों का ज्ञान है और इसके इस अंतर की व्याख्या तभी की जा सकती है जब यह माना जाए कि 'क' निहित 'य' के ज्ञान में 'क' और 'ख' निहित 'य' के ज्ञान में 'ख' प्रकाशित होता है। इसीलिए प्राभाकर मतानुयायी यह मानते हैं कि 'क' को होने वाले ज्ञान में 'क' और 'ख' को होने वाले ज्ञान में 'ख' प्रकाशित होता है।[14]

जैसा कि पीछे हम लोगों ने देखा कि प्राभाकर मत में ज्ञान आत्मा का स्वभाव नहीं है। यह आत्मा में उत्पन्न होता है। आत्मा में यह ज्ञान ऐसे ही नहीं उत्पन्न हो जाता है। आत्मा में ज्ञान उत्पन्न होने के लिए उसका मन से संयोग आवश्यक है। न केवल ज्ञान अपितु आत्मा के सभी नवों गुणो—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, अदृष्ट, संस्कार—इन सभी की उत्पत्ति आत्मा में तभी होती है जब उसका मन से संयोग होता है। मन के अस्तित्व के लिए यह प्रमाण ही प्रस्तुत किया जाता है कि बिना इसके संयोग के आत्मा में उसके गुणों की उत्पत्ति संभव नहीं। (आत्मा के नौ गुणों में जहाँ ज्ञान स्वप्रकाश है वहीं सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और यत्न स्वप्रकाश नहीं हैं। शालिकनाथ इनको मानसप्रत्यक्षगम्य मानते हैं—सुखदुःखेच्छा-द्वेष-प्रयत्नास्तु मानसप्रत्यक्षवेद्याः[15]) यहाँ एक बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि ज्ञान होने के लिये आत्ममनः सन्निकर्ष आवश्यक है पर यही सभी ज्ञानों की उत्पत्ति के लिये पर्याप्त नहीं है। यदि मात्र आत्ममनः सन्निकर्ष ही पर्याप्त हो तो अंधों को भी रूप का और बहरों को शब्द का ज्ञान होता।[16] अतः ज्ञान में हमें इन्द्रियों की महती भूमिका स्वीकारनी होगी। हमारे अंदर पाँच तरह की ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इन ज्ञानेन्द्रियों का उनके विषय से और मन से संयोग होने पर और फिर मन का आत्मा से संयोग होने पर ही हमें तद्‌तद् विषय का ऐन्द्रिक ज्ञान या प्रत्यक्ष हो पाता है। विषयों का इन्द्रियों से संयोग होने के बावजूद यदि इन इन्द्रियों का मन से संयोग नहीं हो तो ज्ञान नहीं होता है जैसा कि अन्यमनस्क व्यक्ति के उदाहरण से स्पष्ट है। ऐसे व्यक्ति की आँखों से वस्तु का सन्निकर्ष होने के बावजूद मन के कहीं और रहने से व्यक्ति को उस वस्तु का ज्ञान नहीं हो पाता है। इस प्रकार बाह्य वस्तुओं के प्रत्यक्ष में प्राभाकर मतानुसार आत्मा का मन से, मन का इन्द्रिय से, इन्द्रिय का वस्तु और उसके रूप से सन्निकर्ष आवश्यक है। सुखादि के ग्रहण में आत्मा का मन से और मन का सुखादि से सन्निकर्ष होना आवश्यक होता है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ज्ञान में पंच ज्ञानेन्द्रियों और उससे भी अधिक मन—इन छः इन्द्रियों की महती भूमिका होती है। ये छः इन्द्रियाँ अपने इस रूप में मनुष्य के शरीर में ही उपलब्ध हैं। अतः ज्ञान में मनुष्य शरीर की महती भूमिका प्राभाकर दार्शनिक स्वीकार करते हैं।

R 66
152 P2M

ज्ञानोत्पत्ति में मन, इन्द्रियादि की भूमिका से यह भी स्पष्ट होता है कि ज्ञान या चेतना के किसी पारमार्थिक पक्ष में प्राभाकरों का विश्वास नहीं है। ज्ञान से कोई अतीन्द्रिय या जगदातीत चेतना को नहीं समझा जाना चाहिए। यह पूरी तरह लौकिक व्यापार है जिसकी उत्पत्ति के लिये आत्मा का मन से संयोग आवश्यक है और मन शरीर एक होता है। चूँकि मन शरीर में ही रहता है अतः आत्मा के गुण ज्ञान आदि शरीर से ही अभिव्यक्त होते हैं क्योंकि आत्मा के इन गुणों की उत्पत्ति के लिये मन से आत्मा का संयोग होना आवश्यक है और मन शरीर में रहता है। मोक्षावस्था में आत्यन्तिक देहोच्छेद होने से आत्मा का देह-इन्द्रियादि से सम्बन्ध नहीं रह जाता, फलस्वरूप उस समय उसमें ज्ञानादि नहीं रहता। इस प्रकार ज्ञानोत्पत्ति में विशेष शरीर-इन्द्रियों की आवश्यकता स्वीकार कर प्राभाकर दार्शनिक पारमार्थिक ज्ञान की किसी संभावना का खंडन कर देते हैं। ज्ञान का यह व्यावहारिक स्वरूप इस बात से भी द्योतित होता है कि ज्ञान हमेशा अपने से परे किसी अर्थ को द्योतित करता है। प्राभाकर मत में ज्ञान या चेतना हमेशा सविषयक होती है। ज्ञान की यह अनिवार्य सविषयकता जहाँ एक ओर वस्तुवाद को आपादित करती है वहीं ज्ञान के पारमार्थिक के बदले में व्यावहारिक स्वरूप को और अधिक द्योतित करती है।

यहाँ प्राभाकरों के अनुसार मन के स्वरूप पर कुछ चर्चा करना अप्रासांगिक नहीं होगा। शालिकनाथ कहते हैं कि मन की सत्ता में यही प्रमाण है कि बिना इसको माने आत्मा के ज्ञान, सुखादि गुणों की उत्पत्ति की व्याख्या नहीं हो सकती है। आत्मा के मन से संयोग होने पर ही उसके गुणों की उत्पत्ति होती है—मनसोऽभ्युपगमे च सकलात्मगुणोदय एव प्रमाणम्। बुद्धि-सुख-दुःखेच्छा- द्वेष-प्रयत्न-दृष्ट-संस्काराणां नवानामपि वैशेषिकात्मगुणानामात्ममनस्संयोगेनैवोत्पत्तेः।[17]

मन भी आत्मा के समान द्रव्य है। यह मन हर शरीर में स्थित है तथा विभु न होकर अणु है—सर्वशरीरेषु मनः.... ।मनश्चान्तश्शरीरं परमाणुपरिमाणम्।[18] मन के द्रव्य होने के पीछे कारण यह है कि तभी इसका आत्मा से और विषयों से संयोग हो सकता है। और चूँकि आत्मा विभु है अतः मन को अणु मानना होगा अन्यथा दोनों के विभु होने पर इनके संयोग के कादाचित्कत्व की व्याख्या नहीं हो पायेगी और इनके बीच अनवरत संयोग रहेगा। मन अत्यंत चंचल है और तीव्र वेगवान है जिसके कारण ही इन्द्रियों से इसका बड़े आशुवेग से संयोग होता है और हमें झटिति ज्ञान प्राप्त होता रहता है। यह सब इतना जल्दी-जल्दी होता है कि ज्ञान सातत्य बना रहता है। इन्द्रियाँ विषयों से संयुक्त होकर स्वयं ही ज्ञान नहीं उत्पन्न कर सकती। इसके लिये इन इन्द्रियों का मन से संयोग होना आवश्यक है। यदि इन्द्रियों का मन से संयोग न हो तो ज्ञान नहीं होता जैसा कि अन्यमनस्क व्यक्ति के साथ होता

NATIONAL LIBRARY
BENARAS HINDU UNIVERSITY
Acc. No. 24359

है—वस्तुयें उसके सामने होती हैं फिर भी वह नहीं देख पाता। इस प्रकार बिना मन से संयुक्त हुए इन्द्रियाँ ज्ञान नहीं प्राप्त करा सकती हैं। ज्ञान के अतिरिक्त आत्मा के जो अन्य गुण हैं उनकी भी आत्मा में तभी उत्पत्ति होती है जब मन से आत्मा का संयोग होता है। बाह्य रूपादि के ग्रहण में तो मन की सहायक भूमिका होती ही है, आत्मा के सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और यत्न सीधे मन द्वारा ही प्रत्यक्ष होते हैं। हमें अपने इच्छाओं, यत्नों, सुख-दुःखों का ज्ञान सीधे मन द्वारा होता है।

शालिकनाथ मिश्र प्रकरणपञ्चिका में कहते हैं कि पूर्वकर्मों से उत्पन्न धर्म-अधर्म की अनवरत श्रृंखला ही आत्ममनस्संयोग का कारण है। पूर्वकर्मों से उत्पन्न धर्म-अधर्म के कारण आत्मा विभिन्न शरीरों को धारण करता है। जब उसके समस्त धर्म-अधर्म नष्ट हो जाते हैं तब उसकी देहाबद्धता का कोई कारण नहीं रह जाता। परिणामतः शरीर-इन्द्रियादि से कोई सम्बन्ध न रहने के कारण आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। इसीलिये मोक्षावस्था में आत्मा में कोई गुण नहीं रहता। आत्मा ज्ञानादि से शून्य, स्वरूप सत् में स्थित हो जाता है।

संदर्भ एवं टिप्पणी

1. बुद्धि-सुख-दुःखे-च्छा-द्वेष-प्रयत्ना-दृष्ट-संस्काराणां नवानामपि वैशेषिकात्मगुणानामात्ममनस्संयोगेनैवोत्पत्तेः।
   शालिकनाथ मिश्र, प्रकरणपञ्चिका, सं. श्री सुब्रह्मण्य शास्त्री, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1961, पृ. 330.
2. देखें, मीमांसा—शाबर—भाष्य, सं. एवं प्र. युधिष्ठिर मीमांसक, पृ. 48-57.
3. देखें, वहीं, पृ. 57.
4. कर्त्ता भोक्ता च यज्ञायुधिवाक्येनाऽऽक्षिप्तस्समर्थयितव्य इति।
   शालिकनाथ मिश्र, प्रकरणपञ्चिका, पृ. 329.
5. शालिकनाथ मिश्र, प्रकरणपञ्चिका, पृ. 316.
6. इदमहं गृह्णामीति वा, इदमहं स्मरामीति वा त्रितयमेवावभासते।
   शालिकनाथ मिश्र, प्रकरणपञ्चिका, पृ. 171.
7. "घटमहमुपलभ" इति घटस्याऽनुभविता शरीरातिरिक्तः प्रतिभासते।...तत्र लाक्षणिकोऽहं-शब्दानुविद्धस्तु शरीरे प्रत्ययः। ममाऽऽत्मेत्यत्राऽपि लाक्षणिकश्शरीर एव ममकारः। यस्तु चेतनः, तत्राऽस्मच्छब्दो मुख्यः।
   शालिकनाथ मिश्र, प्रकरणपञ्चिका, पृ. 328.
8. देखें, शालिकनाथ मिश्र, प्रकरणपञ्चिका, पृ. 314-334.
9. भवेदेतदेवं यदि दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थप्रतिसंधानं न स्यात्। "यदहमद्राक्षं तदहं स्पृशामी" त्यत्र प्रतिसन्धातैकः प्रतीयते। स्मरणञ्चेन्द्रियार्थानां तत्तदिन्द्रियापायेऽपि यदुपलभ्यते, तदिन्द्रियचैतन्ये नोपपद्यते।
   शालिकनाथ मिश्र, प्रकरणपञ्चिका, पृ. 319.

10. तत्र केचिदाहुः — मानसं प्रत्यक्षं सुखादिष्विवाऽऽत्मनि प्रमाणमिति। तदयुक्तमिति प्राभाकराः। न ह्येकस्य कर्तृत्वम्, कर्मत्वञ्च स्वापेक्षमुपपद्यते, स्वात्मनि क्रियावृत्तिविरोधात्।
शालिकनाथ मिश्र, प्रकरणपञ्चिका, पृ. 333.
साथ ही देखें, जयपुरिनारायणभट्ट कृत प्रकरणपञ्चिका की व्याख्या न्यायसिद्धि, प्रकरणपञ्चिका के साथ प्रकाशित, सं. श्री सुब्रह्मण्य शास्त्री, काशीहिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1961, पृ. 169.
11. नाऽऽत्मा विषयाननुविद्धोऽवभासते, न च विषया बोद्धर्यनवभामाने भासन्त इति तावत् सिद्धम्।
शालिकनाथ मिश्र, प्रकरणपञ्चिका, पृ. 334.
12. तत्र यदेतत् विषयेषु प्रामाणम्, तज्जनितैव या संवित् सा पुरुषं, स्वविषयांश्च विषयीकुर्वन्ती समुदीयते। तत्संवित्तिफलभागित्वेऽपि पुरुषस्य न कर्मता, किन्तु कर्तृतैव गन्तृवत्। यथा—गमनफलसंयोगयोगिनोऽपि गन्तुर्न कर्मता, किन्तु कर्तृतैव तथा बोद्धुरपि वेदितव्यम्। परसमवायिक्रियाफलयोगि हि कर्मेति कर्मज्ञाः।
शालिकनाथ मिश्र, प्रकरणपञ्चिका, पृ. 334.
13. शालिकनाथ मिश्र, प्रकरणपञ्चिका, पृ. 172-173.
14. तदा च स्वपरसंवेद्ययोरनतिशयप्रसङ्गस्स्यात्।...तस्मात्सर्वैरेव ज्ञानहेतुभिरात्मनि साक्षात्कारवती धीरुत्पद्यते।
शालिकनाथ मिश्र, प्रकरणपञ्चिका, पृ. 169
तथा वहीं देखें नारायणभट्ट कृत न्यायसिद्धि।
15. शालिकनाथ मिश्र, प्रकरणपञ्चिका, पृ. 330.
16. न च केवलदात्म-मनस्सन्निकर्षादेव रूपाद्यवगमः, अन्धादीनामभावादिति, चक्षुरादीनि बहिरिन्द्रियाण्यङ्गीक्रियन्ते।
शालिकनाथ मिश्र, प्रकरणपञ्चिका, पृ. 330.
17. शालिकनाथ मिश्र, प्रकरणपञ्चिका, पृ. 330.
18. शालिकनाथ मिश्र, प्रकरणपञ्चिका, पृ. 332.

❒

7

त्रिपुटीप्रत्यक्षवाद : ज्ञान की स्वप्रकाशता सम्बन्धी प्राभाकर मत

प्राभाकर मीमांसकों के अनुसार ज्ञान स्वप्रकाश होता है। ज्ञान ज्ञायमान ही उत्पन्न होता है। वह एक क्षण के लिये भी अज्ञात नहीं रहता। इस बात की कल्पना भी नहीं की जा सकती कि हममें कोई ज्ञान उत्पन्न हो और हम एक पल के लिये भी उससे अपरिचित रहें। ज्ञान के साथ ऐसी स्थिति नहीं होती जिसमें ज्ञान का अस्तित्व तो हो पर उसका बोध ज्ञाता को न हो। वस्तुतः ज्ञान की उत्पत्ति और ज्ञप्ति एक साथ होती है। जिस सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है उसी से उसका ग्रहण होता है। ज्ञानोत्पादक सामग्री और ज्ञानग्राहक सामग्री में कोई भेद नहीं है। शालिकनाथ प्रकरणपञ्चिका में कहते हैं कि ज्ञान न केवल अपने विषय को अपितु स्वयं अपने आपको तथा ज्ञाता आत्मा को एक साथ प्रकाशित करता है।[1] ज्ञान में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान ये तीन पक्ष होते हैं और ये तीनों एक साथ ही प्रकाशित होते हैं। ज्ञान की उत्पत्ति का अर्थ मात्र विषय का प्रकाशन न हो इन तीनों का एक साथ प्रकाशन है। जिस प्रकार प्रदीप वस्तु को, स्वयं को तथा अपने आधार को प्रकाशित करता है उसी प्रकार ज्ञान एक साथ ही ज्ञेय वस्तु, स्वयं ज्ञान तथा अपने आश्रयभूत आत्मा को आलोकित करता है। शालिकनाथ कहते हैं कि हमें कभी भी कोई ऐसा ज्ञान नहीं होता जिसमें मात्र विषय प्रकाशित हो। मात्र विषय को प्रकाशित करने वाला **अयं घटः** इत्याकारक व्यवसाय रूप ज्ञान असंभव है। ज्ञान का आकार **अयं घटः** इस ढंग का नहीं होकर सदैव **अहं घटं जानामि** इस प्रकार का होता है जिसमें एक साथ प्रमाता, प्रमेय और प्रमिति इन तीनों का प्रकाशन होता है।[2] ज्ञान में एक साथ ही ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान – इन तीनों का प्रकाशन स्वीकार करने के कारण प्राभाकरों का मत त्रिपुटीभानवाद कहलाता है।

यद्यपि हर ज्ञान में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान तीनों का प्रकाशन होता है तथापि ज्ञाता ज्ञाता रूप में ही, ज्ञेय ज्ञेय रूप में ही और ज्ञान ज्ञान रूप में ही प्रकाशित होता

है। प्रभाकर बृहती में कहते हैं कि ज्ञान का ग्रहण ज्ञान रूप में ही होता है विषय या कर्म के रूप में नहीं—**संवित्तयैव हि संवित् संवेद्या, न संवेद्यतया, नास्याः कर्मभावो विद्यते।**[3] अर्थात् ज्ञान यद्यपि स्वयं को प्रकाशित करता है पर वह ज्ञानत्वेन ही प्रकाशित होता है, ज्ञेयत्वेन नहीं। ज्ञेयत्वेन प्रकाशन तो केवल विषय का होता है। इसी प्रकार ज्ञाता भी हमेशा ज्ञातृत्वेन ही प्रकाशित होता है। प्राभाकर मत में ज्ञाता आत्मा कभी भी ज्ञान का विषय नहीं होता। यद्यपि आत्मा कभी भी ज्ञान का विषय नहीं बनता फिर भी यह हर ज्ञान में आश्रयतया ज्ञाता रूप में भासित होता है। किसी भी तरह का ज्ञान चाहे वह स्मरणात्मक हो या प्रत्यक्ष, अनुमान हो अथवा शब्द सभी ज्ञानों में ज्ञाता अनिवार्यतया प्रकाशित होता है—**या काचिद्ग्रहणस्मरणरूपाऽर्थप्रतीतिः, तत्र साक्षादात्मा भाति।**[4] यदि ज्ञान में ज्ञाता का प्रकाशन न हो तो विषयों का प्रकाशन संभव नहीं है। यदि स्वयं ज्ञाता अप्रकाशित हो तो ज्ञान भला किसे प्रकाशित होगा ? सारा ज्ञान **मैं जानता हूँ** इस आकार को लिये होता है। जब भी हमें किसी वस्तु का ज्ञान होता है तो वस्तु और उसके ज्ञान के साथ ज्ञाता का भी ज्ञान होता है। यहाँ एक बात द्रष्टव्य है कि भले ही वस्तु का ज्ञान साक्षात् हो या परोक्ष, अनुमान से हो या शब्द से, ज्ञाता हमेशा साक्षात्तया ही प्रकाशित होता है। ज्ञाता के समान ज्ञान भी हर ज्ञान में, चाहे वह प्रत्यक्ष हो या अनुमानादि, प्रत्यक्ष ही भासित होता है। इस तरह से सभी प्रकार के ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञान की साक्षात् प्रतीति होती है, जबकि विषय प्रत्यक्षज्ञान में ही साक्षात्तया प्रतीत होता है अन्य प्रकार के ज्ञान में नहीं।

जिस प्रकार वस्तुओं का ज्ञान बिना ज्ञाता आत्मा के ज्ञान हुए संभव नहीं होता उसी प्रकार आत्मा या ज्ञाता का ज्ञान भी बिना वस्तुओं के ज्ञान हुए संभव नहीं है। ज्ञाता आत्मा का ज्ञान उन्हीं साधनों से हो जाता है जिन साधनों से विषय का ज्ञान होता है। अलग से केवल ज्ञाता कभी भी प्रकाशित नहीं होता है। वस्तुओं के ज्ञान के मध्य ही वह ज्ञातृत्वेन प्रकाशित होता है। स्वप्रकाश ज्ञान जहाँ एक ओर वस्तु को विषयतया भासित करता है वहीं अपने आश्रय ज्ञाता आत्मा को उस ज्ञान के आश्रय के रूप में भासित करता है। आत्मा स्वप्रकाश ज्ञान का आश्रय है और हर ज्ञान में **मैं** के रूप में भासित होता है। हमें जब वस्तुओं का ज्ञान होता है तो उस समय आत्मा का भी ज्ञाता रूप में ज्ञान होता है। सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में जब हमें वस्तुओं का ज्ञान नहीं होता तो आत्मा का भी ज्ञान नहीं होता है।

यद्यपि हर ज्ञान में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान तीनों ही प्रकाशित होता है पर ज्ञाता और ज्ञेय से ज्ञान की अपनी ही विलक्षणता है। ज्ञान प्रकाशस्वरूप होने के कारण अपने प्रकाशन के लिये किसी अन्य पर निर्भर नहीं है। वह स्वप्रकाश है। दूसरी ओर

ज्ञाता और ज्ञेय प्रकाशस्वरूप नहीं हैं फलस्वरूप वे अपने प्रकाशन के लिये अन्य प्रकाश की अपेक्षा रखते हैं। इस तरह ज्ञाता और ज्ञेय जहाँ ज्ञान द्वारा प्रकाशित होते हैं वहीं ज्ञान को अपने प्रकाशन के लिये किसी अन्य की अपेक्षा नहीं होती है। ज्ञाता आत्मा और ज्ञेय अर्थ को प्रकाशस्वरूप नहीं मानने के पीछे प्राभाकरों का तर्क है कि यदि वे प्रकाशस्वरूप होते तो सुषुप्ति में भी वे प्रकाशित होते। हम देखते हैं कि ज्ञाता और ज्ञेय जाग्रतावस्था में ही प्रकाशित होते हैं सुषुप्ति में वे प्रकाशित नहीं होते हैं जबकि उनकी सत्ता दोनों ही अवस्थाओं में रहती है। सुषुप्ति की अवस्था में ज्ञाता और ज्ञेय विषय समाप्त नहीं हो जाते, उनकी सत्ता वैसे ही रहती है फिर भी उनका ज्ञान नहीं होता। उपर्युक्त तथ्य यह सिद्ध करता है कि न तो ज्ञाता आत्मा और न ही ज्ञेय अर्थ प्रकाशस्वरूप हैं। वे अपने प्रकाश के लिये ज्ञानाधीन हैं। ज्ञान ही विषय और विषयी इन दोनों को प्रकाशित करता है। स्वयं ज्ञान इन दोनों के विपरीत अपने प्रकाशन के लिये अन्य पर आधारित नहीं है। वह स्वप्रकाश है। ज्ञान की स्वप्रकाशता सम्बन्धी उपर्युक्त मत का प्रतिस्थापन करते हुए शालिकनाथ कहते हैं—

इदमहं गृह्णामीति वा, इदमहं स्मरामीति वा त्रितयमेवावभासते। मेयमात्रवभासरूपा संविदेका। न तु तस्यां संविदन्तरं चकास्ति। न च सा नावभाति ? तदनवभासे सर्वानवभासप्रसङ्गात्। किञ्चाप्रकाशस्वभावानि मेयानि, माता च प्रकाशमपेक्षन्ताम्। प्रकाशस्तु प्रकाशात्मकत्वान्नान्यमपेक्षते। जाग्रतो हि मेयानि माता च प्रकाशन्ते। सुषुप्तस्य तदा न तत् द्वयमपि प्रकाशते। न च तदानीं तद् द्वयमपि नास्त्येव, प्रबोधे प्रत्यभिज्ञानात्। तत्र प्रकाशात्मकत्वे तु सुषुप्तिदशायामपि तत् द्वयं प्रकाशेत। तस्मादप्रकाशात्मकं तत् द्वयमप्यङ्गीक्रियते।...मेयानां मातुश्च स्वयंप्रकाशो नोपपद्यत इति, युक्ता तयोः परापेक्षा। मितौ च काचिदनुपपत्तिर्नास्तीति स्वयम्प्रकाशैव मितिः।[5]

उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि प्राभाकर मत में ज्ञाता और ज्ञेय अपने प्रकाशन के लिये जहाँ ज्ञान पर आश्रित हैं वहीं ज्ञान अपने प्रकाशन के लिये अन्य पर निर्भर नहीं है। ज्ञाता और ज्ञेय को स्वसम्बन्धी व्यवहार में अपने से इतर अन्य (ज्ञान) की अपेक्षा होती है, इसीलिये वे स्वप्रकाश नहीं है। जबकि ज्ञान को अपनी सिद्धि के लिये अपने से इतर अन्य की आवश्यकता नहीं होती, इसीलिये वह स्वप्रकाश है—**अनन्याधीनसिद्धत्वात्स्वयंप्रकाशा संवित्।**[6] न्यायसिद्धिकार प्राभाकर सम्मत स्वप्रकाशता का लक्षण उपन्यस्त करते हुए कहते हैं कि स्वसम्बद्धव्यवहार में सजातीयज्ञानान्तर की अपेक्षा से विरहित होना ही स्वप्रकाशत्व है—**स्वप्रकाशत्वं नामस्वप्रतिबद्धव्यवहारे सजातीयज्ञानान्तरापेक्षानियतिरहितत्वम्।**[7] चूँकि ज्ञान को स्वसम्बन्धी व्यवहार में ज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं रहती है, अतः वह स्वप्रकाश है।

प्राभाकर मीमांसकों के अनुसार ज्ञान प्रदीप की तरह है। जिस प्रकार प्रदीप अपने प्रकाश के लिये प्रदीपान्तर की अपेक्षा नहीं रखता उसी प्रकार ज्ञान को अपने प्रकाशन के लिये ज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं होती। यदि ज्ञान को स्वप्रकाश न माना जाए तथा उसे भी अपने प्रकाशन के लिये अन्य ज्ञान की अपेक्षा हो तब तो वह भी जड़ वस्तुओं की तरह परप्रकाश्य हो जाएगा। और जब समस्त वस्तुओं का अवभासक ज्ञान स्वयं जड़वस्तुओं की तरह अप्रकाशरूप हो तो इस संसार में सब कुछ जड़वत् हो जाएगा और कुछ भी प्रकाशित न होने से जगदान्ध्य प्रसंग प्रसक्त होगा। अतः हमें ज्ञान को स्वप्रकाश मानना होगा।[8] ज्ञान को स्वप्रकाश मानने पर ही हम वस्तुओं के ज्ञान की व्याख्या कर सकेंगे। यदि वस्तुओं के ज्ञान की प्रक्रिया में स्वयं ज्ञान ही प्रकाशित न हो तो फिर ज्ञान का मतलब ही क्या रह जायेगा ? शालिकनाथ तर्क देते हैं कि यदि वस्तुओं के ज्ञान में ज्ञान नहीं प्रकाशित हो तो फिर उनके प्रति **'मैं यह जानता हूँ'** इस तरह की बुद्धि ही नहीं हो पायेगी—न हि संवित्तावप्रकाशमानायाम्—संवेद्मीदम्—इति भवति मतिः।[9] वस्तुतः ज्ञान कभी भी अप्रकाशित नहीं रह सकता क्योंकि उसी के कारण सब चीजें प्रकाशित होती हैं—न चासंवेद्यैव संवित्, तन्मूलत्वात् सर्वभावानां संवेद्यभावस्य।[10] अतः ज्ञान के ज्ञान के लिये ज्ञानान्तर की आवश्यकता नहीं होती। वह स्वप्रकाश होता है। यदि ज्ञान स्वप्रकाश न हो तो इस संसार में कुछ भी भासित नहीं हो पायेगा—तदनवभासे सर्वानवभासप्रसङ्गात्।[11]

प्राभाकर दार्शनिक ज्ञान की स्वप्रकाशता हेतु एक अन्य महत्त्वपूर्ण तर्क देते हुए कहते हैं कि जब भी हमें ज्ञान होता है तो **मैं जानता हूँ** इस तरह का व्यवहार होता है, अब यह बात यह सिद्ध करता है कि ज्ञान का ज्ञान ज्ञानान्तर से न होकर उसी ज्ञान से हो रहा है। यदि ज्ञान का ज्ञान ज्ञानान्तर से माना जाए तो फिर प्रथम ज्ञान के समय **मैं जानता हूँ** ऐसा बोध नहीं होगा। ज्ञान के सम्बन्ध में होने वाले वर्तमानभाव की व्याख्या तभी की जा सकती है जब यह माना जाए कि जिस क्षण ज्ञान उत्पन्न होता है वह ज्ञायमान ही उत्पन्न होता है—

स्वप्रकाशा च संवित्तिरर्थापित्त्याऽवगम्यते।
वर्तमानावभासस्तु तस्य स्यादन्यतः कुतः।।[12]

यदि विषय के ज्ञान के साथ ही उसके ज्ञान का भी प्रकाशन नहीं स्वीकार किया जाए और यह माना जाए कि ज्ञान ज्ञानान्तर द्वारा गृहीत होता है तो अनवस्था दोष प्रसक्त होगा क्योंकि एक ज्ञान को गृहीत होने के लिये दूसरे की और दूसरे को तीसरे की आवश्यकता होगी और इस तरह अनवस्था पतित होगी। साथ ही एक ही विषय के ज्ञान में संपूर्ण आयु का क्षय हो जाएगा। उपर्युक्त कारणों से प्राभाकर दार्शनिक नैयायिकों के इस मत का खण्डन करते हैं कि ज्ञान सुखादि की तरह मानस

प्रत्यक्ष का विषय है।[13] वस्तुतः ज्ञान कभी भी स्वयं ज्ञात होने के लिये ज्ञान का विषय नहीं बनता। ज्ञान न केवल अन्य ज्ञान का ही विषय नहीं बनता, अपितु वह स्वयं अपना भी विषय नहीं बनता। यद्यपि हर ज्ञान में ज्ञान विषय और विषयी के साथ स्वयं अपने को प्रकाशित करता है पर ज्ञान का प्रकाशन ज्ञान रूप में ही होता है उसके विषय के रूप में नहीं। और यही प्राभाकर मत की बौद्धमत से विलक्षणता है। जहाँ बौद्ध दार्शनिक ज्ञान को उसी ज्ञान का विषय स्वीकार करते हैं और स्वप्रकाशत्व को स्वविषयत्व रूप मानते हैं, प्राभाकार दार्शनिक इस बात का स्पष्ट खंडन करते हुए कहते हैं कि ज्ञान का प्रकाशन ज्ञान रूप में ही होता है ज्ञेय रूप में नहीं—संवित्तयैव हि संवित् संवेद्या, न संवेद्यतया।...नास्याः कर्मभावो विद्यते।[14]

जैसा कि पीछे कहा गया है कि हर ज्ञान में विषय और स्वयं ज्ञान के अतिरिक्त ज्ञाता भी भासित होता है। यदि ज्ञान में ज्ञाता प्रकाशित न हो तो विषयों का प्रकाशन संभव नहीं है। ज्ञान होने पर **मुझे ऐसा विदित हुआ** इस तरह का बोध होता है। अब यह बोध तभी संभव है जब यह माना जाए कि ज्ञान में उसका ज्ञाता भी प्रकाशित होता है। यदि ज्ञान में ज्ञाता प्रकाशित न हो तो हमारे ज्ञान का आकार **जानामि** ऐसा न होकर **जानाति** ऐसा होता जो कि नहीं होता है।[15] वस्तुतः हमारा सारा ज्ञान **मैं जानता हूँ** इस प्रतीति से अनुगत होता है। फिर यदि ज्ञान में उसके ज्ञाता का भी अवभासन नहीं स्वीकारा जाए तो 'क' को होने वाले ज्ञान और 'ख' को होने वाले ज्ञान में अंतर ही नहीं किया जा सकता है।[16]

उपर्युक्त कारणों से प्राभाकर मतानुयायी यह मानते हैं कि ज्ञान जहाँ विषय को प्रकाशित करता है वहीं उसमें वह स्वयं तथा उसका ज्ञाता भी प्रकाशित होता है। ज्ञान हमेशा किसी विषय का होता है तथा किसी आश्रय में आश्रित होता है। इस तरह हर ज्ञान में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान ये तीन पक्ष होते हैं। ज्ञान का अर्थ उसके इन तीनों ही पक्षों का प्रकाशन है। ऐसा संभव नहीं है कि ज्ञान में कोई एक ही पक्ष प्रकाशित हो। प्राभाकर मीमांसक वस्तुवादी हैं तथा वस्तुवादियों के समान ही यह मानते हैं कि ज्ञान का कार्य अपने से परे किसी विषय का प्रकाशन करना है। पर विषय का यह प्रकाशन बिना ज्ञाता और ज्ञान के प्रकाशित हुए संभव नहीं है। ऐसा कोई भी वस्तुज्ञान संभव नहीं है जिसमें वस्तु तो प्रकाशित हो पर ज्ञाता प्रकाशित न हो। ज्ञान के लिये सिर्फ ज्ञाता आत्मा का **होना** ही अनिवार्य नहीं है अपितु उसका **प्रकाशित होना** भी अनिवार्य है। हर ज्ञान ज्ञाता की अपेक्षा रखता है। ज्ञान का अर्थ ही है किसी को ज्ञात होना। और 'यह किसी को ज्ञात होना' तब तक संभव नहीं है जब तक ज्ञाता उस प्रक्रिया में प्रकाशित न हो। हर अनुभूति अपने अनुभविता आत्मा की अपेक्षा रखती है। वैसे भी ज्ञान गुण है और अपने आश्रय रूप में एक

ज्ञाता आत्मा की सत्ता की अपेक्षा रखता है। पर ज्ञान होने के लिये आत्मा की सत्ता रूप में ही अपेक्षा नहीं होती है। अपितु आत्मा अपने ज्ञान या अनुभवों के प्रति जागरूक होता है, उनका बोध लिये होता है। अर्थात् आत्मा यदि सचेतन न हो, वह स्वचेतना से युक्त न हो तो ज्ञान संभव ही नहीं हो पायेगा। ज्ञान कोई जड़ात्मक प्रक्रिया नहीं है और न ही आत्मा या ज्ञाता कोई निर्जीव वस्तु या जड़ दीवार की तरह है जिस पर वस्तु का ज्ञान प्रतिबिम्बित होता है। ज्ञान पूरी तरह से एक चेतन व्यापार है जो स्वचेतन ज्ञाता की अपेक्षा रखता है। इस तरह किसी वस्तु के ज्ञान के लिये वस्तु के साथ उसके ज्ञाता का प्रकाशित होना अनिवार्य है। पुनः ज्ञाता को किसी वस्तु का ज्ञान तभी संभव है जब उसे उस ज्ञान का भी ज्ञान हो। ज्ञाता को किसी वस्तु का ज्ञान होने का मतलब ही यह है कि ज्ञाता वस्तुविषय अपने ज्ञान के प्रति सचेत है। ज्ञान निराधार नहीं होता है। यह हमेशा किसी ज्ञाता को होता है और किसी ज्ञाता में आश्रित होता है। ज्ञान होने का मतलब ही है किसी को ज्ञान होना। और ज्ञाता को कोई ज्ञान हो तथा वह उससे अनजान रहे, यह असंभव है। हमें जब भी किसी वस्तु का ज्ञान होता है तो उस ज्ञान का भी ज्ञान रहता है। हमें अपने ज्ञान को जानने के लिये किसी दूसरे ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती है। हम अपने ज्ञान के प्रति सहज सजग रहते हैं। हमारा सारा ज्ञान व्यापार **मैं जानता हूँ** इस विमर्श को लिये होता है। प्राभाकर दार्शनिकों की यही विलक्षणता है कि उन्होंने इस बात को सर्वप्रथम रेखांकित किया कि किसी वस्तु के ज्ञान होने का तब तक कोई मतलब नहीं जब तक उसमें उसका ज्ञाता और स्वयं ज्ञान प्रकाशित न हो। दूसरे शब्दों में ज्ञान में सिर्फ वस्तु ही नहीं प्रकाशित होता है अपितु ज्ञाता और ज्ञान भी भासित होता है। किसी चीज के ज्ञान होने का मतलब ही है इन तीनों का एक साथ प्रकाशित होना। इसीलिये प्राभाकर दार्शनिक कहते हैं कि ज्ञान का आकार **अयं घटः** इस तरह का नहीं होता है। कोई भी ज्ञान इस ढंग का नहीं होता जिसमें सिर्फ विषय प्रकाशित हो। ज्ञान में विषय, विषयी और स्वयं ज्ञान एक साथ प्रकाशित होते हैं। ज्ञान का आकार सदैव **अहं घटं जानामि, अहमिदं जानामि** इस ढंग का होता है।

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि नैयायिक, भाट्ट मीमांसक प्रभृति भी ज्ञान के आश्रय के रूप में ज्ञाता आत्मा की सत्ता को स्वीकार करते हैं। पर वे ज्ञान की प्रक्रिया में इस ज्ञाता के प्रकाशन को स्वीकार नहीं करते हैं। लेकिन हम सहज समझ सकते हैं कि ज्ञान की प्रक्रिया में यदि ज्ञाता स्वयं अप्रकाशित हो तो फिर ज्ञान के आश्रय के रूप में उसकी पूर्वापेक्षा का कोई अर्थ नहीं रहता और साथ ही उसके ज्ञातृत्व की भी व्याख्या नहीं हो पाती। यहाँ प्राभाकरों का मत न्यायादि की अपेक्षा अधिक सुसंगत

लगता है क्योंकि ज्ञान के लिये वे न केवल ज्ञाता के अस्तित्व को आवश्यक मानते हैं अपितु वे यह भी मानते हैं कि ज्ञान की प्रक्रिया में इस ज्ञाता का प्रकाशित होना भी अनिवार्य है। हर ज्ञान में **मैं** के रूप में ज्ञाता के भी प्रकाशन को स्वीकार कर प्राभाकर दार्शनिक ज्ञान की प्रक्रिया में ज्ञाता की महत्त्वपूर्ण भूमिका को अच्छी तरह चित्रित कर पाते हैं तथा उसके ज्ञातृत्व की सुकर व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

प्राभाकर दार्शनिकों की एक और विशेषता यह है कि उन्होंने ज्ञान को स्वप्रकाश मानते हुए भी उसे अनिवार्यतः सविषयक माना। भाष्यकार शबर ने ज्ञान की स्वप्रकाशता को इस आधार पर अस्वीकार किया था कि ज्ञान को स्वप्रकाश मानने पर उसके लिये अपने से इतर वस्तु का संदर्भ अनिवार्य नहीं रह जाता। इसी कारण कुमारिल भी ज्ञान को स्वप्रकाश नहीं मानते हैं।[17] पर प्राभाकर दार्शनिकों ने इस बात की ओर ध्यान दिलाया कि ज्ञान की स्वप्रकाशता का तात्पर्य बाह्य वस्तुओं का अपलाप नहीं है। ज्ञान स्वप्रकाश होते हुए भी अनिवार्यतः सविषयक होता है।[18] प्राभाकर दार्शनिक कट्टर वस्तुवादी (बाह्यार्थवादी) हैं। ज्ञान का कार्य उनके मत में अपने से इतर वस्तु का प्रकाशन है। ज्ञान अनिवार्यतः अपने से परे वस्तु का संदर्भ रखता है। ज्ञान का तात्पर्य ही है किसी वस्तु का ज्ञान। जिस तरह वस्तुओं का ज्ञान बिना ज्ञाता आत्मा और ज्ञान के प्रकाशित हुए संभव नहीं है उसी प्रकार स्वयं ज्ञान और ज्ञाता आत्मा वस्तुओं के ज्ञान की प्रक्रिया में ही प्रकाशित होते हैं। ज्ञान और आत्मा अपनी अभिव्यक्ति के लिये अनिवार्यतः विषय की अपेक्षा रखते हैं। बिना **आत्मेतर अन्य** का संदर्भ लिए ज्ञान और आत्मा प्रकाशित नहीं होते हैं। वस्तुओं का ज्ञान बिना आत्मा का ज्ञान हुए संभव नहीं है और न तो आत्मा का ज्ञान बिना वस्तुओं के ज्ञान हुए संभव है। वस्तुओं के ज्ञान की प्रक्रिया में ही आश्रय रूप में ज्ञाता आत्मा प्रकाशित होता है, अन्यथा नहीं। इस तरह आत्मा की मैं रूप में चेतना अनिवार्यतः अन्य के संदर्भ से युक्त होती है।[19] जैसा कि हम जानते हैं कि प्राभाकर मत में आत्मा में ज्ञान की उत्पत्ति तभी होती है जब आत्मा का मन से और मन का विषयों से इन्द्रियों द्वारा या स्वयं ही सम्बन्ध होता है। इस प्रकार ज्ञान हमेशा ही वस्तुजगत् की प्रागपेक्षा लिये होता है। वस्तुज्ञान के संदर्भ में ही ज्ञान और ज्ञाता भासित होते हैं। ज्ञान या चेतना के लिये विषय के संदर्भ की अनिवार्य अपेक्षा को स्वीकार कर तथा उसके विषयाभिमुखी स्वरूप का प्रतिपादन करके प्राभाकर मीमांसक वस्तुवाद के लिये ठोस दार्शनिक आधार प्रदान करते हैं।[20] और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वस्तुजगत् की यह स्वीकृति स्वयं ज्ञान या चेतना के स्वरूपानुसन्धान द्वारा प्रकट होती है क्योंकि जैसा कि हमने देखा कि ज्ञान या चेतना स्वभावतः सविषयक है और हर ज्ञान में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय विषय भासित होता है।

स्वप्रकाशता सम्बन्धी प्राभाकर मत की अन्य भारतीय दर्शनों द्वारा की गयी आलोचना

ज्ञान की स्वप्रकाशता के सम्बन्ध में प्राभाकरों द्वारा प्रस्तुत मत की अन्य भारतीय दार्शनिकों ने जमकर आलोचना की है। श्रीधर न्यायकन्दली में प्राभाकर सम्मत त्रिपुटीप्रत्यक्षवाद की आलोचना करते हुए कहते हैं कि किसी वस्तु के सम्बन्ध में हमारा प्रथम ज्ञान मात्र वस्तुविषयक होता है और उसमें न तो वह ज्ञान प्रकाशित होता है और न उसका ज्ञाता ही; इनका ज्ञान तो बाद में होने वाले मानसप्रत्यक्ष रूप अनुव्यवसाय से होता है। पुनः श्रीधर कहते हैं कि चक्षु से घट का सन्निकर्ष होने पर उत्पन्न होने वाले घट के चाक्षुष ज्ञान में यदि ज्ञाता और ज्ञान का भी ज्ञान माना जाए तो फिर ज्ञाता आत्मा और ज्ञान को भी चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय मानना होगा, जो कि वे नहीं होते।[21] त्रिपुटीप्रत्यक्षवाद के विरुद्ध यह तर्क गंगेश ने भी उठाया है। गंगेश ने तत्त्वचिन्तामणि में जिस अनुव्यवसायवाद का विस्तार से प्रतिपादन किया है वह प्राभाकरों के त्रिपुटीप्रत्यक्षवाद के विरोध में पल्लवित हुआ न्यायसम्मत प्रत्युत्तर प्रतीत होता है। यहाँ गंगेश की प्रशंसा करनी होगी कि उन्होंने पूर्वपक्ष के रूप में प्राभाकर मत को जिस तार्किक ढंग से रखा वैसा स्वयं इस मत के प्रतिपादकों द्वारा भी नहीं किया गया था। गंगेश पूर्वपक्ष के रूप में इस मत का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं "ज्ञान की स्वप्रकाशता तो प्रत्यक्ष द्वारा ही प्रमाणित है क्योंकि सभी ज्ञान ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान इन तीनों को अभिव्यक्त करते हुए ही **इदमहं जानामि** इस आकार में उत्पन्न होते हैं। इसमें आत्मा कर्तृत्वतया, ज्ञेय कर्मतया और ज्ञान क्रिया रूप में भासित होता है। अतः त्रिपुटीप्रत्यक्षवादियों के अनुसार हर ज्ञान में ज्ञाता, ज्ञेय और स्वविषयक ज्ञान ये तीनों अनुभूत होते हैं।"[22] आगे गंगेश विस्तार से प्राभाकर सम्मत इस मत के पक्ष में दिये गए तर्कों को प्रस्तुत करते हैं। चूँकि पीछे इन तर्कों की चर्चा की गयी है अतः उनको पुनः दोहराना उचित नहीं होगा। प्राभाकर सम्मत उपर्युक्त मत की आलोचना में गंगेश का कहना है कि चक्षु आदि से वस्तु का सम्पर्क होने पर पहले **इदं रजतम्** इत्याकारक व्यवसाय रूप ज्ञान उत्पन्न होता है जिसमें मात्र विषय का ज्ञान होता है और बाद में इस ज्ञान का ज्ञान **इदमहं जानामि** इत्याकारक अनुव्यवसाय के द्वारा होता है। यह बात गलत है कि हमारा ज्ञान **इदमहं जानामि** इस आकार को लिये ही उत्पन्न होता है और कि उसमें ज्ञाता, ज्ञेय, और ज्ञान तीनों प्रकाशित होता है। सही स्थिति तो यह है कि प्रथम क्षण में हमें जो व्यवसाय रूप ज्ञान होता है, उसका आकार **अयं घटः** इत्याकारक होता है न कि **अहं घटं जानामि** इस आकार का और वह ज्ञान केवल वस्तुविषयक ही होता है। यदि ज्ञान विषय के साथ स्वयं अपना भी ज्ञान कराये तो फिर चाक्षुष ज्ञान को स्वयं चाक्षुष ज्ञान का विषय

मानना होगा। पर चाक्षुष ज्ञान भला हमारे चक्षु को कैसे प्रस्तुत हो सकता है– चाक्षुषज्ञानं न चक्षुर्जन्यज्ञानविषयः चक्षुरसन्निकृष्टत्वात् घटवत्।[23]

चित्सुखाचार्य भी तत्त्वप्रदीपिका में कहते हैं कि यदि ज्ञान में उसके ज्ञाता का भी भासन माना जाए तब तो घटादि के चाक्षुष प्रत्यक्ष में घटादि के समान ही आत्मा में भी चाक्षुषत्व प्राप्त होगा क्योंकि चक्षुजनितज्ञान की भासमानता ही चाक्षुषत्व है। किन्तु आत्मा के अरूपी द्रव्य होने से उसमें चाक्षुषत्व संभव नहीं है–आत्मनो घटादिज्ञाने भासमानत्वाङ्गीकाराच्च घटादिवदेव चाक्षुषत्वमपि प्रसज्येत, तज्जनितज्ञाने भासमानताया एव तत्त्वात्, नीरूपस्य च द्रव्यस्य चाक्षुषत्वायोगात्।[24]

प्राभाकरों के त्रिपुटीप्रत्यक्षवाद के सबसे प्रबल आलोचक भाट्ट मीमांसक हैं। पार्थसारथि मिश्र ने न्यायरत्नाकर और शास्त्रदीपिका में तथा सुचरित मिश्र ने काशिका में प्राभाकर सिद्धान्त की जमकर आलोचना की है। पार्थसारथि का कहना है कि **इदं नीलं** और **नीलमहं जानामि** ये दोनों दो ढंग के निर्णय हैं। प्रथम में मात्र विषय का प्रकाशन होता है, ज्ञाता और ज्ञान का नहीं। वहीं द्वितीय में घट का पुनरस्मरण होता है और पहले ज्ञान का अनुमान होता है। प्रथम जहाँ प्रत्यक्ष विषयक निर्णय है वहीं द्वितीय अनुमान विषयक और ये दोनों साथ-साथ नहीं होते। प्राभाकरों का यह सोचना गलत है कि हर ज्ञान **अहमिदं जानामि** इस आकार का होता है। वे अनावश्यक ही इंद नीलं और नीलमहं जानामि– इन दोनों को एक कर कह देते हैं कि हर ज्ञान तिहरे संवेदन से युक्त होता है। सही स्थिति तो यह है कि ये दोनों ही दो तरह के ज्ञान हैं।

प्राभाकर के त्रिपुटीप्रत्यक्षवाद के विरुद्ध पार्थसारथि मिश्र, सुचरित मिश्र आदि भाट्टों का कहना है कि किसी वस्तु के ज्ञान के समय मात्र उस वस्तु का ज्ञान होता है। वस्तुज्ञान के समय न तो ज्ञाता आत्मा का ज्ञान होता है और न ही उस ज्ञान का ज्ञान होता है। 'क' विषयक चेतना या 'क' को अभिव्यक्त करने वाला ज्ञान उसी समय किसी 'ख' को जो कि उसका विषय नहीं है, भला कैसे अभिव्यक्त कर सकता है ? प्राभाकर सम्मत यह आपत्ति बिल्कुल निराधार है कि यदि वस्तु ज्ञान में ज्ञाता आत्मा का भी ज्ञान न हो तो हमारे ज्ञान और दूसरे के ज्ञान में कोई अंतर नहीं रह जाएगा, क्योंकि अपने अंदर होने वाले ज्ञान को मैं अपना इस कारण से समझता हूँ कि यह किसी अन्य के अंदर न उत्पन्न होकर मेरे अंदर उत्पन्न हुआ है, न कि इस कारण से कि उस ज्ञान में मेरी आत्मा प्रकाशित होती है। 'क' और 'ख' को होने वाले ज्ञान में अंतर का कारण यह नहीं है कि 'क' को होने वाले ज्ञान में 'क' और 'ख' को होने वाले ज्ञान में 'ख' प्रकाशित होता है। बल्कि उनके बीच अंतर इसलिये है कि 'क' को होने वाला ज्ञान 'क' को आश्रित करके और 'ख' को होने

वाला ज्ञान 'ख' को आश्रित करके उत्पन्न होता है।[26] सुचरित मिश्र काशिका में इस मत की भी आलोचना करते हैं कि आत्मा विषयज्ञान की प्रक्रिया में ही ज्ञाता रूप में ज्ञात होता है अन्यथा नहीं। यदि प्राभाकर दार्शनिकों का इसको मानने के पीछे यह कारण रहा होगा कि मुक्ति के समय आत्मचेतना का अभाव होता है तो ऐसी मुक्ति सामान्य मनुष्यों के अंदर जो मृत्यु की अभिकल्पना है, उससे बेहतर नहीं है।[27] प्राभाकर दार्शनिकों का कहना था कि यद्यपि ज्ञान में विषय के साथ ज्ञाता आत्मा और ज्ञान भी प्रकाशित होते हैं, पर ज्ञाता आत्मा ज्ञाता रूप में ही और ज्ञान ज्ञान रूप में ही भासित होता है; केवल विषय कर्मतया भासित होता है। इस पर सुचरित मिश्र का कहना है कि ज्ञान में जिसकी अभिव्यक्ति होती है वह उसका कर्म ही होता है। अतः यदि आत्मा ज्ञान में भासित होता है तो उसे उसका कर्म ही मानना होगा।[28] फलतः यह बात गलत हो जाएगी कि आत्मा कर्तृत्वेन भासित होता है, कर्म रूप में नहीं। एक अन्य महत्त्वपूर्ण आपत्ति उठाते हुए सुचरित कहते हैं कि यदि ज्ञान में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान तीनों की एक साथ प्रतीति मानी जाएगी तब तो फिर इन तीनों में अभेद प्रसक्त होगा क्योंकि इन तीनों की कभी भी एक दूसरे से अलग प्रतीति तो होती नहीं।[29]

ज्ञान को प्राभाकर आत्ममनस्संयोग कहते हैं। सुचरित मिश्र का कहना है कि ज्ञान आत्ममनस्संयोग नहीं हो सकता क्योंकि ज्ञान चेतना है और आत्ममनस्संयोग चेतना नहीं हो सकता।[30] और यदि उसे चेतना माना जाए तो फिर जैसे आत्मा को चेतन माना जाता है उसी तरह से मन को भी चेतन मानना होगा, पर ऐसा खुद प्राभाकर भी नहीं मानना चाहेंगे। वस्तुतः ज्ञान को यदि आत्ममनःसन्निकर्ष कहा जाएगा तो इसके आत्मा में समवेत होने से जैसे आत्मा कर्त्ता होगा उसी तरह मन में भी इसको समवेत मानना पड़ेगा तथा उसे भी तब कर्त्ता मानना होगा, फलतः एक ही क्रिया के दो-दो कर्त्ता होंगे।

प्राभाकर के अनुसार आत्मा मानस प्रत्यक्ष रूप अहं प्रत्यय का विषय नहीं हो सकता क्योंकि इससे स्वात्मनिक्रियाविरोध होगा। इस पर पार्थसारथि पूछते हैं कि यह स्वात्मनिक्रियाविरोध क्या है ? यदि इसका तात्पर्य यह है कि क्रिया अपने कर्त्ता में फल नहीं उत्पन्न करती है तो फिर स्वयं प्राभाकरों के मत में यह विरोध प्रसक्त होगा, क्योंकि प्राभाकर हर ज्ञान में ज्ञाता का प्रकाशन मानते हैं और यह प्रकाशन या भासन तभी संभव होगा जब यह माना जाए कि विषय और आत्मा, दोनों में ज्ञान क्रिया का फल उत्पन्न होता है।[31]

अद्वैत दार्शनिक प्राभाकरों की इस बात के लिये आलोचना करते हैं कि वे ज्ञान की स्वप्रकाशता को स्वीकार करने के बावजूद आत्मा को स्वप्रकाश नहीं मानते।

उनका कहना है कि आत्मा ज्ञान का आश्रय न होकर ज्ञानरूप ही है और ज्ञान रूप होने से आत्मा स्वयंप्रकाश है। अद्वैती प्राभाकर से सहमत हैं कि आत्मा स्वप्रकाश ज्ञान का विषय नहीं है। आत्मा में किसी तरह के ज्ञानविषयत्व या कर्मत्व की प्राभाकर और अद्वैती दोनों खंडन करते हैं। पर आत्मा में अकर्मत्व स्वीकार करने के बावजूद प्राभाकर आत्मा को स्वप्रकाश नहीं मानते तथा हर ज्ञान में आश्रय रूप में उसके स्फुरण की व्याख्या करते हैं। अद्वैतियों का इस पर कहना है कि यदि आत्मा ज्ञान का विषय नहीं है तो फिर उसे स्वप्रकाश मानना होगा क्योंकि संवित् व्यतिरिक्त का आपरोक्ष्य तभी होगा जब वे उसके विषय हों और यदि वे उसके विषय नहीं हैं तो उनकी अपरोक्षता नहीं हो सकती। चूँकि आत्मा ज्ञान का विषय नहीं है अतः आत्मा में होने वाली अपरोक्षता की व्याख्या तभी की जा सकती जब उसे स्वप्रकाश माना जाए। वस्तुतः ज्ञान किसी चीज को विषय बनाकर ही प्रकाशित करता है और चूँकि आत्मा का इस तरह प्रकाशन संभव नहीं है, अतः उसे स्वयंप्रकाश मानना होगा। चित्सुखाचार्य इस बात का खंडन करते हैं कि आत्मा अपने ज्ञान के लिये वस्तुओं के ज्ञान पर निर्भर है। यदि आत्मा अपने ज्ञान के लिये अपने से अतिरिक्त अन्य पर निर्भर हो तब उस ज्ञान से वियुक्त होने पर उसकी सत्ता ही सन्दिग्ध हो जाएगी। पुनः यदि प्राभाकरों की तरह यह माना जाए कि घटादि के ज्ञान में आत्मा का ज्ञान होता है तब तो फिर घटादि के समान आत्मा में चाक्षुषत्व मानना होगा।[32] इन कारणों से अद्वैतियों का कहना है कि आत्मा स्वप्रकाश ज्ञान का आश्रय न होकर स्वयं स्वप्रकाश है। स्वप्रकाश ज्ञान उसका गुण न होकर स्वरूप ही है।

क्या प्रभाकर त्रिपुटीप्रत्यक्षवादी हैं ?

ज्ञान की स्वप्रकाशता एवं त्रिपुटीप्रत्यक्षवाद सम्बन्धी प्राभाकर मत अपने सुविकसित रूप में शालिकनाथ प्रभृति बाद के प्राभाकरों में उपलब्ध होता है। जहाँ तक स्वयं प्रभाकर की बात है तो एक तरफ जहाँ वे ज्ञान की स्वप्रकाशता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए प्रतीत होते हैं वहीं दूसरी तरफ भाष्यकार का अनुसरण करते हुए इस बात का खंडन करते हैं कि ज्ञान स्वयं अपने आपको विषय बना सकता है। बौद्धों के विज्ञानवाद का खंडन करते हुये शबर भाष्य में कहते हैं कि ज्ञान हमेशा अर्थविषयक ही होता है, वह बुद्धिविषयक नहीं हो सकता—अर्थविषया हि प्रत्यक्षाबुद्धिः, न बुद्ध्यन्तरविषया।[33] प्रभाकर बृहती में भाष्यकार के उपरोक्त मत का अनुसरण करते हुए बौद्धों के इस मत का खंडन करते हैं कि ज्ञान प्रत्यक्ष है। ज्ञान चूँकि क्षणिक है और द्वितीय ज्ञान की उत्पत्ति तक यह स्थिर नहीं रहता, अतः उसका प्रत्यक्ष होना संभव नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष हमेशा विद्यमान विषयक ही होता है। दूसरा कारण यह

है कि प्रत्यक्ष में विषय के आकार का परिच्छेदन होता है और चूँकि ज्ञान निराकार है, अतः उसका स्वरूपग्रहण या परिच्छेदन नहीं होने से उसका प्रत्यक्ष होना संभव नहीं हो पाता है।[34] शबर बौद्धों के इस मत का खंडन करते हैं कि किसी विषय का ज्ञान होने के लिये उस ज्ञान का प्रत्यक्ष होना आवश्यक है। अर्थोपलब्धि के लिये बुद्धि का उपलब्ध (ज्ञात) होना जरूरी नहीं है। यह सही है कि बिना बुद्धि या ज्ञान की उत्पत्ति के अर्थोपलब्धि संभव नहीं है। पर उत्पत्ति या सत्ता की दृष्टि से ज्ञान की पूर्ववर्तिता यह सिद्ध नहीं करती कि उसका ज्ञान भी पहले होता है। अपितु सच तो यह है कि अर्थज्ञान के पश्चात् उस (ज्ञान) का अनुमान होता है। अतः बौद्धों के इस मत को कि 'बुद्धि प्रदीप के समान उत्पन्न होती हुई स्वयं ज्ञात होती है और अर्थान्तर को ज्ञापित करती है—उत्पद्यमानैवासौ ज्ञायते, ज्ञापयति च अर्थान्तरं, प्रदीपवद्' शबर स्वीकार नहीं करते और कहते हैं कि अर्थोपलब्धि के पश्चात् ही बुद्धि का उसके कारण के रूप में अनुमान होता है।[35] इस प्रकार ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता है, उसका हम अनुमान करते हैं। प्रभाकर भी भाष्यकार का अनुसरण करते हुए ज्ञान को प्रत्यक्ष के बजाए अनुमेय बताते हैं।[36] परन्तु ज्ञान को अनुमेय मानने के बावजूद प्रभाकर उसे स्वप्रकाश भी मानते हैं। प्रभाकर का मानना है कि वस्तुओं का प्रकाशन बिना ज्ञान के प्रकाशित हुए संभव नहीं है। यदि ज्ञान स्वयं अप्रकाशित हो तो वस्तुओं का प्रकाशन कैसे हो सकता है ? यह सही है कि ज्ञान का ग्रहण ज्ञेयत्वेन नहीं होता है और ज्ञान न तो स्वयं अपने या अन्य ज्ञान के द्वारा कभी भी प्रत्यक्ष हो सकता है, पर विषयतया या कर्मतया उसके प्रकाशित न होने का अर्थ यह नहीं है कि वह प्रकाशित ही नहीं होता है। अपितु सच तो यह है कि जब भी हमें किसी चीज का ज्ञान होता है तो उसमें वह ज्ञान भी ज्ञानत्वेन प्रकाशित होता है। बिना ज्ञान के प्रकाशित हुए वस्तुओं के ज्ञान की व्याख्या ही नहीं की जा सकती। हाँ, यह अवश्य है कि ज्ञान हमेशा ज्ञानत्वेन ही प्रकाशित होता है ज्ञेयत्वेन नहीं—

किमसंवेद्यैव संवित् ? न ब्रूमः — न संवेद्या संवित्—इति; संवित्तयैव हि संवित् संवेद्या, न संवेद्यतया। केयं वाचोयुक्तिः—संवेद्या, न संवेद्या—इति? इयमियं वाचोयुक्तिः—नास्याः कर्मभावो विद्यते—इति। कर्म च संवेद्याभिधेयम्, न संवित्। तस्मान्न पृथक् संवेद्यतया ग्रहीतुं शक्यते। न चासंवेद्यैव संवित्, तन्मूलत्वात् सर्वभावानां संवेद्यभावस्य।[37]

ज्ञान को स्वप्रकाश मानने के बावजूद प्रभाकर भाष्यकार का अनुसरण करते हुए ज्ञान को अनुमेय कहते हैं तथा इस विषय में वे पूरी तरह भाष्यकार से सहमत हैं कि ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता है अपितु उसका ज्ञान अनुमान द्वारा होता है। प्रभाकर का कहना है कि प्रत्यक्ष में वस्तु के स्वरूप का परिच्छेदन होता है, उसके

रूप का ग्रहण होता है और चूँकि ज्ञान का रूप या आकार नहीं होता, अतः उसके स्वरूपपरिच्छेदन का प्रश्न ही नहीं उठता। फलतः ज्ञान का संवेदन या प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है।[38] ज्ञान का ज्ञान विषयतया या कर्मतया असंभव है। ज्ञान कभी ज्ञेय नहीं हो सकता। संवित् संवेद्य नहीं होता। संवेद्य नहीं होने के बावजूद ज्ञान प्रमेय है क्योंकि उसकी सत्ता का अनुमान द्वारा ज्ञान होता है। यहाँ प्रभाकर संवेद्य और प्रमेय में अंतर करते हैं और ज्ञान के बारे में कहते हैं कि वह संवेद्य न होकर प्रमेय है। संवेदन या प्रत्यक्ष में जहाँ वस्तु के स्वरूप का ग्रहण होता है वहीं अनुमान में उसके रूप का ग्रहण न होकर सन्मात्र का ग्रहण होता है। प्रभाकर का कहना है कि ज्ञान का संवेदन या प्रत्यक्ष न होकर अनुमान होता है। और अनुमान में जैसा कि हमने देखा कि रूप का ग्रहण न होकर सन्मात्र का ग्रहण होता है—हम वस्तु प्रकाशन रूप फल को देखकर उसके कारण के रूप में ज्ञान की सत्ता का अनुमान करते हैं। बिना ज्ञान की सत्ता के वस्तुओं का प्रकाशन संभव नहीं है। हम वस्तुओं के प्रकाशन के कारण के रूप में ज्ञान की सत्ता का अनुमान करते हैं। इस प्रकार ज्ञान का जो ग्रहण होता है वह स्वरूपग्रहण न होकर सन्मात्र ग्रहण होता है। इसीलिये ज्ञान प्रत्यक्ष न होकर अनुमेय है।[39]

यद्यपि भाष्यकार का अनुसरण करते हुए प्रभाकर ज्ञान को अनुमेय कहते हैं, पर इससे उत्पन्न होने वाली तार्किक कठिनाइयों से वे अनभिज्ञ नहीं हैं। ज्ञान का ज्ञान प्रत्यक्ष से न मानकर अनुमान से मानने पर यह मानना होगा कि ज्ञान प्रारम्भ में अज्ञात रहता है और पश्चात् अनुमान से उसका ज्ञान होता है जैसा कि कुमारिल और उनके अनुयायी भाष्य की व्याख्या में स्पष्ट करते हैं। पर प्रभाकर बौद्धों के खंडन के अत्युत्साह में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं कर सकते थे कि ज्ञान आरंभ में अप्रकाशित रहता है और पश्चात् अनुमान द्वारा उसका ज्ञान होता है। ज्ञान एक पल के लिये भी भला अप्रकाशित कैसे रह सकता है ? जिस तरह प्रदीप को प्रकाशित होने के लिये प्रदीपान्तर की अपेक्षा नहीं होती, उसी तरह ज्ञान को प्रकाशित होने के लिये ज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं होती। और फिर यदि ज्ञान स्वयं अप्रकाशित हो तो वस्तुओं का प्रकाशन भला कैसे संभव होगा ? इन्हीं कारणों से प्रभाकर ज्ञान को अनुमेय मानते हुए भी स्वप्रकाश कहते हैं तथा दूसरी तरफ स्वप्रकाश बताते हुए भी उसकी प्रत्यक्षता या संवेद्यता का खंडन करते हैं ताकि भाष्यकार के मत का खंडन न हो। प्रभाकर ने इस बात को समझा कि बौद्धों के विज्ञानवाद के खंडन के लिये स्वप्रकाशता के सिद्धान्त का खंडन करना आवश्यक नहीं है। जो चीज आलोचनीय है वह है उनके द्वारा प्रतिपादित स्वप्रकाशता का स्वरूप। बौद्धों के अनुसार प्रत्येक ज्ञान स्वयं अपने आपको विषय बनाता है। हर संवेदन स्वसंवेदन है। संवित् की इस

तरह की स्वसंवेद्यता प्रभाकर को स्वीकार नहीं है। ज्ञान कभी भी ज्ञेय नहीं हो सकता। यदि ज्ञान का ज्ञान ज्ञेयत्वेन हो तो फिर ज्ञान का विषय अर्थ न होकर ज्ञान हो जाएगा और फिर ज्ञान के लिये बाह्यार्थ की अनिवार्य अपेक्षा नहीं रहेगी जैसा कि शबर ने पहले स्पष्ट किया था।[40] प्रभाकर शबर की इस मान्यता को स्वीकार करते हैं और मानते हैं कि वस्तुवाद की रक्षा के लिये यह मानना होगा कि ज्ञान अर्थविषयक ही होता है, स्वविषयक नहीं और इसीलिये ज्ञान को प्रत्यक्ष या संवेद्य नहीं माना जा सकता। पर प्रभाकर का कहना है कि यद्यपि ज्ञान प्रत्यक्ष या संवेद्य नहीं होता फिर भी अपने प्रति एक तरह की अपरोक्षता लिए होता है। ज्ञान ज्ञानत्वेन हर ज्ञान में प्रकाशित होता है। उसे अपने प्रकाश के लिये अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती, वह स्वप्रकाश होता है। और इस तरह की स्वप्रकाशता का वस्तुवाद से कोई विरोध नहीं है। ज्ञान होता तो वस्तुविषयक ही है, पर उसमें वह ज्ञानत्वेन प्रकाशित होता रहता है। बाह्यार्थवाद की रक्षा के लिये ज्ञान की स्वप्रकाशता की अस्वीकृति अनिवार्य नहीं है। ज्ञान अर्थविषयक होते हुए भी स्वप्रकाश होता है।

प्रभाकर सम्मत उपर्युक्त मत को सारांशतः रखते हुए कहा जा सकता है कि प्रभाकर के अनुसार (1) ज्ञान स्वप्रकाश है (2) ज्ञान संवेद्य नहीं प्रमेय है और (3) ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं अनुमेय है। प्रभाकर के मत में ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता। ज्ञान स्वयं अपने आपको विषय नहीं बना सकता। यह शालिकनाथ मिश्र हैं जो प्रभाकर के सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए प्रतिपादित करते हैं कि हर ज्ञान में ज्ञाता, ज्ञेय और स्वयं ज्ञान, इन तीनों का प्रकाशन होता है। ज्ञान न केवल विषय और आत्मा अपितु स्वयं अपने आपको प्रकाशित करता है। प्रभाकर तो भाष्यकार का अनुसरण करते हुए ज्ञान की प्रत्यक्षता का स्पष्टतः खंडन करते हैं। जबकि शालिकनाथ हर ज्ञान में विषय और आत्मा के प्रकाशन के साथ ही ज्ञान का प्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं। ऐसी स्थिति में कहा जा सकता है कि त्रिपुटीप्रत्यक्षवाद के सिद्धान्त का पल्लवन प्रभाकर के बाद के मीमांसकों द्वारा हुआ। सर्वप्रथम प्रकरणपञ्चिका में हमें इस मत का परिनिष्ठित रूप मिलता है। यह अवश्य है कि स्वयं प्रभाकर के बृहती में इस मत का आधारबीज स्पष्टतः देखा जा सकता है।

उपरोक्त निष्कर्ष की पुष्टि गंगेश प्रणीत तत्त्वचिन्तामणि के अवलोकन से भी की जा सकती है। तत्त्वचिन्तामणि के अनुव्यवसायवाद में पूर्वपक्ष के रूप में त्रिपुटीप्रत्यक्षवाद की विस्तार से संपरीक्षा की गयी है। इसी क्रम में गंगेश प्राचीन गुरुमत का अलग से उल्लेख करते हैं।[41] तत्त्वचिन्तामणि की मथुरानाथ कृत टीका तथा न्यायरत्नावली का संदर्भ देते हुए पशुपतिनाथ शास्त्री ने भी इस बात को सिद्ध करने का गुरुतर प्रयास किया है कि त्रिपुटीभानवाद का सिद्धान्त प्राभाकरों के नवीन

संप्रदाय द्वारा प्रतिपादित किया गया था।[42] प्राचीन प्राभाकर मत इस त्रिपुटीभानवाद के सिद्धान्त को नहीं मानता था। पशुपतिनाथ शास्त्री कृत मीमांसा दर्शन का अध्ययन अपूर्ण एवं ठोसहीन साक्ष्यों पर आधारित होने से और अतिवादी निष्कर्षों से भरे होने के कारण प्रामाणिक नहीं माना जाता है। फिर भी प्रस्तुत संदर्भ में शास्त्री जी के इस निष्कर्ष में कि त्रिपुटीभानवाद प्राचीन प्राभाकरों को अभिमत नहीं था, पर्याप्त बल दिखता है। त्रिपुटीभानवाद के सम्बन्ध में प्राचीन और नव्यप्राभाकरों के मत में अंतर को सुब्रह्मण्य शास्त्री भी स्वीकार करते हैं।[43] सुब्रह्मण्य शास्त्री का कहना है कि प्रभाकर मिश्र का प्राचीन प्राभाकर मत पञ्चिकाकार शालिकनाथ के नव्य प्राभाकर मत से अलग था। प्रभाकर मिश्र के प्राचीन मत के अनुसार ज्ञान न तो स्वयं अपने को और न आत्मा को ही विषय बनाता है फिर भी तादात्म्येन यह अपने में तथा स्वसमवायेन अपने आश्रय आत्मा में व्यवहार का प्रयोजक होता है। दूसरी ओर नव्य प्राभाकर मत में ज्ञान एक साथ ही अर्थ, आत्मा और स्वयं अपने को विषय बनाता हुआ अपने और अपने आश्रय आत्मा में व्यवहार का प्रयोजक होता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रभाकर और शालिकनाथ के मतों में साफ अंतर है। प्रभाकर ज्ञान की प्रत्यक्षता का स्पष्टरूपेण खंडन करते हैं। त्रिपुटीप्रत्यक्षवाद के सिद्धान्त का पल्लवन शालिकनाथ मिश्र जैसे नव्य प्राभाकरों द्वारा हुआ था।

संदर्भ एवं टिप्पणी

1. इदमहं गृह्णामीति वा, इदमहं स्मरामीति वा त्रितयमेवावभासते।
   शालिकनाथ मिश्र, प्रकरणपञ्चिका, पृ. 171.
2. प्राभाकरमीमांसकास्तु— सर्वेषु स्मृत्यनुभवरूपेषु ज्ञानेषु त्रिपुटीमुररीकुर्वाणा घटमहं जानामि, घटमहं स्मरामीत्यनुव्यवसायात्मकमेव ज्ञानमभ्युपगच्छन्ति, नत्वयं घट इति। ज्ञानं ज्ञाता ज्ञेयं, मितिर्माता मेयमिति चैतत्त्रितयं त्रिपुटीत्यभिधीयते।...ज्ञानं स्वप्रकाशं अर्थात्मनोः प्रकाशकमित्येषितव्यम्।
   श्री सुब्रह्मण्य शास्त्री, प्रकरणपञ्चिका पर पादटिप्पणी, पृ. 167.
3. प्रभाकर, बृहती (तर्कपादान्ता), सं. शे. कृ. रामनाथशास्त्री, मद्रास विश्वविद्यालय, 1934, पृ. 82.
4. शालिकनाथ मिश्र, प्रकरणपञ्चिका, पृ. 168.
5. शालिकनाथ मिश्र, प्रकरणपञ्चिका, पृ. 171-173.
6. जयपुरिनारायणभट्ट, न्यायसिद्धि, पृ. 171.
7. जयपुरिनारायणभट्ट, न्यायसिद्धि, पृ. 173.
8. प्रमेयं हि जडत्वात्प्रमाणायत्तां सिद्धिमाशास्ते, तत्रावश्यं किंचित्स्वतस्सिद्धमेष्टव्यम्, अन्यथा जगदान्ध्यमविचिकित्स्यमापद्यते। तस्मादनन्याधीनसिद्धत्वात्स्वयंप्रकाशा संविदिति।

जयपुरिनारायणभट्ट, न्यायसिद्धि, पृ. 171.

9. शालिकनाथ मिश्र, ऋजुविमलापञ्चिका, प्रकाशित बृहती (तर्कपादान्ता) के साथ, सं. शे. कृ. रामनाथ शास्त्री, मद्रास विश्वविद्यालय, 1934, पृ. 83.

10. देखें, प्रभाकर, बृहती, पृ. 83.

11. शालिकनाथ मिश्र, प्रकरणपञ्चिका, पृ. 171.

12. देखें, जयपुरिनारायणभट्टकृत न्यायसिद्धि, पृ. 173.

13. देखें, शालिकनाथ मिश्रकृत प्रकरणपञ्चिका और उस पर न्यायसिद्धि, पृ. 189-190.

14. प्रभाकर, बृहती, पृ. 82.

15. सर्वा हि प्रतीतिरेवमुपजायतेऽहमिदं जानामीति, न पुनर्जानातीत्येवं काचिद्बुद्धिरस्ति।
शालिकनाथ मिश्र, प्रकरणपञ्चिका, पृ. 168.

16. तदा च स्वपरसंवेद्ययोरनतिशयप्रसङ्गस्स्यात्।
शालिकनाथ मिश्र, प्रकरणपञ्चिका, पृ. 168.

17. देखें, इसी पुस्तक का पंचम अध्याय।

18. प्राभाकरमीमांसकास्तु सर्वदा ज्ञानमुत्पद्यमानं विषयात्मानौ प्रकाशयदेव प्रकाशते दीपवत् इति वदन्तः सविषयकविज्ञानस्वप्रकाशतां मन्यन्ते। अतस्तन्मते विषयात्मानौ विहाय ज्ञानं कदापि नोदेति, यदा ज्ञानं प्रकाशते, तदार्थात्मानौ सहैव प्रकाशेते।
श्री सुब्रह्मण्य शास्त्री, प्रकरणपञ्चिका–पृ. 172 की पादटिप्पणी में।

19. नाऽऽत्मा विषयाननुविद्धोऽवभासते, न च विषया बौद्धर्यनवभामाने भासन्त इति तावत् सिद्धम्।
शालिकनाथ मिश्र, प्रकरणपञ्चिका, पृ. 334.

20. प्राभाकर मत में ज्ञान या चेतना हमेशा किसी वस्तु की होती है। चेतना हमेशा किसी वस्तु की चेतना होती है तथा वस्तु विषयक यह चेतना स्वयं अपनी चेतना लिये होती है। अर्थात् जहाँ चेतना एक तरफ अनिवार्यतः सविषयक होती है वहीं यह सविषयक चेतना अनिवार्यतः स्वचेतना से युक्त होती है।

21. अपरे पुनरेवमाहुः – ज्ञानसंसर्गाद्विषये प्रकाशमाने प्रकाशस्वभावत्वात् प्रदीपवद्विज्ञानं प्रकाशते, प्रकाशाश्रयत्वात् प्रदीपवर्तिवदात्माऽपि प्रकाशत इति त्रिपुटीप्रत्यक्षतेति। तदप्यसत्, घटोऽयमित्येतस्मिन् प्रतीयमाने ज्ञातृज्ञानयोरप्रतिभासनात्। यत्र त्वनयोः प्रतिभासो घटमहं जानामिति, तत्रोत्पन्ने ज्ञाने ज्ञातृज्ञानविशिष्टस्यार्थस्य मानसप्रत्यक्षता। न तु ज्ञातृज्ञानयोश्चाक्षुषज्ञाने प्रतिभासः, तयोरपि चाक्षुषत्वप्रसङ्गात्।
श्रीधर, न्यायकन्दली, पृ. 221.

22. ...प्रमाणञ्च स्वप्रकाशे प्रत्यक्षमेव, सर्वाः प्रतीतय इदमहं जानामीत्येवमाकाराज्ञातारं ज्ञानं ज्ञेयञ्चोल्लिखन्त्यो जायन्ते, तत्रात्मा कर्तृत्वेन, ज्ञेयं कर्मतया, ज्ञानं क्रियात्वेन भासते अतो ज्ञातृ-ज्ञेय-स्वविषयं ज्ञानमनुभूयत इति त्रिपुटीप्रत्यक्षवादिनः।
गंगेश, अनुव्यवसायवाद, तत्त्वचिन्तामणि–प्रत्यक्षखण्ड, पृ. 788.

23. गंगेश, अनुव्यवसायवाद, तत्त्वचिन्तामणि–प्रत्यक्षखण्ड, पृ. 798.

24. चित्सुखाचार्य, तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 45.

25. यदा च ग्राह्यमात्रमेव भासते, न क्रिया कर्ता वा, तदा ये सर्ववित्तिषु त्रितयप्रतिभासमाहुः ते निरस्ताः। यस्तु नीलमहं जानामीति प्रतिभासः स नीले ज्ञाते पश्चादानुमानिकः, न तु

नीलवित्तिरेवैवंविधेति विभ्रमितव्यम्।
पार्थसारथि मिश्र, श्लोकवार्तिक–शून्यवाद–72 पर न्यायरत्नाकर।
26. सुचरित मिश्र, श्लोकवार्तिक–शून्यवाद–70 पर काशिका में।
27. देखें, वहीं आगे।
28. यत्तूक्तं परसमवायिक्रियाफलभागिता कर्मतेति, तदयुक्तम्। यदेव हि ज्ञानोत्पत्तावाप्यते तत् प्राप्यं कर्म। तथा चात्मेति कथमस्याकर्मत्वम्।
सुचरित मिश्र, श्लोकवार्तिक–शून्यवाद–70 पर काशिका।
29. सुचरित मिश्र, श्लोकवार्तिक–शून्यवाद–32 पर काशिका।
30. न चात्ममनसोः संयोगश्चेतना, रूपादितुल्यगुणत्वात्। तच्चेतनात्वे च मनसश्चैतन्यप्रसङ्गः। तस्यात्ममनसोः साधरणत्वात्।
सुचरित मिश्र, श्लोकवार्तिक–शून्यवाद–31 पर काशिका।
31. पार्थसारथि मिश्र, शास्त्रदीपिका, पृ. 253.
32. संविद्व्यतिरिक्तस्य संवित्कर्मत्वेनैवापरोक्षत्वनियमादात्मनः कर्मत्वाभावे तदनुपपत्तेः। संवेदिता संविदाश्रयतयाऽपरोक्षो न भवति अपरोक्षत्त्वात्संवेदनवदिति।...आत्मनो घटादिज्ञाने भासमानत्वाङ्गीकाराच्च घटादिवदेव चाक्षुषत्वमपि प्रसज्येत्।
चित्सुखाचार्य, तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 44-45.
33. मीमांसा–शाबर–भाष्य, 1/1/5.
34. प्रभाकर, बृहती (तर्कपादान्ता), पृ. 84.
35. मीमांसा–शाबर–भाष्य, 1/1/5.
36. तस्मान्न बुद्धिविषयं प्रत्यक्षम्; अर्थविषयं हि तत्। अतः सिद्धमानुमानिकत्वं बुद्धेः फलतः।
प्रभाकर, बृहती (तर्कपादान्ता), पृ. 87.
37. प्रभाकर, बृहती (तर्कपादान्ता), पृ. 82-83.
38. सिद्धं तर्ह्यर्थद्वयम्, विज्ञानस्यासंवेद्यत्वात् अर्थस्य च संवेद्यत्वात्। किमसंवेद्यमेव विज्ञानम् ? बाढमसंवेद्यम्, न त्वप्रमेयम्। कः पुनः प्रमेयसंवेद्ययोर्विशेषः ? यत्र हि विषयस्य स्वरूपं परिच्छिद्यते, तत् संवेद्यमित्युच्यते।
प्रभाकर, बृहती (तर्कपादान्ता), पृ. 83-84.
यतो यत्र स्वरूपं परिच्छिद्यते, तत्संवेद्यामित्युच्यते; ततश्च स्वरूपपरिच्छेदः संवेदनमुच्यते।... स्वरूपाग्रहणाज् ज्ञानमप्रत्यक्षमनुमेयत्वाच्च प्रमेयमिति।
देखें, वहीं पर शालिकनाथकृत ऋजुविमलापञ्चिका।
39. नाप्यनुमानाद्रूपग्रहणम्; सन्मात्रग्राह्यनुमानं भवति।
प्रभाकर, बृहती (तर्कपादान्ता), पृ. 82.
40. मीमांसा–शाबर–भाष्य, 1/1/5.
41. स्वजन्यव्यवहारविषयः स्वात्मा विषयश्चेति प्राचीनं गुरुमतमपास्तम्।
गंगेश, अनुव्यवसायवाद, तत्त्वचिन्तामणि–प्रत्यक्षखण्ड, पृ. 803.
42. पशुपतिनाथ शास्त्री, इन्ट्रोडक्शन टु द पूर्वमीमांसा, सं. गौरीनाथ शास्त्री, चौखम्भा ओरिएन्टालिया, दिल्ली, 1980, पृ. 98-100, 108.
43. ...तस्मात् ज्ञानं स्वप्रकाशं अर्थात्मनोः प्रकाशकमित्येषितव्यम्। तच्च ज्ञानमाश्रयविधयाऽऽत्मानं, विषयविधया घटादिकञ्च प्रकाशयति। तत्र मतद्वयमस्ति। तत्राद्यमते ज्ञानं यद्यपि न

स्वात्मानं विषयीकरोति, न वाऽऽत्मानम्, तथापि तादात्म्येन स्वस्मिन्व्यवहारं प्रयोजयति, स्वसमवायेन आत्मनि च व्यवहारं प्रयोजयति। इदमेव प्रभाकरमिश्रीयं प्राचीन प्राभाकरमतमिति व्यवहरन्त्यभियुक्ताः। अपरञ्च मतम्—ज्ञानं स्वं स्वाश्रयञ्च विषयीकुर्वत् स्वव्यवहारम्, स्वाश्रयव्यवहारञ्च प्रयोजयतीति। इदमेव पूर्वमतादस्य मतस्य वैलक्षण्यम्। एतदेव नव्यप्राभाकरमतं पञ्चिकाकर्तुर्मतमिति बोद्धव्यम्।

सुब्रह्मण्य शास्त्री, प्रकरणपञ्चिका—पृ. 167-168 के पादटिप्पणी में।

❐

8

ज्ञान की प्रकाशता सम्बन्धी विभिन्न मतों की अद्वैतकृत संपरीक्षा

अद्वैत दार्शनिकों के अनुसार ज्ञान स्वप्रकाश होता है। जिस तरह सूर्य प्रभा या दीपज्योति को प्रकाशित होने के लिये अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती है, उसी तरह ज्ञान को प्रकाशित होने के लिए किसी ज्ञानान्तर की आवश्यकता नहीं होती है। ज्ञान शाश्वत अपरोक्ष है। एक पल के लिए भी ऐसा नहीं होता कि ज्ञान हो पर वह अज्ञात रहे। अज्ञात ज्ञान स्वयं में वदतोव्याघात है। ज्ञान क्षण भर के लिए भी अज्ञात या अप्रकाशित नहीं रहता, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि उसका ज्ञेयत्वेन ज्ञान होता है। अद्वैत दार्शनिक इस बात का खंडन करते हैं कि ज्ञान कभी ज्ञेय होता है और कि उसका ज्ञेयत्वेन ज्ञान किसी रूप में संभव है। वस्तुतः ज्ञान कभी ज्ञेय नहीं होता है। ज्ञान किसी रूप में भी न तो किसी ज्ञानान्तर का अथवा स्वयं उसी ज्ञान का विषय बनता है। अस्तु, नैयायिकों की यह अभिकल्पना कि ज्ञान का ज्ञानान्तर द्वारा प्रत्यक्ष होता है अथवा भाट्ट मीमांसकों की यह सूझ कि ज्ञान का ग्रहण अर्थापत्ति या अनुमान से होता है नितान्त अनुचित है। यह दोष बौद्धों में भी समान रूप से देखा जा सकता है क्योंकि ज्ञान के ग्रहण के लिए ज्ञानान्तर की आवश्यकता को भले ही वे स्वीकार नहीं करते हैं, पर उसे स्वयं अपना विषय बना देते हैं तथा स्वसंवेद्य मान लेते हैं। वस्तुतः ज्ञान किसी भी रूप में न तो दूसरे ज्ञान का अथवा स्वयं उसी ज्ञान का विषय हो सकता है। यदि एक ज्ञान का ज्ञान दूसरे ज्ञान से माना जाए तो अनवस्था दोष प्रसक्त होता है और यदि ज्ञान का ज्ञान उसी ज्ञान से माना जाए तो कर्तृ-कर्म एकत्व प्रसक्त होगा। ज्ञान या चेतना प्रकाश के समान है, फलतः उसके प्रकाशन के लिये जो समस्त वस्तुओं के प्रकाशन का कारण है, किसी प्रकाश की आवश्यकता ही नहीं होती। ज्ञान साक्षात् भासित है, नितान्त अपरोक्ष है, स्वयंप्रकाश है। ज्ञान उसी का होता है जो किसी रूप में अज्ञात हो, पर चूँकि चेतना का प्रकाश कभी तिरोहित नहीं होता तथा वह सतत् प्रकाशमान है, अतः

उसके ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं। जो साक्षात् प्रतीति का विषय है, जिसकी साक्षात् अपरोक्षानुभूति होती है, उसके ज्ञान की न तो आवश्यकता होती है और न यह संभव है।

न्याय-वैशेषिक के इस सिद्धान्त की कि ज्ञान ज्ञानान्तर द्वारा वेद्य होता है, अद्वैतियों ने जमकर आलोचना की है। इस सम्बन्ध में नैयायिकों द्वारा प्रस्तुत अनुव्यवसायवाद का खंडन करते हुए अद्वैत दार्शनिक कहते हैं कि ज्ञान स्वयंप्रकाश होता है तथा किसी वस्तु के ज्ञान में न केवल वह वस्तु अपितु वह ज्ञान भी स्वयं प्रकाशित होता है। श्रीहर्ष खण्डनखण्डखाद्य में तथा चित्सुखाचार्य तत्त्वप्रदीपिका में तर्क देते हैं कि यदि ज्ञान को विषय प्रकाशन के समय ही स्वप्रकाशित न माना जाए तो ज्ञाता को स्वयं अपने ज्ञान के विषय में संदेह होने लगेगा कि उसे ज्ञान हुआ है अथवा नहीं या उसे इस सम्बन्ध में भ्रम होने लगेगा अथवा विपरीतप्रमा ही होने लगेगा कि उसे ज्ञान ही नहीं हुआ। अद्वैती अनुभव के मनोविज्ञान की दुहाई देते हुए कहते हैं कि ऐसा संभव ही नहीं है कि व्यक्ति को कोई ज्ञान हो और उस ज्ञान के अस्तित्व के विषय में वह संदिग्ध हो, भ्रमित हो अथवा उसे लगे कि उसे ज्ञान ही नहीं है। वस्तु ज्ञान होते ही यदि ज्ञाता से कोई पूछता है कि उसे ज्ञान हुआ कि नहीं, तत्काल वह उत्तर देता है कि ऐसा हुआ। अब यह बात तभी संभव है जब यह माना जाए कि ज्ञाता को विषय के ज्ञान के साथ ही उस ज्ञान का भी ज्ञान साथ ही होता है। वस्तुतः अनुभूति या ज्ञान स्वयं प्रकाशित होती हुयी ही अपने विषय का व्यवहार पैदा करती है—किञ्चानुभूतिरर्थप्रकाशनसमये यदि न प्रकाशेत, तथा सत्यनन्तरक्षणे जिज्ञासोस्तत्र संदेहो विपर्ययो वा विपरीतप्रमा वोदियात्। न च कश्चिदमुमद्राक्षीन्नो वा भवानिति पृष्ठोऽनन्तरक्षणे संदिग्धे विपर्यस्यति संविदभावं वा प्रमिणोति, किन्तु निश्चिनोत्येव 'इदमहमद्राक्षम्' इति तेन प्रकाशमानैवानुभूतिरर्थे व्यवहारं जनयतीति युक्तम्।[1]

अद्वैतियों द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त तर्क के प्रत्युत्तर में नैयायिकों का यह कहना है कि ज्ञाता को होने वाले ज्ञान के अस्तित्व के सम्बन्ध में संदेहादि का निवारण करने के लिये ज्ञान को स्वप्रकाश मानना आवश्यक नहीं है। ज्ञान विषयक संदेहादि की निवृत्ति के लिये केवल यह मानना जरूरी है कि वह ज्ञान गृहीत हो, यह मानना किसी भी ढंग से अनिवार्य नहीं है कि उसी ज्ञान द्वारा उसका ग्रहण हो अथवा वह स्वप्रकाश हो। स्वप्रकाशवाद के जगह ज्ञान को परप्रकाश मानकर तथा ज्ञान का ज्ञान परवर्ती अनुव्यवसाय द्वारा मानकर ज्ञान के सम्बन्ध में होने वाले संशयादि का निवारण हो जाता है। वस्तु ज्ञान के अनन्तर अगले ही क्षण चूँकि उस ज्ञान का ज्ञान अनुव्यवसाय द्वारा हो जाता है अतः संदेहादि का अवसर ही नहीं उठता। नैयायिकों

के उपर्युक्त तर्क के प्रत्युत्तर में अद्वैतियों का कहना है कि ज्ञान का प्रकाशन स्वतः नहीं बल्कि अनुव्यवसाय रूप दूसरे ज्ञान से माना जाए तो सहज ही यह आपत्ति उठती है कि अनुव्यवसाय स्वयं ज्ञान है, अतः इसके ज्ञान के लिये भी दूसरे ज्ञान की आवश्यकता होगी। अर्थात् ज्ञान का ज्ञान यदि दूसरे ज्ञान से माना जाए तो उस दूसरे ज्ञान के लिये तीसरे ज्ञान और फिर उसके लिये चौथे की आवश्यकता होगी और इस तरह अनवस्था दोष आपतित होगा।[2] पुनः यदि एक ज्ञान का ग्रहण दूसरे से माना जाए और दूसरे का तीसरे से तथा तीसरे का चौथे से तो इस तरह ज्ञान-ज्ञान परम्परा की धारा टूटेगी ही नहीं और हम एक ही ज्ञान पर अटके रह जायेंगे तथा व्यवहारान्तर संभव ही नहीं होगा, सुषुप्ति अवस्था भी नहीं हो सकेगी। यदि नैयायिकों के इस उत्तर को मान लिया जाए कि ज्ञान के ज्ञान की यह धारा तीन चार कक्षाओं तक ही चलती है तो हम इस कड़ी के जिस 'अंतिम ज्ञान' पर पहुंचते हैं वह अगृहीत ही रह जाता है और उसके अगृहीत रहने से 'अंतिम ज्ञान' संदिग्ध हो जाता है। और चूँकि उत्तरोत्तरवर्ती ज्ञान संदेहादि की संभावना से ग्रसित होते हैं अतः उनके-उनके विषयभूत पूर्व-पूर्व ज्ञान और अंततः वस्तु विषयक हमारा मूल या प्रथम ज्ञान संदेहादि से ग्रसित हो जाता है।

खण्डन और चित्सुखी में उपर्युक्त तर्क के अतिरिक्त इसी से मिलता-जुलता एक और तर्क ज्ञान की परप्रकाशता के विरुद्ध दिया गया है। यह तर्क ज्ञाता को होने वाले उसके ज्ञान के प्रति संदेहादि की असंभावना वाले तर्क से भिन्न है। समस्या ज्ञान की सिद्धि को लेकर उठायी गयी है। अनुभूति को अनुभाव्य मानने पर अनवस्था दुर्निवार है। अब इस अनवस्था के परिहार के लिये नैयायिक कह सकता है कि हर ज्ञान का ज्ञात होना आवश्यक नहीं है और कि बिना ज्ञात हुए भी ज्ञान व्यवहार निर्वहन में समर्थ है। जैसे चक्षु बिना स्वयं को देखे अर्थ-प्रकाशन में समर्थ होती है उसी तरह ज्ञान बिना गृहीत हुए ही अपनी स्वरूप सत्ता मात्र से व्यवहार आपादन में समर्थ है। लेकिन यहाँ प्रश्न उठता है कि ज्ञान की स्वरूप सत्ता में आखिर प्रमाण क्या है ? यह यदि सही मान भी लिया जाए कि व्यवहार निर्वहन अगृहीत ज्ञान द्वारा उसकी स्वरूप सत्ता मात्र से हो जाएगा तो भी उस (अज्ञात ज्ञान) की सत्ता में तो प्रमाण होना चाहिए। अब चूँकि ज्ञान अगृहीत है, अतः अगृहीत होने से उसकी सत्ता में कोई प्रमाण नहीं। और चूँकि जब स्वयं ज्ञान की ही सत्ता में कोई प्रमाण नहीं, जब स्वयं ज्ञान ही असिद्ध हो, तो भला व्यवहार की सिद्धि कैसे होगी ? अद्वैतियों का तर्क स्पष्ट है। बिना प्रमाण के किसी वस्तु की सत्ता मानी नहीं जा सकती। जिस वस्तु की सत्ता के लिये कोई प्रमाण नहीं है, उसकी सत्ता को मानने का कोई आधार नहीं है। अब चूँकि ज्ञान अगृहीत है अतः उसकी सत्ता ही नहीं सिद्ध होती। यहाँ

नैयायिक यह कह सकता है कि हर ज्ञान के पीछे प्रमाण ढूँढने की क्या आवश्यकता है जबकि उससे व्यवहार की सिद्धि तो हो ही रही है।[3] पुनः 'जानामि' इत्यादि अनुभवों के आधार पर ज्ञान सामान्य की सत्ता तो सिद्ध रहती ही है, हाँ जब विशेषज्ञान की सत्ता के विषय में जिज्ञासा होगी तो उसके पीछे प्रमाण ढूंढने का प्रश्न उठेगा और तब व्यवहारादि लिङ्ग से उसका अनुमान कर लिया जाएगा। नैयायिकों के इस संभावित उत्तर पर अद्वैतियों का कहना है कि 'अयं घटः' और 'घटमहमनुभवामि' इस प्रकार की दो अनुभूतियों (व्यवसाय और अनुव्यवसाय) से अतिरिक्त और कोई अनुभूति परम्परा अनुभव में नहीं आती। ज्ञान ग्राहक अनुमान की बात काल्पनिक है। यदि कथंचित् इसे मान भी लिया जाए तो फिर प्रश्न उठेगा कि ज्ञान की सत्ता के लिये प्रस्तुत अनुमान प्रमाण की सत्ता कैसे सिद्ध होगी ? अर्थात् ज्ञान की सत्ता के लिये प्रस्तुत प्रमाण और फिर उसके लिये प्रमाणान्तर और उसकी सिद्धि के लिये प्रमाणान्तर–इस प्रकार अनवस्था प्रसंग प्रसक्त होगा। और अन्ततोगत्वा यदि 'अंतिम प्रमाण' स्वयं असिद्ध रह जाता है तो तद्तद् उत्तरवर्ती प्रमाण के विषयीभूत पूर्व-पूर्व के प्रमाण और मूल प्रथम ज्ञान असिद्ध ही रह जाते हैं। इसी तरह यदि यह माना जाए कि ज्ञान का ग्रहण अनुव्यवसाय से होता है तो इस अनुव्यवसाय के लिये भी कोई प्रमाण होना चाहिए और फिर उसके लिये किसी प्रमाणान्तर की अपेक्षा होगी–एवंभूत अनवस्था प्रसक्त होगा और इससे बचाव के लिये यह माना जाए कि अनुव्यवसाय रूपी द्वितीय ज्ञान बिना स्वविषयक प्रमाण के अपने स्वभाव से ही अपने विषय का व्यवहार सम्पन्न कर देगा तो फिर प्रथम ज्ञान ही वैसा क्यों न कर सकेगा ? अनावश्यक के ज्ञान-परम्परा को मानने की क्या आवश्यकता ? अनुव्यवसाय को स्वीकार करने से क्या लाभ ? क्यों नहीं यह स्वीकार कर लिया जाए कि ज्ञान स्वप्रकाश है ? अस्तु, अनुभूति को वेद्य या अनुभाव्य मानने से अनवस्था पतित होती है और यदि अनवस्था का वारण करने के लिये यह माना जाए कि बाद की अनुभूति के लिये प्रमाण की कोई जरूरत नहीं, तब तो वह असिद्ध रहेगी और चूँकि बाद वाली अनुभूति असिद्ध है अतः उसके पहले की अनुभूतियाँ भी असिद्ध हो जाएंगी, फलतः सभी अनुभूतियों का स्वरूप असिद्ध हो जाएगा।

वस्तुतः नैयायिकों की यह अभिकल्पना कि ज्ञान का ज्ञान ज्ञानान्तर द्वारा होता है, दोषों से भरा है। ज्ञान के ज्ञान के लिये ज्ञानान्तर की कल्पना का अर्थ होगा कि ज्ञान अज्ञात है। लेकिन ज्ञान भला एक पल के लिये भी अज्ञात कैसे हो सकता है ? अज्ञात ज्ञान स्वयं में वदतोव्याघात है। यदि ज्ञान को भी अन्य वस्तुओं के समान अप्रकाशरूप मान लिया जाए और वह भी ज्ञेय हो तो फिर ज्ञान और अन्य ज्ञेय वस्तुओं में अंतर ही क्या रह जाएगा ? वस्तुतः यदि ज्ञान को स्वप्रकाश न माना जाए

तथा उसे भी अपने प्रकाशन के लिये अन्य ज्ञान की अपेक्षा हो तब तो वह भी जड़ वस्तुओं की तरह परप्रकाश्य हो जाएगा। और जब समस्त वस्तुओं का अवभासक ज्ञान स्वयं जड़ वस्तुओं की तरह अप्रकाशरूप हो तो इस संसार में सब कुछ जड़वत् हो जाएगा और कुछ भी प्रकाशित न होने से जगदान्ध्य प्रसंग प्रसक्त होगा। अतः हमें ज्ञान को स्वप्रकाश मानना होगा। चित्सुखाचार्य कहते हैं कि इस जगत् के घट-पटादि पदार्थ न तो स्वयं प्रकाशमान हैं और न तो परस्पर एक दूसरे से प्रकाशित हैं (अर्थात् घट पट से प्रकाशित है और पट घट से प्रकाशित है)। अब ऐसी स्थिति में यदि ज्ञान को भी प्रकाशित नहीं माना जाए, यदि ज्ञान भी प्रकाशमान न हो तो इस जगत् में कुछ भी प्रकाशित न होगा, फलतः घोर अंधकार प्रसक्त होगा और जगदान्ध्य प्रसंग होगा।[4]

नैयायिकों के अनुव्यवसायवाद पर आपत्ति उठाते हुए अद्वैत आचार्य पूछते हैं कि जिस आत्म-मनःसंयोग रूप असमवायी कारण से घट ज्ञान उत्पन्न होता है क्या उसी मनःसंयोग से उस ज्ञान का ज्ञान रूप अनुव्यवसाय भी उत्पन्न होता है अथवा दूसरे संयोग से–किञ्च येन मनः संयोगेन घटानुभूतिर्जनिता तेनैवानुव्यवसायस्यापि जन्म ? उत संयोगान्तरेण ?[5] इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि यदि एक ही मनःसंयोग अनुव्यवसाय और व्यवसाय दोनों का कारण हो तो दोनों को युगपद् उत्पन्न होना चाहिए। परन्तु दोनों की उत्पत्ति युगपद् अर्थात् एक काल में नहीं हो सकती क्योंकि व्यवसाय अनुव्यवसाय का कर्मकारक होने से जनक है और अनुव्यवसाय जन्य है–अब चूँकि जन्य और जनक दोनों एक ही काल में उत्पन्न नहीं हो सकते अतः व्यवसाय और अनुव्यवसाय, दोनों को एक ही आत्म-मनःसंयोग से उत्पन्न मानना ठीक नहीं होगा। यहाँ यह कहा जा सकता है कि एक ही आत्म-मनःसंयोग अपने दोनों कार्यों (व्यवसाय और अनुव्यवसाय) को भले ही युगपद् न उत्पन्न कर सकें पर क्रमशः तो उत्पन्न ही कर सकते हैं, परन्तु यह पक्ष भी संभव नहीं है। वस्तुतः व्यवसाय और अनुव्यवसाय, इन दो ज्ञानों का भेद या द्वित्व ही इसलिये है कि इनका असमवायिकारण आत्म-मनःसंयोग भिन्न-भिन्न है। यदि असमवायिकारण के भेद को ज्ञानों के भेद का नियामक न मानें तो अन्य दूसरा कोई संयोग अपेक्षणीय न होने से एक साथ ही घटानुभव, घट-स्मरण और उन दोनों को विषय करने करने वाला प्रत्यभिज्ञा–ये तीनों एक काल में उत्पन्न होने लगेंगे। परन्तु ऐसा होता नहीं है। ये तीनों एक साथ नहीं बल्कि क्रमशः उत्पन्न होते हैं, अतः हमको अगत्या मानना होता है कि असमवायिकारण (मनःसंयोग) भिन्न-भिन्न और क्रमिक हैं, इसी कारण इनके कार्यों में क्रमिकता है। यदि कारणों में क्रम न हो तो कार्यों की क्रमिकता नहीं बन पाएगी। एक आत्म-मनःसंयोग से व्यवसाय और अनुव्यवसाय, इन दो ज्ञानों की न

तो युगपद् उत्पत्ति संभव है और न क्रमिक ही।

यदि यह माना जाए कि एक आत्म-मनःसंयोग रूप असमवायिकारण से व्यवसाय की उत्पत्ति होती है और अनुव्यवसाय की उत्पत्ति दूसरे आत्म-मनःसंयोग से होती है, तो इस मत में भी भयंकर दोष होगा। क्योंकि एक आत्म-मनः संयोग से घट-व्यवसाय अर्थात् प्रथम ज्ञान की उत्पत्ति के समय में मन में क्रिया होगी, फिर दूसरे क्षण उससे विभाग होगा, तृतीय क्षण में पूर्व संयोग का नाश होगा, चौथे क्षण में दूसरा संयोग उत्पन्न होगा, तब कहीं पांचवें क्षण में दूसरा (अनुव्यवसाय) ज्ञान होगा। इस तरह बहुक्षण विलम्ब से जब अनुव्यवसाय रूप उत्तर ज्ञान उत्पन्न होगा तब व्यवसाय संज्ञक प्रथम ज्ञान तो नष्ट हो चुका रहेगा, फलतः उसका भान अनुव्यवसाय से भला कैसे हो सकेगा ?

एवंभूत ज्ञान ग्राहक अनुव्यवसाय रूप हमारे ज्ञान की कल्पना विरोधों से भरी हुई है। ज्ञान कभी ज्ञेय नहीं बन सकता। जो स्वयं समस्त वस्तुओं का प्रकाशक है उसे भला कैसे प्रकाशित किया जा सकता है। ज्ञान कभी भी अज्ञात नहीं रहता, और चूँकि वह कभी भी अज्ञात नहीं रहता अतः वह ज्ञान द्वारा अधिगृहीत किये जाने वाली कोई वस्तु नहीं है, वह अवेद्य है। अद्वैतियों द्वारा ज्ञान या अनुभूति को अवेद्य मानने की आलोचना करते हुए नैयायिक कह सकता है कि ज्ञान को अवेद्य मानने की कल्पना प्रत्यक्ष विरुद्ध है। अहं घटज्ञानवान् अस्मि अथवा ज्ञातो घटः आदि अनुभव यह प्रत्यक्षतया सिद्ध करते हैं कि अनुभूति या ज्ञान में वेद्यत्व है। नैयायिक का मन्तव्य स्पष्ट है। ज्ञान का प्रत्यक्षत्व अहं घटज्ञानवान् अस्मि अथवा ज्ञातो घटः जैसे अनुभवों द्वारा सर्वलोक प्रत्यक्ष सिद्ध है। इस पर अद्वैतियों का कहना है कि 'मैं घट-ज्ञान वाला हूँ' अथवा 'घट ज्ञात है' जैसे अनुभवों की व्याख्या ज्ञान को स्वयंप्रकाश मान लेने से ही हो जाती है, उसके लिये ज्ञान को ज्ञेय मानने की भला क्या आवश्यकता ? पुनः 'ज्ञातो घटः' अथवा 'अहं घटं जानामि' इस अनुव्यवसाय से वस्तुतः घट की वेद्यता या प्रत्यक्षता का अनुभव होता है, न कि ज्ञान की प्रत्यक्षता का, क्योंकि ज्ञातत्व या विदितत्व घट का विशेषण है–किञ्च विदितो घट इत्यत्रानुव्यवसायेन घटस्यैव विदित्वमवसीयते न तु वित्तेः, विदितत्वस्य घटविशेषणत्वात्।[6] फिर कदाचित् यह मान भी लिया जाए कि अनुव्यवसाय से अनुभूति या ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है, तो भी इस प्रत्यक्ष से अनुभूतिगत या ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व अथवा वेद्यत्व का तो प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः नैयायिकों का यह पक्ष कि प्रत्यक्ष से ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व की सिद्धि होती है, उचित नहीं कहा जा सकता है। 'अहं घटं जानामि', 'ज्ञातो घटः' आदि अनुव्यवसाय से अधिक से अधिक ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है, यह स्वीकार किया जा सकता है, इनसे ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का प्रत्यक्ष नहीं होता है। चित्सुखाचार्य कहते हैं

कि यदि अनुव्यवसाय से ही व्यवसाय में रहने वाले अनुव्यवसाय के वेद्यत्व का ग्रहण हो जाए, तब तो अनुव्यवसाय में भी अनुव्यवसाय की वेद्यता आ जाएगी, क्योंकि अनुव्यवसाय वेद्यत्व का विशेषण है। ऐसी स्थिति में क्रिया कर्म विरोध प्रसक्त होगा और बौद्ध मत में प्रवेश होगा।[7]

ज्ञान को ज्ञानान्तर द्वारा गृहीत मानने वाले नैयायिकों के परप्रकाशवाद की प्राभाकर, बौद्ध और अद्वैती सभी एक स्वर से आलोचना करते हैं। ज्ञान का ज्ञान दूसरे ज्ञान से मानने पर अनवस्था अवश्यंभावी है। और फिर जो ज्ञान स्वयं अप्रकाशित हो वह भला अर्थ का प्रकाशन कैसे कर सकता है ? यदि समस्त जगत् का भासन जिस ज्ञान ज्योति से होता है उसे भी अन्य वस्तुओं के समान अप्रकाशरूप माना जाए तो जगदान्ध्य प्रसङ्ग प्रसक्त होगा। अब उपुर्यक्त समस्याओं से बचने के लिये बौद्ध दार्शनिक यह मान लेते हैं कि ज्ञान प्रदीप की तरह स्वयंप्रकाश है तथा वह स्वयं अपना ग्रहण करता है। जैसे दीपक को अपने प्रकाश के लिये किसी दूसरे दीपक की अपेक्षा नहीं होती है उसी तरह ज्ञान को भी प्रकाशित होने के लिये ज्ञानान्तर की जरूरत नहीं होती। वह स्वयं ही अपने को भी विषय बनाता है। ज्ञान का स्वसंवेदन होता है। जैसा कि पीछे हम लोगों ने देखा कि बौद्धों के अनुसार चित्त की कोई भी ऐसी अवस्था नहीं है जिसका कि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष न हो।[8] हमारे सभी चित्त और चैत्तों का आत्मसंवेदन होता है। न केवल हमारे विज्ञानों का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है अपितु सुखादि मानसिक भावों का भी स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है। हर ज्ञान अपना ज्ञान लिये होता है। हर चेतना आत्मचेतना लिये होती है। संवित् स्वसंवित् होता है। ज्ञान को स्वप्रकाश मानने के बावजूद अद्वैत दार्शनिक बौद्धों के उपर्युक्त मत की जमकर आलोचना करते हैं। ज्ञान का ग्रहण ज्ञानान्तर से मानने पर दोष ही दोष है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि अनवस्था, जगदान्ध्य प्रसङ्ग अथवा अस्वप्रकाश (अप्रत्यक्षभूत) ज्ञान की अनभीप्सित संभावना से बचने के लिये यह मान लिया जाए कि ज्ञान का ग्रहण उसी ज्ञान से होता है। संवेदन भला स्वयं अपने को कैसे जान सकता है ? जिस प्रकार अंगुली स्वयं अपने पोर को नहीं छू सकती, कुशल नर्तक भी अपने सर पर नहीं नाच सकता, उसी प्रकार ज्ञान स्वयं अपने आपको नहीं जान सकता। अनवस्था प्रभृति दोषों से तो बौद्ध बच निकलते हैं पर कर्तृ-कर्म विरोध के तर्कजाल में फँस जाते हैं। वस्तुतः जैसे नैयायिक ज्ञान के स्वरूप को गलत समझते हैं वैसे ही बौद्ध। बौद्धों का स्वसंवित्वाद दोषों का पिटारा है।

शंकराचार्य प्रश्नोपनिषद भाष्य में इस बात की जमकर आलोचना करते हैं कि ज्ञान किसी भी तरह से ज्ञेय हो सकता है।[9] वस्तुतः ज्ञान और ज्ञेय—ये दोनों दो चीजें हैं और ज्ञान एवं ज्ञेय के बीच के भेद को सैंकड़ों बौद्ध उसी तरह समाप्त नहीं कर

सकते जिस तरह मृतक व्यक्ति को पुनः नहीं जिलाया जा सकता है। ज्ञान कभी ज्ञेय नहीं बन सकता है। जिस तरह छिदा का छेदन व्यापार स्वयं पर नहीं होता, पाक क्रिया स्वयं को नहीं पकाती, अग्नि स्वयं को नहीं जलाती उसी तरह ज्ञान स्वयं अपने आपको नहीं जानता है। अन्यत्र ब्रह्मसूत्र भाष्य में शंकराचार्य बौद्धों के स्वसंवेदन की आलोचना करते हुए कहते हैं कि स्वसंवेदन का अर्थ यदि पूर्व और उत्तरकाल के विज्ञानों में ग्राह्य-ग्राहक भाव है तो यह स्वयं बौद्ध मत की प्रतिज्ञाओं को हानि पहुँचाता है। और यदि यह कहा जाए कि विज्ञान स्वयं ही अपने अनुभव का विषय होता है तो इससे क्रिया-कर्म विरोध प्राप्त होगा।[10] अद्वैतियों का तर्क स्पष्ट है। बौद्ध विज्ञानवादी विज्ञान को क्षणिक मानते हैं तथा यह स्वीकार करते हैं कि यह विज्ञान स्वयं अपने को विषय करता है। पर एक में विषयविषयिभाव सर्वथा विरुद्ध है। अब चूँकि विज्ञान क्षणिक है, अतः पूर्व विज्ञान अपनी उत्पत्ति के द्वितीय क्षण नष्ट हो जाता है और दूसरे विज्ञान के उत्पत्तिक्षण में वह रहता नहीं है, ऐसी स्थिति में वह दूसरे विज्ञान का विषय कैसे होगा और यदि वह विषय नहीं है तो फिर दूसरा विज्ञान विषयी कैसे होगा? यदि पूर्व विज्ञान उत्तरविज्ञान का विषय होने के लिये एक क्षण अधिक ठहरता है तो इससे विज्ञान क्षणिकत्व की बौद्ध प्रतिज्ञा की हानि होती है।

वस्तुतः क्षणिक विज्ञान न तो वस्तु को जान सकते हैं और न स्वयं अपने आप को। घट-पटादि के विज्ञानों का ग्रहण न तो उन्हीं विज्ञानों से सम्भव है और न विज्ञानान्तर द्वारा। अस्तु, अनित्य, क्षणिक विज्ञानों से न तो वस्तु के ज्ञान की व्याख्या हो पाती है और न ही स्वयं आत्मचेतना की। अलग-अलग विच्छिन्न क्षणिक विज्ञान वस्तुतः बिखरे हुए मोतियों के समान निरर्थक व उपयोगहीन हैं। इन्हें उपयुक्त और सार्थक बनाने के लिये नित्य स्वयंप्रकाश साक्षिचैतन्य रूप अंतर्यामी सूत्रात्मा की आवश्यकता होती है। हमें अनित्य विज्ञानों को प्रकाशित करने वाले तत्त्व के रूप में एक नित्य स्वयंप्रकाश साक्षिचैतन्य रूप आत्मा को मानना होगा जो न केवल वस्तुओं को प्रकाशित करता है अपितु उनके प्रत्ययों या विज्ञानों को भी। बिखरे हुए विच्छिन्न क्षणिक विज्ञानों को एक सूत्र में बांधकर क्रमबद्ध करने वाला यह स्वयंप्रकाश साक्षी तत्त्व है। यह साक्षी ही क्षणिक विज्ञानों का ग्रहीता और वास्तविक ज्ञाता है। बौद्धों का विज्ञान वस्तुतः बुद्धिवृत्तियाँ ही हैं जो नित्य कूटस्थ चैतन्य रूप साक्षी आत्मा के प्रकाश द्वारा प्रकाशित होती हैं। घट, पट आदि के विज्ञान भी घट, पट आदि के समान ही साक्षी रूप वास्तविक ज्ञाता के लिये ज्ञेय हैं। इन विज्ञानों का विज्ञाता साक्षी रूप आत्मा स्वयंसिद्ध व स्वयंप्रकाश है। इसे अपने प्रकाश के लिये किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है। बौद्ध क्षणिक विज्ञानों से पृथक् किसी विज्ञाता को नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि जैसे प्रदीप प्रदीपान्तर निरपेक्ष स्वयं प्रकाशित

होता है वैसे ही विज्ञान भी विज्ञानान्तर निरपेक्ष स्वयं प्रकाशित होता है। अब इसका यह अर्थ निकलता है कि विज्ञान प्रमाणागम्य हैं, उनका कोई अवगन्ता नहीं है, उनको कोई जानने वाला नहीं है। इस पर अद्वैतियों का कहना है कि अलग-अलग, अनेक, उत्पत्तिविनाशधर्मा क्षणिक विज्ञान अपनी सिद्धि एवं प्रकाश के लिये स्वयं से पृथक् नित्य स्वयंप्रकाश चैतन्य रूप विज्ञान की अपेक्षा रखते हैं। इस विज्ञाता द्वारा प्रकाशित और ज्ञात होने पर ही इनका कोई उपयोग और सार्थकता है। यदि इनको प्रकाशित करने वाला कोई साक्षी रूप विज्ञाता न हो तो फिर बिना प्रकाशित हुए उनकी स्थिति वैसे ही होगी जैसे शिलाघन मध्यस्थ सहस्र दीपप्रकाशों की।[11] अतः अलग-अलग विच्छिन्न क्षणिक विज्ञानों के गृहीता के रूप में एक नित्य स्थायी स्वयं-प्रकाश साक्षिचैतन्य रूप विज्ञानात्मा को मानना होगा। वास्तविक स्वप्रकाश और चिद्रूप यह साक्षिचैतन्य ही है, क्षणिक विज्ञान नहीं।

अद्वैती बौद्धों के ही तर्क से बौद्धों का ही खंडन करते हैं। अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिध्यति—यदि बौद्धों के इस तर्क को स्वीकार कर लिया जाए तो यह मानना पड़ेगा कि अर्थप्रकाशन के लिये आवश्यक है कि स्वयं ज्ञान पहले प्रकाशित हो। अब विज्ञान स्वयं प्रकाशित हो नहीं सकता है, अतः एक नित्य कूटस्थ साक्षिचैतन्य रूप विज्ञाता को मानना होगा जिसे विज्ञान प्रकाशित हो। ज्ञान की स्वतःग्राह्यता की सिद्धि के लिए बौद्ध दार्शनिक बार-बार प्रदीप दृष्टान्त का आश्रय लेते हैं और यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि जिस तरह प्रदीप को प्रकाशित होने के लिये प्रदीपान्तर की अपेक्षा नहीं होती है उसी तरह घटपटादि विज्ञानों को अपने से व्यतिरिक्त अन्य ज्योति की आवश्यकता नहीं होती। शंकराचार्य उपरोक्त प्रदीप दृष्टान्त का खंडन करते हुए कहते हैं कि यह बात गलत है कि प्रदीप स्वयं अपने को प्रकाशित करता है। वस्तुतः जैसे घट अपने से भिन्न चैतन्य द्वारा ग्राह्य है वैसे ही प्रदीप। घटादि के भासक प्रदीप को भी अपने से इतर चैतन्य के अवभासन की आवश्यकता होती है। इस अर्थ में प्रदीप और घट में समान प्रकाश्यत्व है—चैतन्यावभासत्व है। अतः विज्ञान के अपने ही ग्राह्य और ग्राहक होने में प्रदीप दृष्टान्त ठीक नहीं है। शंकराचार्य कहते हैं—आत्मानं प्रदीपः प्रकाशयतीति मृषैवोच्यते। चैतन्यग्राह्यत्वं तु घटादिभिरविशिष्टं प्रदीपस्य; तस्माद् विज्ञानस्यात्मग्राह्यग्राहकत्वे न प्रदीपो दृष्टान्तः।[12] अब जो स्थिति प्रदीप की है वही स्थिति घटाकारित अन्तःकरण वृत्तिरूप क्षणिक विज्ञानों की। जैसे घट अवभास्य है उसी तरह प्रदीप। उसी तरह जैसे घट अवभास्य है तद्वत् उसको अवभासित करने वाली तदाकार विज्ञान रूप बुद्धिवृत्ति। बौद्धों का विज्ञान वस्तुतः अन्तःकरण की विषयाकार में आकारित परिणतियाँ ही हैं, वस्तुतः ये जड़ ही हैं। इनको अवभासित करने वाला चैतन्य तत्त्व

कोई और ही है। यह चैतन्य ही स्वयंप्रकाश है। इसी के प्रकाश से प्रकाशित हो क्षणिक बुद्धिवृत्ति रूप विज्ञान घटादि का ज्ञान कराने में समर्थ होते हैं। अतः क्षणिक विज्ञानों को न तो स्वयंप्रकाश माना जा सकता है और न ही इससे वस्तुओं के ज्ञान की व्याख्या हो पाती है। जैसे घट-पटादि ज्ञेय हैं उसी प्रकार तदाकारित बुद्धिवृत्ति रूप विज्ञान। साक्षिचैतन्य इन क्षणिक विज्ञानों का भी ग्रहीता एवं ज्ञाता है। वास्तविक स्वप्रकाश वही है। क्षणिक विज्ञान तो इस साक्षी स्वरूप स्वयंप्रकाश ज्ञाता के लिये उसी तरह ज्ञेय है जैसे घट, पटादि अन्य पदार्थ।[13]

शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र भाष्य एवं बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य में बौद्धमत का खंडन करते समय उनकी दो प्रमुख आपत्तियों की विशेष चर्चा की है।[14] यदि विज्ञान का ग्रहण स्व भिन्न अन्य से माना जाए तो फिर उसका ग्रहण किसी अन्य से और फिर उसका किसी अन्य से मानना होगा, अतः अनवस्था दोष प्रसक्त होगा। फिर चूँकि ज्ञान प्रदीप की तरह अवभासक है अतः उसका ज्ञान अन्य ज्ञान से संभव नहीं माना जा सकता क्योंकि ज्ञान-ज्ञान सम होने से दो दीपकों के समान उनमें ग्राह्य-ग्राहक भाव या प्रकाश्य-प्रकाशक भाव नहीं बन सकेगा। अब शंकर का कहना है कि उपर्युक्त दोनों आपत्तियाँ अद्वैत मत पर नहीं उठायी जा सकती हैं। पहले दूसरी आपत्ति को ही लें। क्षणिक विज्ञानों का ग्रहीता एवं ज्ञाता साक्षी स्वरूप चिदात्मा उन विज्ञानों से भिन्न है। क्षणिक विज्ञान तो वस्तुतः अन्तःकरण की विषयाकारित परिणतियाँ हैं। वे जड़ हैं। वास्तविक स्वयंप्रकाश एवं चिद्रूप तो साक्षिचैतन्य ही है। अस्तु, साक्षी और वृत्तिरूप क्षणिक विज्ञान दो दीपों के समान समस्वभाव न होकर विषम स्वभाव के हैं। एक चेतन है तो दूसरा जड़। अतः स्वभाव विषम होने से उनमें ग्राहक-ग्राह्य भाव की व्याख्या सर्वथा उपपन्न है। जहाँ तक अनवस्था दोष का प्रश्न है तो यह क्षणिक विज्ञानों का ग्रहीता एवं ज्ञाता साक्षी स्वरूप चिदात्मा स्वयंसिद्ध व स्वप्रकाश है। यह सही है कि अनित्य विज्ञानों को अपने ग्रहण के लिये साक्षिविज्ञान की अपेक्षा होती है। पर कूटस्थ चैतन्य स्वरूप यह साक्षी स्वयंसिद्ध है। इसको ज्ञात होने के लिए किसी अन्य चित्प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती।[15] स्वयंप्रकाश चैतन्य स्वरूप साक्षी शुद्ध द्रष्टा है। इसी के प्रकाश से यावत् वस्तुयें प्रकाशित होती हैं, पर यह स्वयं किसी अन्य से प्रकाशित नहीं होता है। यदि सकल जगत् का अवभासक यह साक्षिचैतन्य स्वयं भी अपने प्रकाशन के लिये किसी अन्य की अपेक्षा रखेगा तो इस जगत् में वस्तुतः कुछ भी प्रकाशित नहीं हो पायेगा तथा जगदान्ध्य प्रसङ्ग प्रसक्त होगा। और ऐसी स्थिति है भी नहीं। सबको अपने आत्मा की साक्षात् प्रतीति होती है। किसी को साक्षीस्वरूप आत्मा के सम्बन्ध में मैं हूँ या नहीं हूँ इस प्रकार का संशय अथवा मैं नहीं हूँ इस प्रकार का इसके अभाव का ज्ञान या विपर्यय

नहीं होता है।[16] अब यह बात सिद्ध करती है कि साक्षी नित्य साक्षात्कार तथा अनागन्तुक प्रकाश स्वरूप है। यह आत्मा वस्तुतः शाश्वत् अपरोक्ष है। अतः बौद्धों की यह आपत्ति कि विज्ञान का ग्रहण (अन्य साक्षी तत्त्व से) मानने पर उसके ज्ञान के लिये किसी अन्य की कल्पना करनी होगी तथा अनवस्था फलित होगी, वस्तुतः अनुचित है। साक्षीस्वरूप विज्ञानात्मा चूँकि शाश्वत् अपरोक्ष है, स्वयंप्रकाश है अतः उसे भला किसी अन्य से प्रकाशित होने की क्या जरूरत। वाचस्पति मिश्र भामती में कहते हैं कि साक्षी स्वरूप शुद्ध विज्ञाता अन्य वस्तुओं में संदेह करता हुआ भी स्वयं अपने विषय में असंदिग्ध रहता है, अन्य विषयों में विपर्य्यस्त रहते हुए भी स्वयं भ्रम का अविषय अथवा अविपर्य्यस्त रहता है, परोक्ष वस्तुओं का अनुमान करता हुआ भी स्वयं अपरोक्ष रहता है, अन्य वस्तुओं का स्मरण करता हुआ भी स्वयं अनुभवरूप रहता है, अब ये सब बातें अन्याधीन प्रकाश होने पर संभव ही नहीं हैं।[17] और अन्याधीन प्रकाश होने पर ही अनवस्था प्रसक्त होगी। अतः अद्वैत मत पर उपर्युक्त आपत्ति निराधार है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि क्षणिक विज्ञानों से न तो वस्तुज्ञान की व्याख्या हो पाती है और न ही इस ज्ञान के प्रति होने वाले अपरोक्षता की। अनित्य विज्ञानों को प्रकाशित करने वाले तत्त्व के रूप में एक नित्य कूटस्थ विज्ञानरूप साक्षी चैतन्य को मानना होगा जो न केवल वस्तुओं को प्रकाशित करता है अपितु उनके प्रत्ययों या विज्ञानों को भी। जब हमें घट-पटादि वस्तुओं का ज्ञान होता है तो हम अपने इस ज्ञान के बारे में असंदिग्ध रहते हैं क्योंकि ये विज्ञान सीधे साक्षिचैतन्य द्वारा भासित होते हैं। इस साक्षिचैतन्य के प्रकाश से न केवल घट, पटादि के विभिन्न विज्ञान जो कि वस्तुतः अन्तःकरण की वृत्तिविशेष हैं, वे प्रकाशित होते हैं अपितु इसी के प्रकाश से प्रकाशित होने के कारण क्षणिक वृत्तिज्ञान अपने-अपने विषयों को प्रकाशित करने में समर्थ होते हैं। अलग-अलग, अनेक, विच्छिन्न संवेदनों (क्षणिक विज्ञानों) के द्रष्टा के रूप में नित्य साक्षी चेतना को स्वीकार कर अद्वैती न केवल वस्तुज्ञान एवं उसके प्रति होने वाले अपरोक्षता के भाव की व्याख्या कर लेते हैं अपितु इससे सम्पूर्ण मानवीय अनुभव, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा तथा प्रतिसंधान की भी व्याख्या हो जाती है तथा साथ ही लौकिक एवं वैदिक व्यवहारों के लिये अपेक्षित निखिल भोग्य एवं प्रमेय विश्व तथा भोक्ता एवं प्रमाता जीव के सम्बन्ध में होने वाले स्थायीपन की भी व्याख्या हो जाती है। क्षणिक विज्ञानों से उपर्युक्त में से किसी की भी व्याख्या नहीं हो पाती है। उदाहरण के लिये स्मृति का तथ्य जैसा कि स्वयं बौद्ध स्वीकार करते हैं यह सिद्ध करता है कि अनुभूत का ही स्मरण होता है। अब इसके लिये यह आवश्यक हो जाता है कि कोई एक नित्य, स्थायी ज्ञाता हो जिसे पूर्वानुभूत का स्मरण

हो। 'सोऽहम्' यह प्रत्यभिज्ञा भी स्थायी आत्मा के बिना नहीं बन सकती। यहाँ बौद्धों का कहना है कि सादृश्य के कारण एकता की भ्रान्ति होती है। नदीप्रवाह और दीपशिखा में जैसे सादृश्य के कारण एकत्व बुद्धि होती है उसी तरह प्रत्यभिज्ञा के स्थलों में भी होता है। पर पूछा जा सकता है कि स्वयं सादृश्य का ग्रहण कैसे होता है ? वास्तव में अनेक कालवर्ती पूर्वोत्तर प्रत्ययों के दर्शी एक स्थायी चेतना को मानना आवश्यक हो जाता है। बिना इसके भिन्न-भिन्न अनुभवों—घटनाओं—वस्तुओं में सादृश्य भी नहीं देखा जा सकता। स्वयं बौद्धों का क्षणभङ्गवाद अपनी सिद्धि के लिये एक स्थायी साक्षी तत्त्व को पूर्वकल्पित करता है। भेद का ग्रहण अभेद से ही संभव है। क्षण का बोध स्थायी को ही हो सकता है।[18]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मानवीय ज्ञान एवं व्यवहार की व्याख्या के लिये एक नित्य कूटस्थ स्वयंप्रकाश चैतन्यरूप साक्षी तत्त्व को स्वीकार करना आवश्यक है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि न्याय, वैशेषिक, मीमांसा प्रभृति दूसरे दर्शन भी बौद्धों के क्षणिक विज्ञानवाद की आलोचना करते हुए नित्य स्थायी आत्मा की सत्ता को आवश्यक मानते हैं। पर यदि यह आत्मा चैतन्य स्वरूप और स्वयंप्रकाश नहीं है तथा ज्ञान या चेतना इसका स्वरूप न होकर गुण या धर्म मात्र है तो फिर ऐसा आत्मा उनके दर्शनों में वस्तुतः अनावश्यक कोटि-विस्तार मात्र है। यही नहीं, उपर्युक्त दर्शन यद्यपि बौद्ध सम्मत क्षणिक विज्ञानवाद का खंडन करने के लिये अत्यधिक आतुर दिखाई पड़ते हैं, पर वे स्वयं 'ज्ञान' के स्वरूप को ऐसा स्वीकार करते हैं जिसका बौद्ध दर्शन के 'ज्ञान' से कोई मौलिक अंतर नहीं रहता। जहाँ बौद्ध ज्ञान को एक क्षण रहने वाला मानते हैं वहाँ न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा उसे त्रि या चतुर्क्षणस्थायी मानते हैं। ज्ञान का स्वरूप दोनों में अनित्य या क्षणस्थायी ही रहता है। अब यहीं अद्वैतियों का इनसे वैमत्य है। हमारा सम्पूर्ण ज्ञानव्यवहार **नित्य चेतना** की अपेक्षा रखता है। चेतना अनित्य न होकर नित्य है। अलग-अलग अनेक क्षणिक, पारमाणविक संवेदनों के द्वारा मानवीय ज्ञान और व्यवहार की व्याख्या नहीं हो सकती, इसके लिये उसके आधार में नित्य कूटस्थ चेतना को मानना होगा। ज्ञानाधिकरण रूप नित्य और स्थायी आत्मा यह प्रयोजन पूरा नहीं कर सकता। आत्मा को चिद्रूप एवं स्वप्रकाश मानना होगा। चेतना को आत्मा का स्वरूप न मानकर उसका आगंतुक गुण मानने से **आत्मा** को मानने के पीछे का प्रयोजन ही पूरा नहीं हो पाता। इस तरह की आत्मा से न तो वस्तुज्ञान की ही व्याख्या हो पाती है और न उसके प्रति होने वाली नियत अपरोक्षता की। स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, प्रतिसंधान और व्यक्तित्व सातत्य का तो कहना ही क्या ? वास्तव में ज्ञान (चेतना) और आत्मा को गुण-गुणी 'मॉडल' पर नहीं समझा जा सकता। ऐसा मानने पर अंततः चेतना गौण और आत्मा अचेतन

होकर सामने आता है। पर चेतना स्वयं में मौलिक है, नित्य है। पारिभाषिक अर्थों में भले ही वह द्रव्य न हो पर उसे गुण या धर्म के रूप में समझना अतार्किक होगा। वास्तव में अद्वैतियों के सामने समस्या दोहरी है। एक तरफ जहाँ उन्हें बौद्धों के क्षणिक विज्ञानवाद का खंडन करना है वहीं न्याय-वैशेषिक-मीमांसा परम्परा में पोषित हो रहे छद्म आत्मवाद का।[19] न्याय-वैशेषिक-मीमांसा नित्य स्थायी आत्मा को तो स्वीकार करते हैं पर चेतना को उसका स्वरूप न मान गुण या धर्म के रूप में लेते हैं। इतना ही नहीं, आत्मा में आश्रित चेतना या ज्ञान को उत्पन्न विनाश धर्मा मान लेते हैं जो संयोग विशेष की अपेक्षा से आत्मा में उत्पन्न होता रहता है। जाहिर है ऐसी स्थिति में चेतना मौलिक न होकर गौण हो जाती है। फलतः आश्चर्य नहीं जब उपर्युक्त दर्शन यह कहते हैं कि उसे आश्रय रूप में अपने से पृथक् अन्य (आत्मा) की अपेक्षा रहती है। पर क्या सचमुच आत्मा और चेतना भिन्न-भिन्न है ? अद्वैतियों का कहना है कि सही स्थिति यह है कि चेतना ही आत्मा है। आत्मा, चेतना, ज्ञान, संवित्, अनुभव ये सब के सब एक-दूसरे के पर्याय हैं। चेतना या ज्ञान आत्मा का गुण न होकर उसका स्वरूप है। ज्ञान या चेतना से पृथक् उसके आश्रय के रूप में नित्य स्थायी आत्मा को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। चेतना स्वयं में मौलिक है, उसे अपने से पृथक् अपने आश्रय के रूप में किसी अन्य तत्त्व की अपेक्षा नहीं है। आत्मा चेतना से अलग कोई चीज नहीं है। आत्मा ही चेतना है, दोनों अभिन्न हैं। ज्ञान से पृथक् किसी ज्ञाता आत्मा को मानने की जरूरत नहीं है। ज्ञान और ज्ञाता में तादात्म्य है। जो द्रष्टा है वह दृष्टिस्वरूप ही है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है। वह नित्य कूटस्थ चेतना है। जिस तरह सूर्य और उसके प्रकाश में कोई अंतर नहीं होने पर भी सूर्य को प्रकाशक कहा जाता है और **सूर्य का प्रकाश** ऐसा भाषिक व्यवहार होता है, उसी प्रकार आत्मा ज्ञान या अनुभवस्वरूप होकर भी अनुभविता या ज्ञाता कहलाता है। वस्तुतः आत्मा और ज्ञान या संवित् में अभेद है। आत्मा ज्ञान स्वरूप है। अतः ज्ञान की स्वप्रकाशता का अर्थ अद्वैत में आत्मा की स्वयंप्रकाशता है।

यहाँ ज्ञान की स्वप्रकाशता के सम्बन्ध में प्राभाकर सम्बन्धी मत पर किंचित् चर्चा अनपेक्षित नहीं होगी। जैसा कि पीछे हम लोगों ने देखा कि प्राभाकर दार्शनिक भी ज्ञान को स्वप्रकाश मानते हैं।[20] ज्ञान एक क्षण के लिये भी अज्ञात नहीं रहता। वह ज्ञायमान ही उत्पन्न होता है। जिस प्रकार प्रदीप वस्तु को, स्वयं अपने आपको तथा अपने आधार को एक साथ प्रकाशित करता है उसी प्रकार ज्ञान वस्तु को, स्वयं अपने आपको तथा अपने आश्रयभूत ज्ञाता आत्मा को एक साथ प्रकाशित करता है। अर्थात् ज्ञान में ज्ञेयविषय, स्वयं ज्ञान तथा ज्ञाता इन तीनों का एक साथ प्रकाशन होता है, उपुर्यक्त कारण से ही प्राभाकर का मत त्रिपुटीभानवाद कहलाता है। प्राभाकर

मत की यह खासियत है कि सर्वप्रथम उसने इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को रेखांकित करने का प्रयास किया कि किसी वस्तु के ज्ञान का कोई अर्थ नहीं है यदि उस ज्ञान में स्वयं ज्ञान तथा ज्ञाता का प्रकाशन न हो। यहाँ यह ध्यातव्य है कि यद्यपि प्राभाकर दार्शनिक यह मानते हैं कि हर ज्ञान में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान तीनों का प्रकाशन होता है फिर भी ज्ञाता ज्ञाता रूप में ही, ज्ञेय ज्ञेय रूप में ही तथा ज्ञान ज्ञान रूप में ही प्रकाशित होता है। यह सही है कि ज्ञान स्वयं को प्रकाशित करता है, पर वह ज्ञानत्वेन ही प्रकाशित होता है, ज्ञेयत्वेन नहीं। प्रभाकर की बृहती में स्पष्ट उक्ति है–संवित्तयैव हि संवित् संवेद्या, न संवेद्यतया, नास्याः कर्मभावो विद्यते।[21] ज्ञान यद्यपि स्वप्रकाश है लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह स्वयं को अपना विषय या ज्ञेय बनाता है। ज्ञान किसी भी रूप में ज्ञेय नहीं है, न तो ज्ञानान्तर का और न स्वयं अपना ही। अतः जैसे न्याय-वैशेषिक प्रभृति का अनुव्यवसायवाद आदि दूषित है उसी तरह से बौद्धों का स्वसंवितूवाद। जाहिर है प्रभाकर के उपर्युक्त कथन में उस औपनिषदिक सिद्धान्त का अनुवाद प्राप्त होता है जिसमें जहाँ एक तरफ ज्ञान को अवेद्य बतलाया गया है वहीं उसे अपरोक्ष कहा गया है। अतः आश्चर्य नहीं होता है जब वाचस्पति मिश्र भामती में ज्ञान की स्वप्रकाशता का प्रतिपादन करते समय प्रभाकर के उपुर्यक्त कथन को अपने समर्थन में उद्धरित करते हैं।[22] एक अन्य दृष्टि से भी प्राभाकर मत विलक्षण है। प्राभाकर दार्शनिकों का मानना है कि किसी वस्तु के ज्ञान में न केवल वह वस्तु और वह ज्ञान अपितु ज्ञाता भी प्रकाशित होता। स्वप्रकाश ज्ञान जहाँ एक ओर विषय को ज्ञेय रूप में प्रकाशित करता है वहीं दूसरी ओर अपने आश्रय रूप में ज्ञाता आत्मा को भी प्रकाशित करता है। स्वप्रकाश ज्ञान का आश्रयभूत ज्ञाता आत्मा हर ज्ञान में आश्रयतया ज्ञाता रूप में भासित होता है। जब भी हमें किसी घटादि विषय का ज्ञान होता है तो यह ज्ञान सर्वदा 'मैं घट जान रहा हूँ' इस ढंग का होता है और इसमें मैं के रूप में ज्ञाता आत्मा का भासन होता है। आत्मा कभी भी ज्ञान का विषय नहीं बनता, और न तो उसका ग्रहण किसी अनुमान, प्रत्यक्ष आदि से ही होता है। वस्तुज्ञान के साथ ही उस ज्ञान के आश्रय रूप में आत्मा का ज्ञातृत्वेन प्रकाशन होता है। यदि ज्ञान में ज्ञाता ही प्रकाशित न हो तो वस्तुज्ञान का क्या अर्थ ? वह भला किसे प्रकाशित होगा ? अतः ज्ञान में न केवल वस्तु का अपितु स्वयं ज्ञान और ज्ञाता का भी प्रकाशन होता है। ऐसा कोई वस्तुज्ञान संभव नहीं है जिसमें वस्तु तो प्रकाशित हो पर ज्ञाता प्रकाशित न हो। ज्ञान के लिये सिर्फ ज्ञाता आत्मा का होना ही अनिवार्य नहीं है, अपितु उसका **प्रकाशित होना** भी अनिवार्य है। हर ज्ञान ज्ञाता की अपेक्षा रखता है। ज्ञान का अर्थ ही है किसी को ज्ञात होना। और यह 'किसी को ज्ञात होना' तब तक संभव नहीं है जब तक

ज्ञाता उस प्रक्रिया में प्रकाशित न हो। हर अनुभूति अपने अनुभविता आत्मा की अपेक्षा रखती है। ज्ञान गुण है और अपने आश्रय रूप में एक ज्ञाता आत्मा की सत्ता की अपेक्षा रखता है। पर ज्ञान होने के लिये आत्मा की सत्ता रूप में ही अपेक्षा नहीं होती है अपितु उसे उस प्रक्रिया में स्वयं भी प्रकाशित होना चाहिये। प्राभाकर दार्शनिकों की यह विलक्षणता है कि उन्होंने इस बात को सर्वप्रथम रेखांकित किया कि किसी वस्तु के ज्ञान होने का तब तक कोई मतलब नहीं जब तक कि वह ज्ञान स्वयं तथा उसका ज्ञाता भी प्रकाशित न हो। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि नैयायिक, भाट्ट मीमांसक प्रभृति भी ज्ञान के आश्रय के रूप में ज्ञाता आत्मा की सत्ता को स्वीकार करते हैं। पर वे ज्ञान की प्रक्रिया में इस ज्ञाता के प्रकाशन को स्वीकार नहीं करते हैं। लेकिन हम सहज समझ सकते हैं कि ज्ञान की प्रक्रिया में यदि ज्ञाता आत्मा स्वयं अप्रकाशित हो तो फिर ज्ञान के आश्रय के रूप में उसकी पूर्वपिक्षा का कोई अर्थ नहीं रहता और साथ ही उसके ज्ञातृत्व की भी व्याख्या नहीं हो पाती। यहाँ प्राभाकरों का मत न्यायादि की अपेक्षा अवश्य अधिक संगत है क्योंकि ज्ञान के लिये वे न केवल ज्ञाता के अस्तित्व को आवश्यक मानते हैं अपितु ज्ञान-प्रक्रिया में इसके प्रकाशन को स्वीकार करते हैं। फलतः इससे ज्ञान प्रक्रिया में आत्मा की भूमिका अधिक अच्छे ढंग से चित्रित होती है तथा साथ ही उसके ज्ञातृत्व की भी संगत व्याख्या हो जाती है।

अन्य दर्शनों की अपेक्षा अधिक सुसंगत होने पर भी स्वप्रकाशता सम्बन्धी प्राभाकर मत में अपनी अन्तर्निहित कमियाँ हैं। प्रभाकर ज्ञान को तो स्वप्रकाश मानते हैं पर आत्मा को नहीं। अब प्रभाकर के इस मत की अद्वैती जमकर आलोचना करते हैं। आनन्दबोध भट्टारक, चित्सुखाचार्य और विद्यारण्य प्रभृति ने प्राभाकर मत की बार-बार आलोचना की है। विद्यारण्य ने विस्तार से विवरणप्रमेयसंग्रह में प्राभाकर के पूर्वपक्ष को रखते हुए अद्वैत मत की प्रस्थापना की है।[23] प्राभाकर दार्शनिकों का कहना है कि यदि आत्मा एवं ज्ञान में ज्ञान को ही स्वप्रकाश मानने से काम चल जाता है तो फिर आत्मा को भी स्वप्रकाश मानने की क्या आवश्यकता ? इससे तो अनावश्यक गौरव होगा। फिर यदि आत्मा को भी स्वप्रकाश माना जाए तो हमें सुषुप्ति में भी उसके ज्ञान को मानना होगा, जो कि नहीं होता। सुषुप्ति में चूँकि किसी तरह का ज्ञान नहीं रहता अतः आत्मा अप्रकाशित रहता है। अस्तु, आत्मा स्वप्रकाश नहीं है। स्वप्रकाश ज्ञान एक साथ ही विषय को ज्ञेयत्वेन और आत्मा को आश्रयत्वेन प्रकाशित करता है। आत्मा संवित् आश्रयत्वेन अपरोक्ष है। हमें जब भी किसी वस्तु का ज्ञान होता है तो उसका आकार अयं घटः, अयं पटः इस ढंग का न होकर अहं घटं जानामि, अहं पटं जानामि इस ढंग का होता है और इस ज्ञान में आत्मा का ज्ञान अहं के रूप

में होता है। 'मैं जानता हूँ' में मैं रूप में भासित होने वाला आत्मा ही है। आत्मा अहंकारास्पद है। अद्वैत दार्शनिकों का कहना है कि प्राभाकरों की यह गलत समझ है कि (वे समझते हैं) कि ज्ञान स्वप्रकाश है, आत्मा नहीं। आत्मा कोई जड़ वस्तु नहीं है जिसे प्रकाशित होने के लिये किसी अन्य की आवश्यकता होगी। यदि आत्मा भी ज्ञेय विषय के समान प्रकाशित होने लगे तब तो वह अनात्मा हो जाएगा। यहाँ प्राभाकर कह सकते हैं कि वे आत्मा का प्रकाशन विषयत्वेन नहीं मानते हैं, वे तो उसका प्रकाशन सर्वदा ज्ञानाश्रयत्वेन ही मानते हैं। पर आत्मा की ज्ञानाश्रय तत्त्व के रूप में अभिकल्पना उसके विषय बनने की तार्किक संभावना को समाप्त नहीं कर पाती। फिर आश्रय भला स्वाश्रित पर कैसे आश्रित हो सकता ? प्राभाकर मत में जो सबसे आलोचनीय विषय है वह यह कि वे आत्मा को 'अहम्' समझ बैठते हैं। 'मैं घट जानता हूँ' इस तरह होने वाले ज्ञान में मैं के रूप में भासित होने वाला आत्मा नहीं है। 'मैं' के रूप में भासित होने वाला वस्तुतः अहंकार है, इन्द्रियानुभविक आत्मा है। प्राभाकर गलत समझते हैं कि प्रमाता 'मैं' ही आत्मा है और आत्मा 'मैं' के रूप में हर ज्ञान में प्रमातृत्वेन प्रकाशित होता है। वास्तव में शुद्ध आत्मा तो प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण इन तीनों की त्रिपुटी से परे है। उसी के प्रकाश से प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण ये तीनों प्रकाशित होते हैं। प्राभाकरों का त्रिपुटीभा[illegible]वाद एक दृष्टि से सर्वथा उपयुक्त ज्ञानमीमांसा है। उनका यह कहना सही ही है कि हर ज्ञान में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का सम्पूर्ण संकुल प्रकाशित होता है। पर वे यह समझने में असफल रहे कि इस संकुल को प्रकाशित करने वाला संवित् भला उत्पन्न विनाश धर्मा, क्षणस्थायी अपने से भिन्न किसी अन्य स्थायी तत्त्व (आत्मा) में संयोगादि की अपेक्षा से उत्पन्न होने वाला या आश्रित होने वाला आगंतुक गुण कैसे हो सकता है ? वे यह भी समझने में असफल रहे कि यदि आत्मा चैतन्य स्वरूप नहीं है तो फिर ऐसे आत्मा को स्वीकार करने से क्या लाभ ? वास्तव में प्राभाकर दार्शनिक भी न्याय, वैशेषिक और भाट्ट-मीमांसा की तरह आत्मा एवं ज्ञान के स्वरूप को समझने में अक्षम रहे। यह सही है कि उन्होंने ज्ञान को स्वप्रकाश माना तथा ज्ञान एवं आत्मा के किसी भी ढंग से विषयत्वेन ग्रहण को अनावश्यक एवं असंभव माना और इन दोनों की अपरोक्षता की अपेक्षाकृत अधिक संगत व्याख्या दी। पर ऐसा करने के बावजूद वे अपनी अनुभवमीमांसा के तार्किक उपागमों तक नहीं पहुंच सके। देखा जाए तो प्राभाकर मत की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि वे मानते हैं कि आत्मा और संवित् या ज्ञान अलग-अलग चीज हैं। इसीलिये वे यह मान बैठते हैं कि ज्ञान तो स्वप्रकाश है और आत्मा ऐसा नहीं है। पर जैसा कि पीछे हम लोगों ने देखा था, आत्मा और संवित् में अभेद है। आत्मा ज्ञान स्वरूप है। ज्ञान उसका आगन्तुक गुण नहीं है,

उसका स्वरूप है। अतः जैसे ज्ञान स्वप्रकाश है वैसे ही ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वप्रकाश है। ये दोनों दो चीजें नहीं हैं जिससे यह माना जाएगा कि दो स्वप्रकाश तत्त्व हैं। वास्तव में आत्मा स्वप्रकाश है। ज्ञान या चैतन्य उसका स्वरूप है।

संदर्भ और टिप्पणी

1. चित्सुखाचार्य, तत्त्वप्रदीपिका, सं. स्वामी योगीन्द्रानन्द, षड्दर्शनप्रकाशनप्रतिष्ठान, उदासीन संस्कृत महाविद्यालय, काशी, 1985, पृ. 29-30.
   साथ ही देखें,
   विज्ञानं तावत् स्वप्रकाशं स्वत एव सिद्धस्वरूपम्। न खलु विज्ञाने सति जिज्ञासोरपि कस्यचित् जानामि न वेति संशयः, न जानामीति वा विपर्ययः, व्यतिरेकप्रमा वा।
   श्रीहर्ष, खण्डनखण्डखाद्य, सं. स्वामीयोगीन्द्रानन्द, षड्दर्शनप्रकाशनप्रतिष्ठान, उदासीन संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी, 1979, पृ. 41.
2. अनुभूतेरनुभाव्यत्वेऽनवस्थापातात्।
   चित्सुखाचार्य, तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 28.
3. वस्तुतः नैयायिक ऐसा कह नहीं सकता है क्योंकि प्रमेयसिद्धि प्रमाणाद्धि उसकी मूल दार्शनिक मान्यताओं में से एक है।
4. किञ्च चक्षुरादिवदप्रकाशमानस्यैव ज्ञानस्य स्वातिरिक्तज्ञानजननेनार्थव्यवहारहेतुत्वाभावात् जडानां च स्वतः परस्परतो वा प्रकाशमानत्वायोगात् ज्ञानमपि न प्रकाशते चेत्, किमपि न प्रकाशेतेति जगदान्ध्यप्रसङ्ग इति...।
   चित्सुखाचार्य, तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 32.
5. चित्सुखाचार्य, तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 30.
6. चित्सुखाचार्य, तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 32.
7. अन्यथानुव्यवसायेन व्यवसायस्य स्वविशेषितवेद्यत्वग्रहणे विशेषणतया स्वस्यापि स्वेन वेद्यत्वापातात् सौगतमतानुमतिप्रसङ्गः।
   चित्सुखाचार्य, तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 32-33.
8. देखें, इस पुस्तक का तृतीय अध्याय।
9. तत्रापि ज्ञेयत्वमभ्युपगम्यते ज्ञानस्य स्वेनैवेति चेत्। न, भेदस्य सिद्धत्वात्। सिद्धं हि... ज्ञेयज्ञानयोः अन्यत्वम्। न हि तत्सिद्धं मृतमिवोज्जीवयितुं पुनरन्यथा कर्तुं शक्यते वैनाशिकशतैरपि।
   शंकराचार्य, प्रश्नोपनिषद् भाष्य, 6/2.
10. देखें, शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य, 2/2/28.
11. प्रदीपवद्विज्ञानमवभासकान्तरनिरपेक्षं स्वयमेव प्रथत इति ब्रुवताऽप्रमाणगम्यं विज्ञानमनवगन्तृकमित्युक्तं स्यात्, शिलाघनमध्यस्थप्रदीपसहस्रप्रथनवत्।
    शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य, 2/2/28.
12. शंकराचार्य, बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य, 4/3/7.
13. चैतन्यग्राह्यत्वं च विज्ञानस्य बाह्यविषयैरविशिष्टम्।
    शंकराचार्य, बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य, 4/3/7.

14. देखें, शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य, 2/2/28.
और
शंकराचार्य, बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य, 4/3/7.
15. विज्ञानग्रहणमात्र एवं विज्ञानसाक्षिणो ग्रहणाकांक्षानुत्पादादनवस्थाशङ्कानुपपत्तेः, साक्षिप्रत्यययोश्च स्वभाववैषम्यादुपलब्धुपलभ्यभावोपपत्तेः, स्वयंसिद्धस्य च साक्षिणोऽप्रत्याख्येयत्वात्। शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य, 2/2/28.
16. सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति। यदि हि नात्मास्तित्वप्रसिद्धिः स्यात् सर्वो लोको नाहमस्मीति प्रतीयात्।
शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य, 1/1/1.
17. प्रमाता सन्दिहानोऽप्यसन्दिग्धो विपर्यस्यन्नप्यविपरीतः परोक्षमर्थमुत्प्रेक्षमानोऽप्यपरोक्षः स्मरन्नप्यानुभविकः प्राणभृन्मात्रस्य, न चैतदन्याधीनसंवेदनत्वे घटते।
वाचस्पति मिश्र, भामती, 2/2/28.
सत्यमप्रत्यक्षस्योपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिघ्यति न तूपलब्धारं प्रति तत्प्रत्यक्षत्वायोपलम्भान्तरं प्रार्थनीयम्।
वाचस्पति मिश्र, भामती, 2/2/28.
न च प्रमातरि कूटस्थनित्यचैतन्ये प्रमापेक्षासम्भवो यतः प्रमातुः प्रमायाः प्रमात्रन्तरापेक्षायामनवस्था भवेत्।
वाचस्पति मिश्र, भामती, 2/2/28.
18. आनन्द मिश्र, **अद्वैत वेदान्त में साक्षी,** परामर्श, खण्ड 22, अंक 3, जून-अगस्त 2001.
19. देखें, वही।
20. देखें, इसी पुस्तक का सप्तम अध्याय।
21. प्रभाकर, बृहती, पृ. 82.
22. वाचस्पति मिश्र, भामती, 2/2/28.
23. विद्यारण्य मुनि, विवरणप्रमेयसंग्रह, अनु. श्री ललिता प्रसाद, अमर पब्लिकेशन्स, वाराणसी, 1999, पृ. 185-202.

❐

9

अद्वैत वेदान्त में आन्तर प्रत्यक्ष और ज्ञानादि के ग्रहण की समस्या

पिछले अध्यायों में हमने 'ज्ञान के ग्रहण' की समस्या को लेकर प्रस्तुत होने वाले विभिन्न भारतीय दर्शनों के मतों की विस्तार से अन्वीक्षा की। हम लोग इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सभी भारतीय दार्शनिक इस तथ्य की गंभीरता को समझते हैं कि ज्ञानात्मक व्यवहार के निर्वहन के लिये ज्ञान के ग्रहण की पूर्वापेक्षा किसी न किसी रूप में अपेक्षित होती है। हाँ, यह ज्ञान का ग्रहण कैसे होता है, इसको लेकर इन दर्शनों में मतभेद हो सकता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन के लिये ज्ञान, सुख-दुःख-इच्छा आदि के समान आत्मा का विशेष गुण है। सुख, दुःखादि अन्य गुणों के समान ही ज्ञान का नैयायिक मानस प्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं। अद्वैतियों के लिये ज्ञान या दूसरे सुख, दुःख, इच्छा आदि जिन्हें नैयायिक आत्मा का गुण मानते हैं, आत्मा का गुण न होकर मन का धर्म है। सुख, दुःख, इच्छा या ज्ञान वस्तुतः मन या अन्तःकरण के धर्म हैं, उसकी भावदशायें हैं, परिणतियाँ हैं। अब इन सुख, दुःख, इच्छा या ज्ञानादि जो कि अन्तःकरण के धर्म हैं, उनके **सर्वप्रसिद्ध प्रत्यक्षत्व** की व्याख्या अद्वैती कैसे करते हैं, यह महत्त्वपूर्ण है। यहाँ ध्यातव्य है कि अद्वैती भी ज्ञान को (जाहिर है घट, पटादि के उत्पन्न-विनाश धर्मा वृत्ति-ज्ञान को) सुख, दुःख, इच्छा आदि के समान ही प्रत्यक्ष का विषय स्वीकार करते हैं। बौद्धों का खण्डन करते हुए शंकराचार्य ब्रह्मसूत्र तथा उपनिषद् आदि के भाष्यों में अनेकशः इस बात को प्रतिपादित करते हैं कि क्षणिक विज्ञानों का द्रष्टा एक साक्षी स्वरूप चैतन्यात्मा है जिसके लिये घट-पटादि की क्षणिक बुद्धिवृत्तियाँ उसी तरह ज्ञान का विषय हैं जिस तरह घट, पटादि जड़ वस्तु। 'अहं घटज्ञानवान् अस्मि' में घट के ज्ञान का प्रत्यक्षत्व सर्वप्रसिद्ध तथ्य है। ज्ञान या दूसरे सुख, दुःख, इच्छा आदि अन्तःकरण के धर्मों के प्रत्यक्षत्व की उपपत्ति अद्वैतियों के लिये इसलिये समस्याप्रद है कि स्वयं मन द्वारा मन के धर्मों के प्रत्यक्षत्व को स्वीकार नहीं किया जा सकता है क्योंकि इससे कर्तृ-कर्म विरोध प्रसक्त होता

है। फिर, अद्वैतियों के अनुसार किसी विषय के ज्ञान के लिये उस विषय के आकार में अन्तःकरण का परिणत होना अनिवार्य होता है, अब जब स्वयं अन्तःकरण और उसके धर्म सुख, दुःख इच्छा या ज्ञानादि के प्रत्यक्ष की बात होती है तो वहाँ यह समस्या खड़ी हो उठती है कि क्या इनके ग्रहण के लिये भी तदाकार अन्तःकरण वृत्ति की आवश्यकता होगी। यदि ऐसा माना जाए तो यह अन्तःकरण का स्वयं अपने को ही लेकर आकारित होना होगा और जाहिर है उसमें कर्तृकर्म विरोध और चक्रक दोष होगा। अस्तु, सुख, दुःख, इच्छा, ज्ञानादि अन्तःकरण के धर्मों तथा स्वयं अन्तःकरण के प्रत्यक्षत्व की समस्या अद्वैत मत में एक जटिल समस्या के रूप में सामने आती है। हम आगे के पृष्ठों में अन्तःकरण और उसके धर्मों के प्रत्यक्षत्व की व्याख्या के क्रम में यह देखने की चेष्टा करेंगे कि अद्वैती सुख, दुःख, इच्छा, ज्ञानादि मन के धर्मों के 'आन्तर प्रत्यक्ष' की समस्या को कैसे सुलझाते हैं। उपरोक्त क्रम में सर्वप्रथम यह देखना आवश्यक होगा कि अद्वैतियों के अनुसार प्रत्यक्ष क्या है ? अद्वैत वेदान्त में प्रत्यक्ष का अर्थ चेतना से है—प्रत्यक्षप्रमा चात्र चैतन्यमेव[1]। साक्षात् अपरोक्ष चैतन्य (ब्रह्म) ही वस्तुतः प्रत्यक्ष है—यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म।[2] यह चेतना का स्वभाव है कि वह स्वयंप्रकाश होता है, साक्षात् अपरोक्ष होता है। भामतीकार का कहना है कि चेतना का अर्थ ही स्वयंप्रकाश होने से है—स्वयंप्रकाशत्वं चित्त्वम।[3] स्वयंप्रकाश होने के नाते चैतन्य मात्र अपरोक्ष है। अब अद्वैतियों के अनुसार चेतना ही ज्ञान है, अतः जाहिर है वह भी स्वप्रकाश है और चूँकि ज्ञान मात्र स्वप्रकाश है अतः प्रत्येक ज्ञान चाहे वह भ्रम हो या प्रमा, परोक्ष हो या अपरोक्ष स्वयंप्रकाश होने के कारण प्रत्यक्ष है। वस्तुतः ज्ञान होना—ज्ञानत्व (चित्त्व) ही प्रत्यक्ष का लक्षण है। इसीलिये धर्मराजाध्वरीन्द्र वेदान्तपरिभाषा में कहते हैं कि किसी ज्ञान के प्रत्यक्ष होने का निमित्त वस्तुतः यही है कि वह ज्ञान है—ज्ञप्तिगत प्रत्यक्षत्वस्य सामान्यलक्षणं चित्त्वमेव।[4] अब चूँकि यह ज्ञानत्व ज्ञानमात्र में रहता है, अतः ज्ञानांश में सभी ज्ञान प्रत्यक्ष हैं।

ज्ञानत्वेन या ज्ञानांश में सभी ज्ञानों के प्रत्यक्ष होने के बावजूद अनुमिति, उपमिति या अर्थापत्ति आदि परोक्ष ज्ञान भेदों से प्रत्यक्ष का भेद स्पष्ट ही है। प्रश्न है उसके इस भेद का निमित्त क्या है ? इसके उत्तर में वेदान्तियों का कहना है कि स्वांश में प्रत्यक्षात्मक होने पर भी जिस ज्ञान का विषय अथवा करण भी प्रत्यक्षात्मक हो वही प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है, विषय परोक्ष अग्नि आदि हो या करण व्याप्तिज्ञान आदि तो ज्ञान भी अनुमिति आदि कहलाएगा। दूसरे शब्दों में ज्ञान में स्वरूपभेद का नियामक अर्थात् उसमें प्रत्यक्षत्व, अनुमितित्व आदि विशेषता लाने वाला हेतुक उसका 'विषय' अथवा 'करण' है। यहाँ यह बताना समीचिन होगा कि आचार्यों में इस बात को लेकर भी दो समानान्तर मत खड़े हुए कि ज्ञान के 'विषय' तथा 'करण'

में कौन अधिक प्रधान है जिसके कारण ज्ञान में स्वरूप भेद का नियामन होता है तथा उसमें प्रत्यक्षत्व, अनुमितित्व आदि विशेषता आती है। जहाँ विवरण प्रस्थान की धारा इस सम्बन्ध में 'विषय' को प्रधानता देती है, भामती प्रस्थान की धारा 'करण' को। इन दोनों धाराओं के इस मतभेद का उल्लेख करते हुए वेदान्तपरिभाषाकार कहते हैं–"ज्ञान का प्रत्यक्षत्व करणगत विशेष पर अवलम्बित न हो प्रमेयगत विशेष पर आधारित है–ऐसा एक मत में प्रतिपादित किया गया है। दूसरे मत का यह आशय है कि ज्ञान का प्रत्यक्षत्व करणगत विशेष पर अवलम्बित होता है, विषयविशेष पर नहीं।"[5] विवरण सम्प्रदायानुयायी इस बात पर जोर देते हैं कि प्रत्यक्ष में विषय के स्वरूप का भान अन्य ज्ञानों में होने वाले विषय प्रकाशन से भिन्न होता है। विषय ही ज्ञान के प्रकार भेद का निर्धारक होता है। दूसरी ओर भामती प्रस्थान का मानना है कि स्वांश में प्रत्यक्षात्मक होती हुयी भी कोई प्रमा विशेष रूप से प्रत्यक्ष तभी कहलाती है जब उसका करण प्रत्यक्ष प्रमाण हो। उपर्युक्त साम्प्रदायिक मतभेद के परिपार्श्व में यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि क्यों धर्मराजाध्वरीन्द्र वेदान्तपरिभाषा में प्रत्यक्षत्व के प्रयोजक का निर्धारण करते समय ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व और विषयगत प्रत्यक्षत्व के प्रयोजक का अलग-अलग निर्धारण करते हैं। कोई ज्ञान कब प्रत्यक्ष कहलाता है और कोई विषय कब प्रत्यक्ष कहलाता है, इन दो प्रश्नों को अलग-अलग उठाकर धर्मराज वस्तुतः पूर्व आचार्यों द्वारा उठाये गये 'करण' व 'विषय' सम्बन्धी विवाद को तार्किक सहमति प्रदान करने की चेष्टा करते हैं। हालाँकि धर्मराजाध्वरीन्द्र की इस चेष्टा में साम्प्रदायिक आचार्यों के प्रति श्रद्धा का भाव अधिक है तर्क कम, क्योंकि 'कोई विषय कब प्रत्यक्ष कहलायेगा' और 'ज्ञान कब प्रत्यक्ष कहलायेगा' ये दोनों प्रश्न आपस में इतने जुड़े हुए और अन्योन्याश्रित हैं कि इनके सम्मिलित उत्तर की तलाश अधिक तार्किक होती और उसी में लाघव भी होता।

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया, धर्मराजाध्वरीन्द्र ने वेदान्तपरिभाषा में प्रत्यक्षत्व के प्रयोजक का निर्धारण करते हुए ज्ञानगत और विषयगत प्रत्यक्षत्व के प्रयोजक का अलग-अलग निरूपण किया है। 'कोई ज्ञान कब प्रत्यक्षात्मक होता है' और 'कोई विषय कब प्रत्यक्षात्क होता है' इन दोनों प्रश्नों का अलग-अलग निरूपण करते हुए धर्मराजाध्वरीन्द्र कहते हैं कि प्रमाणचैतन्य का विषयचैतन्य से अभेद जहाँ ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है वहीं प्रमातृचैतन्य का विषयचैतन्य से अभेद विषयगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है। उपर्युक्त लक्षणों को समझने के लिये यह समझना आवश्यक होगा कि अद्वैत मत में एकमात्र अद्वितीय निरवच्छिन्न चैतन्य मात्र की ही वास्तविक सत्ता है। वही चैतन्य अन्तःकरण से अवच्छिन्न होकर प्रमातृचैतन्य, घट, पटादि विषय से अवच्छिन्न होकर विषयचैतन्य तथा अन्तःकरण

की वृत्ति से अवच्छिन्न होकर प्रमाणचैतन्य कहलाता है। तत्त्वतः सारे उपाधियों से विनिर्मुक्त होता हुआ भी वह निरवच्छिन्न चैतन्य व्यवहार में इन त्रिविध चैतन्य के रूप में सामने आता है। वस्तुतः सारा प्रमाण प्रमेय व्यवहार चैतन्य के इन त्रिविध भेद को लेकर ही संभव होता है। अब जब इन तीन प्रकार के चैतन्यों में प्रमाणचैतन्य का विषयचैतन्य से अभेद हो तो उसे ज्ञानगत प्रत्यक्ष कहते हैं।[6] अर्थात् कोई ज्ञान तब प्रत्यक्षात्मक होता है जब प्रमाणचैतन्य यानि कि वृत्तिअवच्छिन्नचैतन्य विषयावच्छिन्न चैतन्यात्मक होता है। दूसरे शब्दों में वृत्ति अवच्छिन्न चैतन्य का विषयावच्छिन्न चैतन्य से अभेद ही ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का नियामक है। यहाँ सहज ही यह प्रश्न उठता है कि वृत्ति अवच्छिन्न चैतन्य का विषयावच्छिन्न चैतन्य से अभेद कैसे घटित होता है। अद्वैतियों का कहना है कि यह अभेद घटित होता है अन्तःकरण की बहिर्गत वृत्ति द्वारा। जैसे सरोवर का जल किसी नाली द्वारा निकलकर क्यारी तक जाकर क्यारी का आकार धारण कर लेता है, उसी तरह तैजस अन्तःकरण इन्द्रिय द्वारा निकलकर घट आदि विषयपर्यन्त जाकर तद्‌तद् विषय के आकार में परिणत हो जाता है। अन्तःकरण की यह विषयाकारा परिणति वृत्ति कहलाती है।[7] यहाँ यह ध्यातव्य है कि अद्वैतियों के अनुसार अन्तःकरण के सादि-सावयव होने के कारण उसके परिणामी होने में कोई दिक्कत नहीं आती। अब अन्तःकरण के विषयस्थल तक जाकर उसके आकार में परिणत हो जाने से अन्तःकरण की इस परिणति अर्थात् वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य विषयावच्छिन्न चैतन्य से अभिन्न हो जाता है ठीक वैसे ही जैसे क्यारी में पहले से स्थित जल नाली द्वारा लाए गए जल से एक हो जाता है क्योंकि उनको आकार देने वाली क्यारी एक है। उपाधि या अवच्छेदकों के अंतर से पृथक्-पृथक् कहे जाने वाले चैतन्य उपाधियों के एकदेशस्थ होने से अभिन्न हो जाते हैं। तत्त्वतः देखा जाए तो अभिन्न तो वे सदा हैं ही, उक्त स्थिति में वे व्यावहारिक रूप से भी अभिन्न हो जाते हैं। अब जिस प्रमाकरण द्वारा ऐसी स्थिति बनती है उसे ही प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं और वृत्ति व विषय की ऐसी स्थिति से होने वाली ज्ञप्ति ही प्रत्यक्षप्रमा है। यह स्थिति तभी बनती है जब अन्तःकरण वृत्ति इन्द्रियद्वार से बाहर निकल कर विषय स्थल तक जाकर उसे व्याप्त कर लेती है। अनुमिति आदि प्रत्यक्षेतर प्रमाओं में वृत्ति विषयस्थल तक नहीं जाती, परिणामतः वृत्ति व विषय से अवच्छिन्न चैतन्य एक नहीं हो पाता। 'यह घट है' इस प्रकार के ज्ञान की स्थिति में घट ज्ञान में प्रत्यक्षत्व होता है क्योंकि घटाकारवृत्ति के घट संयुक्त होने से घट से अवच्छिन्न चैतन्य और वृत्ति अवच्छिन्न चैतन्य में अभेद प्राप्त होता है। इसी प्रकार 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकार के सुखादि अन्तःकरण के धर्मों के ज्ञान में भी प्रत्यक्षत्व होता है क्योंकि वहाँ सुखादि से अवच्छिन्न चैतन्य और उनके आकार

वाली वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्यों में उनके नियत रूप से एकदेशस्थ उपाधिद्वय से अवच्छिन्न होने के कारण अभिन्नता होती है।[8]

जैसा कि पीछे संकेत किया गया है अद्वैतियों के अनुसार किसी विषय के प्रत्यक्ष होने का अर्थ है विषयचैतन्य का प्रमातृचैतन्य से अभेद। धर्मराजाध्वरीन्द्र वेदान्तपरिभाषा में कहते हैं कि प्रमाता के साथ विषय की अभिन्नता ही उसका प्रत्यक्षत्व है—विषयस्य प्रत्यक्षत्वन्तु प्रमात्रभिन्नत्वम्।[9] विषय की प्रमाता से अभिन्नता का अर्थ प्रमाता से उसका एकत्व न होकर प्रमाता की सत्ता से अतिरिक्त उसकी (विषय की) सत्ता का न रहना ही है—प्रमात्रभेदो नाम न तदैक्यम्, किन्तु प्रमातृसत्ताऽतिरिक्तसत्ताकत्वाभावः।[10] अब प्रश्न उठता है कि प्रमातृसत्ताऽतिरिक्त सत्ताकत्वाभाव रूप विषय का प्रमाता से जो अभेद है और जिसे अद्वैती विषयगत प्रत्यक्ष कहते हैं, वह कैसे घटित होता है ? इसके उत्तर में अद्वैतियों का कहना है कि विषयस्थल पर जाकर उसको व्याप्त करने वाली अन्तःकरण की वृत्ति द्वारा विषय का प्रमाता से अभेद स्थापित होता है। तैजस अन्तःकरण चक्षु आदि इन्द्रिय द्वार से निकलकर विषयस्थल तक जाकर उसी के आकार में परिणत हो जाता है। वृत्ति रूप में अन्तःकरण के विषयस्थल पर आ जाने से वृत्ति, अन्तःकरण तथा विषय ये तीनों एकदेशस्थ हो जाते हैं और जैसा कि हमने अभी देखा था कि एकदेशस्थ उपाधियाँ उपधेयों में भेद नहीं पैदा करती, अतः उपाधिथों के एकत्र स्थित होने से उन उन से अवच्छिन्न चैतन्य भी अभिन्न हो जाते हैं। वृत्ति उपाधिकृत भेद को दूर कर प्रमातृचैतन्य और विषयचैतन्य को अभिन्न कर देती है। अब चूँकि प्रमातृचैतन्य विषयचैतन्य से अभिन्न है अतः विषयचैतन्य पर अध्यस्त घट, पटादि विषय स्वयं प्रमातृचैतन्य पर अध्यस्त हो जाते हैं और उनकी सत्ता प्रमातृचैतन्य की सत्ता से पृथक् नहीं रह जाती क्योंकि 'सिद्धान्त' में अधिष्ठान की सत्ता से अतिरिक्त आरोपित की सत्ता नहीं रहती।[11] और इस प्रकार घट, पटादि विषयों की प्रमाता से पृथक् सत्ता न रह जाने से उनको प्रत्यक्षत्व प्राप्त होता है।

प्रत्यक्ष सम्बन्धी उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि अद्वैतियों के अनुसार 'प्रत्यक्ष' के लिये जो चीज सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और अपरिहार्य है वह है अन्तःकरणवृत्ति का चक्षुरादि इन्द्रिय द्वारों से निकलकर विषयस्थल तक जाकर उसको व्याप्त कर लेना। ऐसा करने से विषयावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य और अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य एक हो जाते हैं। फलतः अधिष्ठानभूत ब्रह्मचैतन्य के लिये प्रकट अध्यस्त घट, पटादि विषय अब प्रमातृ चैतन्य पर अध्यस्त हो जाने से उसके लिये भी प्रकट हो उठते हैं। यहाँ ध्यातव्य है कि अनुमिति आदि परोक्ष ज्ञानों में चूँकि अन्तःकरणवृत्ति विषयदेश तक नहीं जाती अतः वहाँ विषयावच्छिन्न चैतन्य का प्रमातृचैतन्य से अभेद

नहीं हो पाता और फलतः वह्नि आदि विषय प्रत्यक्ष नहीं हो पाते हैं।

यहाँ ध्यातव्य है कि बाह्य विषयों के प्रत्यक्ष में तो अन्तःकरण का इन्द्रियद्वारों से निकलकर विषयदेश तक जाकर उसके आकार में आकारित होना संभव हो जाता है पर जब हम आंतरिक प्रत्यक्ष की बात करते हैं अर्थात् स्वयं अन्तःकरण तथा उसके धर्म सुख, दुःख, इच्छा आदि या घटाकार पटाकार वृत्ति ज्ञान के प्रत्यक्षत्व की बात करते हैं तो समस्या खड़ी हो उठती है। समस्या इस रूप में सामने आती है कि सुख, दुःख, इच्छा, ज्ञानादि स्वयं वृत्तिरूप हैं, अन्तःकरण के परिणाम हैं अतः प्रश्न खड़ा हो उठता है कि सुख, दुःख इच्छा या ज्ञानरूप अन्तःकरण की जो ये वृत्तियाँ हैं क्या इनके भी प्रत्यक्ष होने के लिये यह आवश्यक है कि इन वृत्तियों को आकारित करने वाली वृत्त्याकार वृत्त्यन्तर हो। पीछे हम लोग देख चुके हैं कि किस तरह अद्वैती नैयायिकों के अनुव्यवसायवाद का खंडन करते हुए कहते हैं कि वृत्तिरूप अनुभव को अनुभूत होने के लिये अनुभवान्तर की अपेक्षा नहीं होती। यदि वृत्ति को गृहीत होने के लिये वृत्त्यन्तर की कल्पना की जाए तब तो फिर उस दूसरी वृत्ति के लिये भी तीसरे की और उसके लिये चौथे की आवश्यकता होगी और इस तरह अनवस्था दुर्निवार होगी। यहाँ यह कहा जा सकता है कि वृत्ति के प्रत्यक्ष के लिये वृत्त्याकार दूसरी वृत्ति मानने पर अनवस्था का संकट खड़ा हो जाता है, पर वृत्ति के ग्रहण के लिये अन्य वृत्ति को मानने की अनिवार्यता ही क्यों ? वस्तुतः यह वृत्ति के स्वभाव का वैचित्र्य है कि जहाँ घटादि बाह्य विषयों को प्रत्यक्ष होने के लिये तदाकार वृत्ति की अपेक्षा होती है, स्वयं वृत्ति के ग्रहण के लिये वृत्त्यन्तर की आवश्यकता नहीं होती, यह स्वयं अपने को अपना विषय बनाती है। अर्थात् जहाँ वृत्ति एक ओर घट, पटादि विषयों को अपना विषय बनाती है वहीं वह स्वविषयक भी होती है। विषयाकार के साथ वृत्ति स्वाकार भी होती है। स्वाकार युक्त होने से वृत्ति को प्रत्यक्ष होने के लिये वृत्त्यन्तर की आवश्यकता नहीं होती है और न ही इसका यह मतलब निकलता है कि वह बिना वृत्ति के प्रत्यक्ष होती है। वेदान्तपरिभाषाकार ने वेदान्तपरिभाषा में 'अहं घटं जानामि' ऐसे स्थल पर होने वाले घटाकार वृत्ति के प्रत्यक्षत्व की उपर्युक्त ढंग से ही व्याख्या की है और वृत्ति को स्वविषया माना है।[12] यहाँ स्वविषया वृत्ति की उपर्युक्त धारणा सहज ही बौद्ध विज्ञानवादियों का स्मरण दिलाती है जो विज्ञान को अर्थाकार और स्वाकार से युक्त मानते हैं। पर वृत्ति को स्वविषया मानकर धर्मराजाध्वरीन्द्र बौद्धों के समान ही यह भूल जाते हैं कि वृत्ति भला स्वयं अपने को कैसे विषय बना सकती है। जिस तरह से अंगुली अपने पोर को नहीं छू सकती, नृत्यांगना अपने मस्तक पर नृत्य नहीं कर सकती उसी तरह वृत्ति स्वयं अपने को विषय नहीं बना सकती। स्वात्मवृत्ति की अवधारणा अनिवार्यतः कर्तृ-कर्म विरोध से ग्रस्त है। हम पीछे

देख चुके हैं कि किस तरह शंकराचार्य अपने भाष्यों में बौद्धों के स्वसंवेदन की जमकर आलोचना करते हुए यह दिखाते हैं कि क्षणिक बुद्धिविज्ञान स्वयं अपने को विषय नहीं बना सकता और ऐसा स्वीकार कर बौद्ध कर्तृ-कर्म विरोध के जाल में फँस जाते हैं।[13] वृत्ति को स्वविषया स्वीकार कर धर्मराजाध्वरीन्द्र भाष्यकार के उपुर्यक्त मत का उल्लंघन करते प्रतीत होते हैं। लक्षण की सुसंगतता के व्यामोह में धर्मराजाध्वरीन्द्र वस्तुतः सम्प्रदाय विरुद्ध मत को स्वीकार कर लेते हैं। वस्तुतः अन्तःकरणवृत्तियों को प्रत्यक्ष होने के लिये न तो वृत्त्याकार दूसरी वृत्तियों की अपेक्षा होती है और न ही वे स्वयं स्वविषया होने से स्वाकार युक्त होती हैं। वृत्तियों को प्रकाशित होने के लिये वृत्ति की किसी भी रूप में अपेक्षा नहीं होती। सुख, दुःख, इच्छा, संकल्प आदि तथा वृत्तिरूप ज्ञान चूँकि अन्तःकरण के धर्म हैं तथा वे हमेशा अन्तःकरण में ही रहते हैं, अतः सुखादि से अवच्छिन्न चैतन्य तथा अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य में नित्य अभेद प्रसक्त होता है। फलतः सुखादि में नित्य अपरोक्षत्व प्राप्त होते हैं। सुख, दुःख, इच्छा आदि तथा वृत्तिरूप ज्ञान यदि नियत रूप से अपरोक्ष होते हैं तो ऐसा इसलिये नहीं जैसा कि धर्मराजाध्वरीन्द्र समझते हैं कि वे स्वविषया स्वरूप वाले होते हैं बल्कि इसलिये कि तैजस अन्तःकरण के अवस्था रूप होने से स्वभावतः इतने स्वच्छ होते हैं कि साक्षिचैतन्य के प्रतिबिम्ब से अनिवार्यतः युक्त रहते हैं। घटादि विषयों को प्रकाशित होने के लिये चिदुपरागार्थ वृत्ति की अपेक्षा होती है। पर वृत्ति, जिस पर उपरक्त होकर ही चैतन्य नाना विषयों को प्रकाशित करता है, उसे स्वयं प्रकाशित होने के लिये वृत्ति की अपेक्षा भला क्यों होने लगे ? वह तो स्वावच्छिन्न चैतन्य से ही प्रकाशित हो जाती है।[14] वस्तुतः अन्तःकरण और उसकी अवस्थाभूत सुख, दुःख, इच्छा, संकल्प या वृत्तिरूपज्ञान सीधे साक्षिचैतन्य द्वारा प्रकाशित होते हैं। न तो अन्तःकरण और न ही उसकी सुखादि वृत्तियाँ किसी भी रूप में स्वयं अपने को अपना विषय बना सकती हैं। प्रमाता और प्रमाता की अवस्थाभूत सुख, दुःखादि का ग्रहण स्वयं प्रमाता से भला कैसे हो सकता है ? मन और मन की अवस्थाओं का ग्रहण स्वयं मन से नहीं हो सकता। वस्तुतः अन्तःकरण और उसकी अवस्थाभूत सुख, दुःखादि को प्रकाशित करने वाला स्वयंप्रकाश साक्षी है। जहाँ घटादि बाह्य विषयों को प्रमाता अपनी प्रमाणवृत्तियों से प्रकाशित करता है, प्रमाता और उसकी प्रमाणवृत्तियाँ सीधे साक्षी द्वारा ही प्रकाशित होती हैं। अन्तःकरण और उसके धर्म सुख, दुःख, इच्छा, संकल्प या वृत्तिरूप ज्ञान अपने प्रकाशन के लिये किसी वृत्तिरूप प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखते और न ही वे उसके किसी भी प्रकार से विषय हो सकते हैं। वे तो वस्तुतः केवल साक्षि द्वारा भासित होते हैं, कोई प्रमाता या कोई प्रमाण इन्हें भासित नहीं कर सकता है। वे केवल साक्षिवेद्य हैं।

यहाँ वेदान्तपरिभाषाकार के मत पर किंचित् प्रकाश डालना अनुचित नहीं होगा। वेदान्तपरिभाषाकार के अनुसार केवलसाक्षिवेद्यत्व का अर्थ 'बिना वृत्ति के साक्षिविषयत्व' न होकर 'इन्द्रिय, लिङ्गज्ञान आदि प्रमाण व्यापारों के बिना ही साक्षि द्वारा प्रकाश्य होना' है। अर्थात् 'केवलसाक्षिविषयत्व' में केवल शब्द का प्रयोग वृत्ति का परिहार करने के लिये नहीं किया गया है।[15] ऐसी स्थिति में अन्तःकरण और उसके धर्म सुख, दुःख, इच्छा आदि जो परम्परा में केवलसाक्षिभास्य कहे गये हैं, के वृत्तिविषयत्व में कोई विरोध नहीं है। अन्तःकरण और उसके धर्म सुख, दुःख, इच्छा या वृत्तिज्ञान को प्रत्यक्ष होने के लिये वृत्ति की आवश्यकता रहती ही है। अद्वैत वेदान्त में कोई भी ज्ञान (व्यावहारिक ज्ञान) बिना वृत्ति के नहीं होता। अतः 'केवल-साक्षिभास्य' विषयों के भी ज्ञान की व्याख्या के लिये वृत्ति की कल्पना अनिवार्य होती है। बिना वृत्ति के विषय हुए कोई भी ज्ञान नहीं होता। इस सम्बन्ध में वेदान्तपरिभाषाकार विवरणकार की उस उक्ति का उल्लेख करते हैं जिसमें वे कहते हैं कि अन्तःकरण को भी ज्ञान होने के लिये 'अहं वृत्ति का विषय होना अनिवार्य होता है[16], वस्तुतः वृत्ति में उपरक्त चैतन्य ही विषयगत अज्ञान का विरोधी होता है, शुद्ध चैतन्य नहीं; वह तो अज्ञान का भासक होता है। अस्तु, केवलसाक्षिभास्य विषयों के लिये भी तद्तद् आकार वाली वृत्ति की अभिकल्पना को वेदान्तपरिभाषाकार परम्परा से समर्थित और सम्प्रदायसम्मत पाते हैं। विवरणकार अन्तःकरण को विषय करने वाली अहम्-इत्याकारक वृत्ति मानते ही हैं। इसी प्रकार केवलसाक्षिभास्य कही जाने वाली प्रतिभासिक वस्तु के लिये सर्वज्ञात्मा प्रभृति वैसे विषय के आकार वाली अविद्या वृत्ति को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार वेदान्तपरिभाषाकार के अनुसार विषय मात्र के प्रत्यक्ष के लिये तदाकार वृत्ति की अपेक्षा होती है, चाहे वह विषय बाह्य घट, पटादि हो अथवा आंतरिक सुख, दुःखादि या स्वयं अन्तःकरण हो। हाँ, इतना अवश्य है कि सुख, दुःख, ज्ञानादि अन्तःकरणवृत्तियों को विषय बनाने वाली कोई दूसरी वृत्ति नहीं होती, ये वृत्तियाँ स्वयं अपने को विषय बनाती हैं। पीछे हम लोग देख चुके हैं कि वेदान्तपरिभाषाकार किस प्रकार वृत्ति को स्वविषया स्वीकार करते हैं। इसमें संदेह नहीं कि वृत्ति को स्वविषया स्वीकार करने से वेदान्तपरिभाषाकार के लिये आंतरिक प्रत्यक्ष की व्याख्या अपेक्षाकृत सुकर हो जाती है। वृत्ति चूँकि स्वविषया होती है अतः घटाकार, पटाकार आदि वृत्तियाँ जहाँ एक तरफ घट, पट आदि को विषय बनाती हैं वहीं वह स्वयं अपने को भी विषय बनाती हैं। फलतः जहाँ एक ओर घट, पट आदि विषयों को प्रत्यक्षत्व प्राप्त होता है वहीं उनके ज्ञान को भी प्रत्यक्षत्व प्राप्त होता है। विषय के ज्ञान के साथ ही उस ज्ञान का भी ज्ञान अनिवार्य रूपेण हो जाता है। इसी तरह वृत्ति को स्वविषया स्वीकार करने से अन्तःकरण और उसके धर्म सुख, दुःख,

इच्छा आदि के प्रत्यक्ष के लिये अपेक्षित तद् तद् आकार वाली वृत्तियों की भी व्यवस्था सुकर हो जाती है। अन्तःकरण और उसके धर्म सुख, दुःख, इच्छा आदि को विषय बनाने वाली तद् तद् आकारित वृत्तियों को स्वीकार करने में सबसे अधिक दिक्कत यह थी कि अन्तःकरण स्वयं को स्वयं के आकार में भला कैसे डाल सकता है ? इसी तरह सुख, दुःखादि जो कि स्वयं अन्तःकरण के आकार विशेष हैं उनको आकारित करने वाली सुखाकार दुःखाकार वृत्ति को भला किस आधार पर स्वीकार किया जा सकता है ? अब चूँकि धर्मराज वृत्ति को स्वविषया मान लेते हैं, फलतः सुखाकार दुःखाकार इस प्रकार की वृत्तियों की कल्पना उपपन्न हो जाती है क्योंकि इनके विषय स्वयं अन्तःकरण के परिणाम रूप सुख दुःखादि की वृत्तियाँ ही हैं।

वेदान्तपरिभाषाकार का मत अपनी तमाम अच्छाइयों के बावजूद सुग्राह्य नहीं प्रतीत होता है। इसमें आने वाली कठिनाइयों पर हम पूर्व में विचार कर चुके हैं। वस्तुतः सुख, दुःख, इच्छा, ज्ञानादि अन्तःकरणवृत्तियों को प्रत्यक्ष होने के लिये तद् तद् आकार वाली वृत्तियों की कोई अपेक्षा नहीं होती। वृत्त्याकार वृत्त्यन्तर की कल्पना में जहाँ अनवस्था दुर्निवार है वहीं स्वषिया वृत्ति की अवधारणा कर्तृ-कर्म विरोध आदि अंतर्विरोधों से ग्रस्त है। वस्तुतः अन्तःकरण और उसके धर्म सुख, दुःख, इच्छा या ज्ञानादि केवल साक्षिविषय हैं। उनके प्रत्यक्षत्व की व्याख्या के लिये उनमें वृत्तिविषयत्व मानने की कोई जरूरत नहीं है। देखा जाए तो विषय के प्रत्यक्ष होने में आखिर वृत्ति की भूमिका क्या है ? वृत्ति विषयचैतन्य और प्रमातृचैतन्य के बीच उपाधिकृत भेद को दूर कर उन्हें अभिन्न कर देती है। विषयचैतन्य और प्रमातृचैतन्य के बीच यह अभिन्नता ही विषयगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है। अब जब विषय स्वयं अन्तःकरण या उसके धर्म सुख, दुःख, इच्छादि हों तो जाहिर है इन विषयों से अवच्छिन्न चैतन्य तथा अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य में नियमतः अभेद प्राप्त होता है, इसके लिये वृत्ति के मध्यस्थता की कोई जरूरत नहीं होती। यदि कदाचित् यह कहा जाए कि विषय पर चढ़े हुए अज्ञानावारण को हटाने के लिये (आवरणभङ्गार्थ) तथा प्रमातृचैतन्य का विषय से सम्बन्ध कराने के लिये (चिदुपरागार्थ) वृत्ति की आवश्यकता होती है तो हम सहज समझ सकते हैं कि यह आवश्यकता बाह्य घट, पटादि विषयों को ही होती है। विषय जब स्वयं अन्तःकरण या उसके धर्म सुख, दुःख, इच्छा, ज्ञान (वृत्ति) आदि हों तो उन्हें भला वृत्ति की क्यों आवश्यकता होगी। स्वच्छ अन्तःकरण की अवस्थाविशेष होने के कारण ही वृत्ति में यह योग्यता होती है कि वह स्वसंयुक्त विषय की जड़ता को अभिभूत कर देती है तथा अपने समान ही उनमें चैतन्य को अभिव्यञ्जित करने की योग्यता ला देती है। अब जिसके कारण उसके सम्पर्क में आई हुई वस्तुओं की जड़ता अभिभूत हो जाती है और उनमें चैतन्याभिव्यञ्जन की योग्यता आ जाती है

उसे भला आवरणभङ्गार्थ या चिदुपरागार्थ किसी अन्य की अपेक्षा कैसे हो सकती है ? वस्तुतः अन्तःकरण और उसकी घटकारा पटाकारादि वृत्तियाँ या उसके दूसरे सुख, दुःख, इच्छा आदि धर्म स्वभावतः इतने स्वच्छ होते हैं कि चैतन्य के प्रकाश से नियत युक्त ही रहते हैं और इस कारण उन पर किसी तरह के अज्ञानावरण की बात सोची ही नहीं जा सकती। हमें सुख हो और उस सुख का ज्ञान न हो यह असंभव है। इसी तरह ज्ञान हो और वह ज्ञान एक पल के लिये भी हमारे लिये अज्ञात रहे यह असंभव है। वस्तुतः सुख, दुःख, इच्छा या ज्ञानादि अन्तःकरण-धर्म एक पल के लिये भी हमारे लिये अज्ञात नहीं रहते। अतः न तो **आवरणभङ्गार्थ, न चिदुपरागार्थ** और न ही जैसा कि पीछे देख चुके हैं **अभेदाभिव्यक्त्यर्थ** केवलसाक्षिभास्य कहे जाने वाले अन्तःकरण और उसके सुख, दुःख, इच्छा, या ज्ञानादि धर्मों को अन्तःकरणवृत्ति की अपेक्षा होती है।[17] यदि यहाँ विषय और चैतन्य के बीच सम्बन्ध (चिदुपराग) का अर्थ उनके बीच विषय-विषयी भाव सम्बन्ध लेकर यह कहा जाए कि केवलसाक्षिभास्य कहे जाने वाले अन्तःकरण और उसके सुख, दुःख, इच्छा आदि धर्मों को साक्षिचैतन्य का ही सही 'विषय' बनने के लिये वृत्ति की अपेक्षा होगी क्योंकि बिना वृत्ति के विषय और चैतन्य में विषयविषयिभाव सम्बन्ध उपपन्न नहीं होता, तो भी यह वृत्ति अन्तःकरणवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि अन्तःकरण स्वयं अपने आकार में आकारित नहीं हो सकता। अस्तु, यदि इस मत पर आग्रह ही किया जाए कि कोई भी ज्ञान बिना वृत्ति के नहीं होता और कि कोई भी वस्तु चैतन्य का विषय तब तक नहीं हो सकती जब तक वह तदाकार वृत्ति का विषय नहीं बनती तो केवलसाक्षिभास्य कहे जाने वाले अन्तःकरण और उसके सुख, दुःख आदि धर्मों के लिये अन्तःकरणवृत्ति के बजाए अविद्यावृत्ति मानना ही उचित होगा जैसा कि बाद के कुछ अद्वैत आचार्यों ने इंगित भी किया है।[18] वस्तुतः केवलसाक्षिभास्य कहे जाने वाले सौषुप्त सुख, अज्ञान अथवा प्रातिभासिक या स्वाप्न वस्तु का ज्ञान जैसे साक्षी को तद्तद् आकारित अविद्यावृत्ति द्वारा होता है वैसे ही अन्तःकरण और उसके धर्म सुख, दुःख, इच्छादि के ज्ञान के लिये भी यह मानना उपयुक्त होगा कि साक्षी को इनका ज्ञान अहमाकार, सुखाकार, दुःखाकार आदि अविद्यावृत्तियों द्वारा होता है।

संदर्भ एवं टिप्पणी

1. धर्मराजाध्वरीन्द्र, वेदान्तपरिभाषा, सं. श्रीरामशास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1983, पृ. 20.
2. बृहदारण्यकोपनिषद्, 3/4/1.
3. अबाधितास्वयंप्रकाशतैवास्य सत्ता...। वाचस्पति मिश्र, भामती, 1/1/1.

4. धर्मराजाध्वरीन्द्र, वेदान्तपरिभाषा, पृ. 96.
5. तत्र पूर्वाचार्याणामयमाशयः—संविदापरोक्ष्यं न करणविशेषोत्पत्तिनिबन्धनम्, किन्तु प्रमेयविशेष-निबन्धनमित्युपपादितम्।...अन्येषां त्वयमाशयः—करणविशेष-निबन्धनमेव ज्ञानानां प्रत्यक्षत्वम्, न विषयविशेष-निबन्धनम्।
धर्मराजाध्वरीन्द्र, वेदान्तपरिभाषा, पृ. 385-387.
6. आद्ये प्रमाणचैतन्यस्य विषयावच्छिन्नचैतन्याभेद इति ब्रूमः।
धर्मराजाध्वरीन्द्र, वेदान्तपरिभाषा, पृ. 37.
7. तत्र यथा तडागोदकं छिद्रान्निर्गत्य कुल्यात्मा केदारान्प्रविश्य तद्वदेव चतुष्कोणाद्याकारं भवति। तथा तैजसमन्तःकरणमपि चक्षुरादिद्वारा निर्गत्य घटादिविषयदेशं गत्वादिविषयाकारेण परिणमते। स एव परिणामो वृत्तिरित्युच्यते। अनुमित्यादिस्थले तु नान्तःकरणस्य वह्न्यादिदेशगमनं, वह्न्यादेश्चक्षुराद्यसन्निकर्षात्।
धर्मराजाध्वरीन्द्र, वेदान्तपरिभाषा, पृ. 39.
8. देखें, धर्मराजाध्वरीन्द्र, वेदान्तपरिभाषा, पृ. 37-43.
9. धर्मराजाध्वरीन्द्र, वेदान्तपरिभाषा, पृ. 62.
10. धर्मराजाध्वरीन्द्र, वेदान्तपरिभाषा, पृ. 64.
11. अधिष्ठानसत्ताऽतिरिक्ताया आरोपितसत्ताया अनङ्गीकारात्।
धर्मराजाध्वरीन्द्र, वेदान्तपरिभाषा, पृ. 64.
12. अनवस्थाभिया वृत्तेर्वृत्यन्तराविषयत्वेऽपि **स्वविषयत्वाभ्युपगमेन स्वविषयवृत्युपहित** प्रमातृचैतन्याभिन्नसत्ताकत्वस्य तत्रापि भावात्।
धर्मराजाध्वरीन्द्र, वेदान्तपरिभाषा, पृ. 70.
13. देखें, शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्र भाष्य, 2/2/28, प्रश्नोपनिषद् भाष्य, 6/2, बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य, 4/3/7.
साथ ही देखें, इस पुस्तक का पिछला अध्याय।
14. एवं च ज्ञानसुखादयोऽप्यन्तःकरणवृत्तयः तप्तायः पिण्डाद् व्युच्चरन्तो विस्फुलिङ्गा इव स्वस्वावच्छिन्नेनाऽनित्येन साक्षिणा भास्यन्ते इति...। अप्पय दीक्षित, सिद्धान्तलेशसंग्रह, सं. श्रीकृष्ण पंत, अच्युत ग्रन्थमाला, काशी, सं. 2011, पृ. 209.
15. न चान्तःकरणतद्धर्मादीनां वृत्तिविषयत्वाभ्युपगमे केवलसाक्षिविषयत्वाभ्युपगमविरोध इति वाच्यम्। न हि वृत्तिं विना साक्षिविषयत्वं केवल-साक्षिवेद्यत्वं, किन्त्विन्द्रियानुमानादिप्रमाण-व्यापारमन्तरेण साक्षिविषयत्वम्।
धर्मराजाध्वरीन्द्र, वेदान्तपरिभाषा, पृ. 71.
16. अत एवाहंकार-टीकायामाचार्य्यैरहमाकारान्तःकरणवृत्तिरङ्गीकृता।
धर्मराजाध्वरीन्द्र, वेदान्तपरिभाषा, पृ. 72.
धर्मराजाध्वरीन्द्र का तात्पर्य प्रकाशात्मन् की उस उक्ति से है जिसमें वे कहते हैं—अहं वृत्त्यवच्छिन्नमेव अन्तःकरणं चैतन्यस्य विषयभावमापद्यते।
17. ज्ञान प्रक्रिया में वृत्ति की भूमिका या कार्यप्रणाली को लेकर अद्वैत परम्परा में मुख्यतः तीन मत प्रचलित हैं जिनका नाम से उल्लेख सिद्धान्तलेशसंग्रह में मिलता है। मधुसूदन सरस्वती, ब्रह्मानन्द सरस्वती, धर्मराजाध्वरीन्द्र प्रभृति वेदान्त के आचार्यों ने भी एतद्विषयक मतों का संकलन करते हुए वृत्ति के स्वरूप, उसकी उपयोगिता एवं आवश्यकता आदि

प्रश्नों का विस्तार से विवेचन किया है। इन मतों के अनुसार ज्ञान-प्रक्रिया में वृत्ति का उपयोग (1) चिदुपराग के लिये (चिदुपरागार्थ) अथवा (2) विषय—चैतन्याभेद की अभिव्यक्ति के लिये (अभेदाभिव्यक्त्यर्थ) अथवा (3) आवरणाभिभव के लिये (आवरणाभिभवार्थ) हो सकता है। जीव को विषयज्ञान में वृत्ति (1) चित् के साथ सम्बन्ध कराती हुई या (2) कल्पित भेद वाले चैतन्यों के अभेद की अभिव्यक्ति द्वारा अथवा (3) प्रमाता और प्रमेय के बीच स्थित आवरण के भङ्ग या अभिभव द्वारा विषय ज्ञान को संभव बनाती है।

18. दुःखं जानामीत्यादावपि दुःखाद्याकाराविद्यावृत्तेरेव विवक्षित्वाच्च।
मधुसूदन सरस्वती, अद्वैतसिद्धि, न्यायामृताद्वैतसिद्धी (द्वितीय भाग), सं. स्वामी योगीन्द्रानन्द, षड्दर्शन-प्रकाशन-प्रतिष्ठान, उदासीन संस्कृत विद्यालय, वाराणसी, 1986, पृ. 977.
आस्तां वक्ष्यमाणायाविद्यावृत्तेः विद्यमानसुखादिष्विव तत्रापि तत्काले 'भाती' त्यादिव्यवहारः।
श्रीगौडब्रह्मानन्द, न्यायरत्नावली, सिद्धान्तबिन्दु, सं. त्र्यम्बकराम शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत संस्थान-वाराणसी, 1989, पृ. 286.
तस्मात् घटाद्याकारवृत्तीनामिव मनस्त्वस्य मनोधर्मत्वस्य च उत्तेजकत्वं वा मनस्सुखादिषु विद्यमानेष्वेकैवाविद्यावृत्तिर्वा स्वीक्रियते।
गौडब्रह्मानन्द, न्यायरत्नावली, पृ. 287.

❒

10

ज्ञान की स्वप्रकाशता और स्वयंप्रकाश आत्मतत्त्व

अद्वैती इस मत का खंडन करते हैं कि ज्ञान आत्मा का गुण है। ज्ञान आत्मा-मन-इन्द्रिय और विषय सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला गुण नहीं है। यह वस्तुतः कोई उत्पन्न होने वाली चीज नहीं है। यह नित्य है। चैतन्य या ज्ञान आत्मा का स्वरूप है, गुण नहीं। आत्मा चैतन्य स्वरूप है। शंकराचार्य बृहदारण्यकोपनिषद् के भाष्य में कहते हैं कि जैसे उष्णता अग्नि का स्वरूप है वैसे ही ज्ञान (दृष्टि) आत्मा का स्वरूप है। कणादमतालम्बियों की मान्यता के समान ज्ञान से पृथक् कोई भिन्न चेतन ज्ञाता आत्मा नहीं है। अर्थात् आत्मा ज्ञान का आश्रय न होकर ज्ञानस्वरूप ही है। शंकर कहते हैं—एवं च सति दृष्टिरेव स्वरूपमस्य, अग्न्यौष्ण्यवत्, न काणादानामिव दृष्टिव्यतिरिक्तोऽन्यश्चेतनो द्रष्टा।[1] चेतना के आत्मगुणत्व के विरोध में तर्क देते हुए शंकराचार्य वहीं अन्यत्र कहते हैं कि संयोगी द्रव्य को विकृत किये बिना कोई गुण कहीं आता जाता नहीं देखा जाता।[2] यदि आत्मा में चैतन्य आदि गुण माने जाएँ, जो उत्पन्न व नष्ट होते हैं, तो आत्मा विकारी हो जाएगा। शंकराचार्य 'ज्ञोऽत एव' (ब्रह्मसूत्र-2/3/18) सूत्र के भाष्य में न्याय-वैशेषिक आदि के इस मत को कि आत्मा और मन के संयोग से जीवात्मा में ज्ञान उत्पन्न होता है, पूर्वपक्ष के रूप में रखते हुए विस्तार से उसका खंडन करते हैं। "वह (जीवात्मा) क्या कणादमत के समान आगन्तुक चैतन्य वाला होता हुआ स्वतः अचेतन है, अथवा सांख्यों के समान नित्य चैतन्य स्वरूप ही है ? इस प्रकार वादियों की विप्रतिपत्ति से संशय होता है। तो क्या प्राप्त हुआ ? अग्नि और घट के संयोग से (घट में) उत्पन्न हुए रक्तिमा आदि गुणों के समान जीवात्मा में आत्मा और मन के संयोग से जन्य आगन्तुक चैतन्य है, ऐसा प्राप्त हुआ। नित्य चैतन्य होने पर सुप्त, मूर्च्छित और ग्रहाविष्टों को भी चैतन्य की प्राप्ति होगी। परन्तु वे पूछे जाने पर 'हम कुछ भी नहीं जानते हैं' ऐसा बोलते हैं और स्वस्थ होने पर चेतनता युक्त देखे जाते हैं। इसीलिये कभी-कभी चैतन्य होने से जीवात्मा आगन्तुक चैतन्य है।"[3] एवं प्रकारेण शंकराचार्य पूर्वपक्षियों के तर्कों को

उपन्यस्त करते हुए आगे उसका विस्तार से खंडन करते हैं। पीछे हम देख चुके हैं कि न्याय-वैशेषिक और प्राभाकर मत के आचार्यों का कहना है कि आत्मा स्वप्रकाश या चिद्रूप नहीं है। ज्ञान या चेतना आत्मा का आगंतुक गुण है। यदि आत्मा नित्य चैतन्यस्वरूप होता तो सुषुप्ति आदि में ज्ञान का अभाव ही नहीं होता। वास्तव में आत्मा अचेतन और अस्वप्रकाश है, यह सुषुप्ति से सिद्ध है—सुषुप्तौ अप्रकाशात् न आत्मनः स्वप्रकाशत्वम्। पुनः आत्मा यदि नित्य चैतन्य स्वरूप हो तो फिर ज्ञान की उत्पत्ति के इन्द्रियादि साधन व्यर्थ हो जायेंगे। जहाँ तक श्रुति की बात है तो यह सही है कि 'आत्मैवास्य ज्योतिः' (बृह॰ 4/3/6) इत्यादि श्रुतियाँ आत्मा को स्वप्रकाश बताती हैं, परन्तु वहीं 'पश्यञ्चक्षुः शृण्वञ्श्रोत्रम्' (बृह॰ 1/4/7) इत्यादि श्रुतियाँ उसे अनित्यज्ञान वाला भी तो बताती हैं। उपर्युक्त मत का अद्वैती खंडन करते हैं। शंकराचार्य का यह निश्चित मत है कि आत्मा नित्यचैतन्य स्वरूप है—तस्मान्नित्यचैतन्यस्वरूप एवात्मेति निश्चिनुमः।[4] शंकराचार्य का कहना है कि अविकृत परब्रह्म ही उपाधि के सम्बन्ध से जीवभाव से स्थित है और चूँकि समस्त श्रुतियाँ एक स्वर से परब्रह्म को चैतन्य स्वरूप बताती हैं ('विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ॰ 3/9/28), 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'(तै॰ 2/1/1)) और चूंकि जीव ब्रह्म ही है अतः जिस तरह उष्णता और प्रकाश अग्नि का नित्यस्वरूप है उसी तरह जीव भी नित्यचैतन्य स्वरूप है : तदेव चेत्परं ब्रह्म जीवस्तस्माज्जीवस्यापि नित्यचैतन्यस्वरूपत्वम ग्न्यौष्ण्यप्रकाशवदिति गम्यते।[5] जीव का विज्ञानस्वरूपत्व निम्न श्रुतियों से भी सिद्ध होता है क्योंकि वे विज्ञानमय के प्रकरण में हैं—स्वयं न सोता हुआ सोए हुए समस्त पदार्थों को प्रकाशित करता है—असुप्तः सुप्तानभिचाकशीति (बृ॰ 4/3/11), स्वप्नावस्था में यह पुरुष स्वयंज्योतिस्वरूप होता है—अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति (बृ॰ 4/3/9), विज्ञाता की विज्ञानशक्ति का कभी लोप नहीं होता है—नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते (बृ॰ 4/3/30)। इन्द्रियादि सन्निकर्ष से आत्मा में ज्ञान उत्पन्न होता है। यदि आत्मा को नित्यज्ञान स्वरूप माना जाए तब तो उपर्युक्त घ्राणादि इन्द्रियों की व्यर्थता प्राप्त होगी। परपक्षियों की इस आपत्ति पर शंकराचार्य कहते हैं कि ज्ञानात्मक चैतन्य के उत्पादन में ही इन्द्रियों की सार्थकता हो, ऐसी बात नहीं है, वस्तुतः घ्राणादि इन्द्रियों की सार्थकता गन्धादि विषय विशेषाकार वृत्ति के उत्पादनार्थ ही है। श्रुति भी कहती है गन्ध विषयक अन्तःकरण वृत्ति के लिये घ्राण है—गन्धाय घ्राणम्।[6] जहाँ तक सुषुप्तावस्था में ज्ञान न होने की बात है तो शंकराचार्य कहते हैं कि वहाँ विषयज्ञानरूप विशेष ज्ञान या वृत्तिज्ञान का ही अभाव रहता है, स्वरूपभूत ज्ञान का अभाव नहीं रहता। सुषुप्ति आदि में विषयविशेषपरक ज्ञान के अभाव होने से न्याय प्रभृति यह गलत निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि आत्मा में उस समय ज्ञान नहीं रहता।

शंकराचार्य कहते हैं कि यह आवश्यक नहीं है कि चेतना हमेशा सविषयक ही हो, विषय का अभाव चेतना का अभाव नहीं है। नैयायिक प्रभृति विषय के अभाव से यह गलत निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि चेतना का अभाव है—विषयाभावादियमचेतयमानता, न चैतन्याभावादिति। यथा वियदाश्रयस्य प्रकाशस्य प्रकाश्याभावादनभिव्यक्तिर्न स्वरूपाभावात्तद्वत्।[7] पूर्वपक्षियों का तर्क है कि 'ज्ञा' धातु की अर्थभूत ज्ञानक्रिया सकर्मक है, कर्मकारक से व्याप्त है, फलतः व्यापकीभूत कर्मकारक के अभाव से व्याप्यभूत ज्ञानक्रिया वैसे ही असंभव है जैसे अग्नि के बिना धूम। सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में ज्ञेयरूप कर्मकारक का अभाव होने के कारण व्याप्यभूत ज्ञान का वस्तुतः अभाव रहता है। वाचस्पति मिश्र भामती में इसके प्रत्युत्तर में कहते हैं कि सकर्मक ज्ञान तो वृत्तिरूप ज्ञान है, स्वरूप ज्ञान नहीं। सुषुप्ति में कर्मकारक का अभाव होने से अन्तःकरण की वृत्तियाँ नहीं होतीं; वृत्तिरूप ज्ञान नहीं होता, स्वरूपभूत ज्ञान तो रहता ही है—तस्माद् वृत्तयः क्रियारूपाः सकर्मिकाः कर्माभावे सुषुप्त्यादौ निवर्त्तन्ते, न चैतन्यमात्मस्वभाव इति सिद्धम्।[8] 'पश्यञ्चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रम्' (दर्शन करता हुआ चक्षु है, श्रवण करता हुआ श्रोत्र है) इत्यादि श्रुतियाँ जो जीवात्मा के ज्ञान को अनित्य बताती हैं, वह भी वस्तुतः वृत्तिज्ञान को लेकर ही ऐसा कहती हैं। वास्तव में न्याय प्रभृति वृत्तिज्ञान को ही ज्ञान समझ बैठते हैं, जबकि वास्तविक ज्ञान तो आत्मा का स्वरूपभूत नित्य ज्ञान है। इसका कभी भी लोप नहीं होता है। शंकराचार्य अपने मत के समर्थन में श्रुति का आश्रय लेते हुए कहते हैं कि श्रुति एक स्वर से कहती है कि सुषुप्ति में भी आत्मा की स्वरूपदृष्टि का विपरिलोप नहीं होता है—यत्तु सुप्तादयो न चेतयन्त इति तस्य श्रुत्यैव परिहारोऽभिहितः। सुषुप्तं प्रकृत्य 'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति। नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्' (बृ.4/3/23) इत्यादिना।[9] एवं प्रकारेण शंकराचार्य आत्मा को नित्यचैतन्यस्वरूप बतलाते हैं। आत्मा ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान न तो उसका आगन्तुक गुण है और न ही नित्य धर्म। यह न तो सम्बन्ध है और न ही आत्मा की विक्रिया। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, स्वयंप्रकाश है।

न्याय प्रभृति दर्शनों का मानना है कि ज्ञान आत्मा का आगन्तुक गुण है तथा ज्ञान एवं आत्मा में गुण-गुणी का सम्बन्ध है। अर्थात् ज्ञान आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहता है। शंकराचार्य समवाय सम्बन्ध का खंडन करते हैं।[10] शंकर का कहना है कि यदि ज्ञानादि की स्थिति आत्मा में समवाय सम्बन्ध से माना जाए तब तो फिर इस समवाय की भी इनमें स्थिति के लिए अन्य समवाय की अपेक्षा होगी और फिर उसके लिये अन्य समवाय की। अतः समवाय सम्बन्ध में अनवस्था अनिवार्यतः आपतित होती है। अस्तु, ज्ञान और आत्मा के बीच समवाय की कल्पना भ्रामक है।

अब यदि ज्ञान आत्मा में समवाय सम्बन्ध से नहीं रह सकता तो यह मानना होगा कि वह संयोग सम्बन्ध से रहता है। पर, स्वयं न्याय प्रभृति यह नहीं स्वीकार कर सकते कि आत्मा में ज्ञान संयोग सम्बन्ध से रहता है। फिर ये कोई मूर्त वस्तु तो नहीं, जो इनमें संयोग होगा। अतः आत्मा एवं ज्ञान या चेतना में न तो संयोग सम्बन्ध है और न समवाय। वस्तुतः उनमें अभेद है। चेतना या ज्ञान आत्मा का स्वरूप ही है। नैयायिक प्रभृति की यह कल्पना है कि ज्ञानादि धर्मों की उत्पत्ति आत्मा में आत्म-मनः संयोग से होती है। लेकिन हम सहज ही समझ सकते हैं कि आत्मा के विभु होने से यह संयोग नित्य उपलब्ध होगा, फलतः ज्ञानादि की नित्य प्राप्ति होगी, अनिर्मोक्ष प्रसङ्ग प्राप्त होगा। अब ये सब बातें स्वयं उनकी प्रतिज्ञाओं के विपरीत जाएंगी। और फिर आत्मा जो कि असंगी है उसका किसी अन्य से संसर्ग भला कैसे और क्यों कर होगा ? शंकराचार्य केनोपनिषद् भाष्य में कहते हैं कि गुणी गुणी का ही संसर्ग होता है। विजातीय वस्तुओं का कभी भी संयोग नहीं होता। अब आत्मा जो कि निर्गुण, निर्विशिष्ट है, सभी वस्तुओं से विलक्षण है उसका भला किसी विजातीय वस्तु से संयोग कैसे होगा ? और फिर स्वयं श्रुति उसके बारे में कहती है "असङ्गो न हि सज्जते।"[11] इसी तरह माण्डूक्य कारिका के भाष्य में भी शंकर कहते हैं कि स्पर्शादि से रहित भिन्नजातीय आत्माओं का मन आदि के साथ सम्बन्ध मानना उचित नहीं है—न च भिन्नजातीयानां स्पर्शादिहीनानामात्मानां मन आदिभिः संबन्धो युक्तः।[12]

चेतना या ज्ञान एवं आत्मा के बीच में सम्बन्ध की तीन ही स्थितियाँ संभव हो सकती हैं। या तो यह माना जाए कि दोनों में भिन्नता है या फिर यह माना जाए कि अभिन्नता है अथवा भिन्न एवं अभिन्न माना जाए।[13] जहाँ तक तृतीय विकल्प की बात है तो यह तो प्रथम दृष्टया ही आत्म विरोधी होने से अनुपपन्न है। यदि प्रथम विकल्प को मानते हुए आत्मा एवं ज्ञान को भिन्न-भिन्न माना जाए तब तो इनमें द्रव्य और गुण का सम्बन्ध कदापि नहीं हो सकता। इनका स्वरूप इस ढंग का है कि इनमें संयोग की भी कल्पना नहीं की जा सकती। जहाँ तक समवाय का प्रश्न है तो अनवस्था होने के कारण उनमें समवाय सम्बन्ध भी नहीं माना जा सकता। अतः एक ही विकल्प बचता है, वह यह कि आत्मा एवं चैतन्य में अभेद या तादात्म्य का सम्बन्ध मान लिया जाये। आत्मा और संवित् या ज्ञान में अभेद है। आत्मा और संविद् की यह अभिन्नता मात्र तर्क द्वारा नहीं सिद्ध होती है। अद्वैत दार्शनिकों के लिये यह अनुभव की सत्यता है, अनुभव से प्रमाणित है तथा समस्त श्रुतियाँ एक स्वर से इसका प्रतिपादन करती हैं।

आत्मा एवं अनुभव की अभिन्नता का प्रतिपादन करते हुए विद्यारण्य विवरणप्रमेय

संग्रह में कहते हैं कि जैसे प्रदीप एवं प्रकाश में अभेद है वैसे ही आत्मा एवं अनुभव में अभेद है। 'प्रदीप से प्रकाशित हो रहा है' के सदृश ही 'मैंने जान लिया' (घटो मयावगतः) इस तरह का व्यवहार सर्वप्रसिद्ध है। यदि आत्मा और अनुभव में भेद होता तब तो 'कष्ठिन प्रकाशितः' (काष्ठ के द्वारा प्रकाशित होता है) के समान 'मयावगतम्' यह प्रयोग भी औपचारिक होता।[14] अनुभव के आत्मगुणत्व का खंडन करते हुए विद्यारण्य कहते हैं कि अनुभव को गुण मानने में जैसे प्रदीप में रहने वाले भास्वररूप की उत्पत्ति आश्रय की उत्पत्ति से भिन्न नहीं होती, वैसे ही अनुभव की भी उत्पत्ति उसके आश्रय की उत्पत्ति से भिन्न नहीं होगी। ऐसी स्थिति में नित्य होने से आत्मा के साथ व्यभिचार न होने के कारण यह मानना होगा कि अनुभव और आत्मा में भेद नहीं है, अनुभव स्वरूप ही आत्मा है। यदि आत्मा को अनुभवस्वरूप न मानकर यह कहा जाए कि आत्मा की सिद्धि अनुभव के अधीन है तब तो घटादि के समान आत्मा भी अनात्मा होकर रह जाएगा।[15] यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न विद्यारण्य ने उठाया है कि नील-पीतादि अनुभव भिन्न हैं, अनेक हैं, सादिमान् हैं, अनित्य हैं, अब ऐसे अनुभव का अभिन्न, अखण्ड, अनादि और नित्य आत्मा से अभेद कैसे हो सकता है ? पर जैसा कि हम जानते हैं कि अद्वैत मत में ज्ञान या अनुभव परमार्थतः अखण्ड, अद्वितीय, अनादि और नित्य है, घट-पटादि विषय एवं तदाकारित बुद्धिवृत्तियों के भेद से ही उसमें भेद प्रतीत होता है।[16] अतः अनुभव के नित्य, अखण्ड और अद्वितीय स्वरूप के कारण उसके आत्मस्वरूप होने में कोई विसंगति नहीं है—तदेवं स्वप्रकाशानुभवस्य नित्यत्वादात्मस्वरूपत्वमविरुद्धम्।[17] एवं प्रकारेण अद्वैतियों के अनुसार आत्मा ज्ञान से पृथक् कोई विलक्षण उसका आश्रय तत्त्व नहीं है। वस्तुतः ज्ञान और ज्ञाता में तादात्म्य है। जो द्रष्टा है वह दृष्टिस्वरूप ही है। जिस तरह सूर्य और उसके प्रकाश में कोई अंतर नहीं होने पर भी सूर्य को प्रकाशक कहा जाता है और **सूर्य का प्रकाश** ऐसा भाषिक व्यवहार होता है उसी प्रकार आत्मा ज्ञान या अनुभवस्वरूप होकर भी अनुभविता या ज्ञाता कहलाता है। वस्तुतः आत्मा और संवित् या ज्ञान में अभेद है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है।

अब यदि आत्मा ज्ञानस्वरूप है तो ज्ञान की स्वप्रकाशता का अर्थ अद्वैत मत में आत्मा की स्वयंप्रकाशता है। आत्मा चिद्रूप है, स्वयंप्रकाश है। शंकराचार्य कहते हैं कि ज्ञानस्वरूप होने के कारण आत्मा को अपने ज्ञान के लिये किसी अन्य ज्ञान की उसी तरह अपेक्षा नहीं होती है जिस तरह प्रकाश को प्रकाशित होने के लिये किसी अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती। यह आत्मा न तो स्वसंवेद्य है और न ही परसंवेद्य, अपितु संवेदनस्वरूप होने के कारण स्वयंप्रकाश है : न तु निरुपाधिकस्यात्मन एकत्वे स्वसंवेद्यता परसंवेद्यता वा सम्भवति। संवेदनस्वरूप-

त्वात्संवेदनान्तरापेक्षा च न सम्भवति, यथा प्रकाशस्य प्रकाशान्तरापेक्षाया न सम्भवः तद्वत्।[18] अद्वैत दार्शनिक प्राभाकरों की इस बात के लिये आलोचना करते हैं कि वे ज्ञान की स्वप्रकाशता को स्वीकार करने के बावजूद आत्मा को स्वप्रकाश नहीं मानते। उनका कहना है कि आत्मा ज्ञान का आश्रय न होकर ज्ञानरूप ही है और ज्ञानरूप होने से स्वयंप्रकाश है। अद्वैती प्राभाकर से सहमत हैं कि आत्मा स्वप्रकाश ज्ञान का विषय नहीं है। आत्मा में किसी तरह के ज्ञानविषयत्व या कर्मत्व का प्राभाकर और अद्वैती दोनों खंडन करते हैं। पर आत्मा में अकर्मत्व स्वीकार करने के बावजूद प्राभाकर आत्मा को स्वप्रकाश नहीं मानते तथा हर ज्ञान में आश्रयरूप में उसके स्फुरण की व्याख्या करते हैं। अद्वैतियों का इस पर कहना है कि यदि आत्मा ज्ञान का विषय नहीं है तो फिर उसे स्वप्रकाश मानना होगा क्योंकि संवित् व्यतिरिक्त की अपरोक्षता तभी हो सकती है जब वे उसके विषय हों और यदि वे उसके विषय नहीं हैं तो उनकी अपरोक्षता नहीं हो सकती। चूँकि आत्मा ज्ञान का विषय नहीं है, अतः आत्मा में होने वाली अपरोक्षता की व्याख्या तभी की जा सकती है जब उसे स्वप्रकाश माना जाए। वस्तुतः ज्ञान किसी चीज को विषय बनाकर ही प्रकाशित करता है और चूँकि आत्मा का इस तरह प्रकाशन संभव नहीं है, अतः उसे स्वप्रकाश मानना होगा। विद्यारण्य विवरणप्रमेयसंग्रह में प्राभाकर सम्मत मत का खंडन करते हुए कहते हैं कि आत्मा की अपरोक्षता संविदाश्रयत्वेन मानने की कोई जरूरत नहीं है—आत्मा न संविदाश्रयत्वेनाऽपरोक्षः, संवित्कर्मतामन्तरेणाऽपरोक्षत्वात् संवेदनवत्।[19] इसी तरह चित्सुखाचार्य प्राभाकर मत का खंडन करते हुए यह अनुमान प्रस्तुत करते हैं—आत्मा संविद्रूपः संवित्कर्मतान्तरेणापरोक्षत्वात्संवेदनवदिति प्राभाकरं प्रत्यनुमानात्।[20] वस्तुतः अद्वैतियों का तर्क स्पष्ट है। कोई चीज या तो वेद्य है या फिर यदि अवेद्य होने पर भी प्रकाशमान है तो वह स्वयं संवित् ही है। अब आत्मा वेद्य नहीं है, पर वेद्य न होने के बावजूद वह सतत् प्रकाशमान है अतः वह स्वयंप्रकाश ज्ञानरूप है। चित्सुखाचार्य कहते हैं कि आत्मा को यदि स्वयंप्रकाश चैतन्य स्वरूप नहीं माना जाएगा तब तो आत्मा के विषय में ''अहं वाऽनहंवा'' इस प्रकार का संशय अथवा 'नैवाहम्'' इस प्रकार का विपर्यय होने लगेगा, पर यह सर्वप्रसिद्ध तथ्य है कि किसी को इस तरह का संदेह या विपर्यय नहीं होता है।[21] स्वयं शंकराचार्य कहते हैं—सर्वो हि आत्मास्तित्वं प्रत्येयेति, न नाऽहमस्मि इत्येके।[22] अतः आत्मा को नित्य स्वयंप्रकाश चिद्रूप मानना होगा। यदि आत्मा अपने ज्ञान के लिये अपने से अतिरिक्त अन्य पर निर्भर होने लगे तब तो उस ज्ञान से वियुक्त होने पर उसकी सत्ता ही संदिग्ध हो जाएगी। उपर्युक्त ढंग से अद्वैती यह सिद्ध करते हैं कि आत्मा स्वप्रकाश ज्ञान का आश्रय न होकर स्वयं स्वप्रकाश है। स्वप्रकाश ज्ञान उसका गुण न होकर स्वरूप ही

है।

यहाँ पूर्व में उठाये गये उस प्रश्न पर किंचित् विस्तार से चर्चा अपेक्षित होगी जिसमें यह समस्या उठायी गयी थी कि ज्ञान या अनुभव चूँकि सादिमान् हैं, सान्त हैं, भिन्न हैं, अनेक हैं अतः उनका भला आत्मा से अभेद कैसे हो सकता है, क्योंकि आत्मा को अनादि, अनन्त, अखण्ड व अद्वितीय कहा जाता है। अद्वैती इस प्रश्न के समाधान में कहते हैं कि ज्ञान या अनुभव उनके अनुसार अखण्ड, अद्वितीय, अनादि और नित्य है, यही स्वयंप्रकाश आत्मा या चेतना है। अनुभवों में स्वरूपतः कोई भेद नहीं है। विभिन्न घटज्ञान, पटज्ञान, रूप-स्पर्श-शब्दज्ञानादि में ज्ञान या संवित् एक ही है, घट, पट, रूप, स्पर्शादि ज्ञान के विषय हैं, ज्ञान नहीं। इसी तरह जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं में भिन्नता होने पर भी इनमें रहने वाला संविद् अभिन्न है। काल से संविद् का भेद नहीं सिद्ध होता बल्कि स्वयं कालभेद संविद् से ही सिद्ध होता है। कल के सूर्यप्रकाश में और आज के सूर्यप्रकाश में जैसे अंतर नहीं होता वैसे ही कल की चेतना और आज की चेतना वस्तुतः एक है। दिन, पक्ष, वर्ष, मास, आज, कल, अतीत, अनागत, आदि काल का भेद भले ही हों पर उनके बोधों में कोई भेद नहीं है। इसी तरह सम्यग् ज्ञान, संशय, मिथ्या ज्ञान इत्यादि भी ज्ञान के भेद नहीं हैं, ये भेद वस्तुतः बुद्धिगत हैं। चिद् रूप संवित् तो सम्यग् ज्ञान, संशय, मिथ्या आदि सभी ज्ञानों में समान है। एक अनन्त आकाश के समान संवित् या चेतना भी अनन्त एवं एक है। जैसे एक अनन्त आकाश में घटादि उपाधि के भेद से भेद प्रतीत होता है वैसे ही घट, पटादि, शब्द-स्पर्शादि विषय एवं तदाकारित बुद्धिवृत्तियों के भेद से ही संवित् में भेद है, वास्तव में उनमें कोई भेद नहीं है। न केवल संवित् या चेतना अखण्ड और एक है अपितु वह अनादि और नित्य भी है। यदि संवित् अनित्य और जायमान होता तो इसका प्रागभाव होता। पर हमें संवित् के प्रागभाव का बोध नहीं होता है। यदि यह बोध हो तब तो उससे संवित् का भाव ही सिद्ध होता है, अभाव नहीं। चूँकि संवित् में भेद नहीं, अतः एक संवित् का अभाव दूसरे से नहीं सिद्ध किया जा सकता। सुरेश्वराचार्य का कहना है कि प्रत्येक कार्य प्रागभावपूर्वक ही होता है। अब प्रागभाव की सिद्धि चूँकि संवित् से ही होती है, अतः संवित् का प्रागभाव नहीं है। यदि संवित् न हो तो प्रागभाव ही सिद्ध नहीं हो सकता और जब संवित् है ही, तब उसका प्रागभाव कैसे कहा जा सकता है—कार्यं सर्वैयतो दृष्टं प्रागभावपुरः सरम्। तस्याऽपि संवित्साक्षित्वात् प्रागभावो न संविदः।।[23] एवंप्रकारेण संवित् या ज्ञान अद्वैतियों के अनुसार नित्य, अखण्ड, एक स्वयंप्रकाशरूप चैतन्य तत्त्व है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि ज्ञान अपने मौलिक स्वरूप में ऐसा है तो घट, पट आदि अलग-अलग विषयों वाले उत्पत्ति-विनाश से युक्त विच्छिन्न,

क्रमिक और खण्ड रूप में ज्ञान की दैनिक जीवन में जो प्रतीति होती है उसकी व्याख्या कैसे होगी ? इस पर अद्वैतियों का कहना है कि जैसे एक अखण्ड आकाश में घट, पटादि के उपाधि भेद से भेद प्रतीत होता है वैसे ही आकाशवत् अनन्त, अखण्ड, नित्य ज्ञान में घट, पट आदि विषय एवं तदाकारित बुद्धिवृत्ति आदि उपाधि से भेद प्रतीत होता है। ज्ञान में दिखने वाला सादित्व, सान्तत्व और अनेकत्व बुद्धिवृत्तियों की उपाधि के कारण होता है जो वस्तुतः औपाधिक ही है। स्वभावतः तो चेतना जन्मादि विकार से रहित, स्वप्रकाश, नित्य और अखण्ड है। यहाँ ध्यातव्य है कि अद्वैती ज्ञांन शब्द के द्विविध अर्थों में भेद करते हैं। ज्ञान शब्द का मुख्य अर्थ चैतन्य मात्र है जो वस्तुतः आत्मा का स्वरूप है। यह नित्य, अजन्य, अखण्ड और स्वयंप्रकाश है। अपने मुख्य अर्थ में ऐसा होने पर भी ज्ञान व्यवहार में घट, पटादि पृथक्-पृथक् विषयों के खण्ड और अनित्य ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त होता है। घट, पटादि के जायमान अनित्य ज्ञान को वृत्तिज्ञान भी कहा जाता है। अद्वैतियों के अनुसार अन्तःकरण जो कि तैजस द्रव्य है वह इन्द्रियादि द्वारों से बाहर निकलकर घट, पटादि विषयों के पास जाकर तद् तद् आकार में परिणत हो जाता है। अन्तःकरण की यह विषयाकारा परिणति ही वृत्ति है। घट, पटादि के अनित्य, जायमान ज्ञान का अर्थ है इन घट पटादि के आकार में आकारित अन्तःकरणवृत्ति में ज्ञान का प्रतिबिम्बित होना। अब चूँकि अन्तःकरणवृत्तियाँ उत्पन्न-नष्ट होती रहती हैं और उनके विषय बदलते रहते हैं, अतः ज्ञान में सादित्व, सान्तत्व और वैभिन्य होता है। गौण या उपचरित अर्थ में ही ज्ञान कहे जाने वाले इस अनित्य, खण्ड या वृत्तिज्ञान का एक विषय होता है और एक आश्रय होता है। उत्पत्ति-विनाशशील और अन्तःकरण का परिणाम होने से विक्रिया रूप इस ज्ञान का आश्रय न तो चैतन्य रूप आत्मा हो सकता है जो कि निर्गुण, निष्क्रिय और अविकारी है और न अन्तःकरण जो कि जड़ है। चैतन्य स्वरूप आत्मा और अन्तःकरण के तादात्म्याध्यास से आकलित चिद्चिद्-ग्रन्थिरूप अहमर्थ जीव ही क्रियाविशेष परक ज्ञान का आश्रय है। सारा ज्ञान इसी जीव को होता है। अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य ही प्रमाता या जीव है। विषय के आकार में आकारित अन्तःकरण की वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य ही ज्ञान या प्रमाण है। अब यह प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय ये तीनों जिसके प्रकाश से प्रकाशित होते हैं, वह व्यक्ति का अधिष्ठान भूत प्रत्यगात्मस्वरूप साक्षी तत्त्व स्वयंप्रकाश नित्य कूटस्थ चैतन्य स्वरूप आत्मा या ब्रह्म है। यह समस्त प्रकाश का प्रकाश व स्वयंज्योतिस्वरूप है। यह अन्तःकरण, उसकी वृत्तियों और विषयों को एक साथ भासित करता है। उपनिषद् उसे हृदन्तर्गतज्योति यह कहकर अभिहित करता है।[24] यह प्रमाता का भी प्रमाता और ज्ञान का भी ग्रहीता है। इसी की ज्योति से

प्रमाता जीव यावत् प्रमेय जगत् को प्रकाशित करता है। यह उसका मूलभूत तत्त्व प्रत्यगात्मरूप साक्षिचैतन्य तत्त्व है। अपने अधिष्ठानभूत इसी स्वयंप्रकाश साक्षिचैतन्य पर अध्यस्त हो प्रमाता अपनी प्रमाणवृत्तियों से प्रमेयरूप जागतिक वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करता है। अर्थात् न तो प्रमाता में और न प्रमाण में स्वयं की ज्योति होती है। वस्तुतः ज्ञाता और ज्ञान, बुद्धि और बुद्धिवृत्तियाँ, प्रत्ययी और प्रत्यय ये सब के सब आत्मा रूप चेतना के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। बुद्धि और बुद्धिवृत्तियाँ स्वयं में जड़ हैं, चिदाभासहीन बुद्धि से घटादि में ज्ञातता नहीं उत्पन्न हो सकती। चैतन्य के परस्पराध्यास से ही बुद्धि में ज्ञातृत्व आता है और बुद्धिवृत्तियाँ उसके प्रतिबिम्ब से युक्त हो घट आदि में ज्ञातता उत्पन्न करने में समर्थ होती हैं। न्याय-वैशेषिक-मीमांसा-बौद्ध आदि के विपरीत अद्वैत चिंतकों ने चेतना के सम्बन्ध में इस महत्त्वपूर्ण तथ्य का उद्घाटन किया कि चेतना बुद्धि से भी सूक्ष्म तत्त्व है और कि बुद्धि में उसका प्रकाशकत्व नहीं है। चैतन्याभास से युक्त हो ही बुद्धिवृत्तियाँ विषय प्रकाशन में समर्थ होती हैं। अर्थात् जहाँ अद्वैत (सांख्य भी) इतर परम्परा में बुद्धि, ज्ञान, संवित्, चेतना ये समानार्थक हैं, अद्वैत चिन्तकों ने इस महत्त्वपूर्ण तथ्य का उद्घाटन किया कि चेतना और बुद्धि भिन्न-भिन्न हैं। वास्तविक अर्थों में ज्ञान बुद्धि से अलग है। बुद्धि का भी ग्राहक और प्रकाशक जो तत्त्व है और जिसके प्रकाश से बुद्धि तदवत् (चेतन) प्रतीत होता है वह चैतन्य तत्त्व भिन्न है। वास्तविक ज्ञान शुद्ध चैतन्य है। चिदाभासयुक्त बुद्धि में ज्ञान शब्द का प्रयोग उपचारतः ही होता है।[25] जैसे जल में सूर्य का बिम्ब एवं उष्णता प्रतीत होने पर भी वह जल का धर्म नहीं है, वैसे ही बुद्धि में बोध या स्फुरण प्रतीत होने पर भी वस्तुतः वह आत्मा का ही स्वरूप है। शंकराचार्य ने बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य में विस्तार से इस बात को सिद्ध करने का प्रयास किया है कि प्रकाशकता बुद्धिविज्ञानों में नहीं है, बुद्धि से भी परे व उसका अवभासक स्वयंप्रकाश चित् तत्त्व अलग ही है।[26] बुद्धि भिन्न है और बोध भिन्न है। चित्त अलग है और चित् भिन्न है। इसी तरह प्रमाता जीव से भिन्न वास्तविक ज्ञाता रूप आत्मा कोई और ही है। वही शुद्ध विषयी है, प्रमाता का भी प्रमाता और द्रष्टा का भी द्रष्टा है। सही स्थिति तो यह है कि वह ज्ञाता, ज्ञान ओर ज्ञेय की त्रिपुटी से परे है। फिर भी समझने के लिये यह तो कहा ही जा सकता है कि वह प्रमाता का भी प्रमाता है। उसी की ज्योति से प्रमाता में प्रमातृत्व आता है। प्राभाकरादि की यह गलत समझ है कि 'अहं घटं जानामि' में अहम् रूप में भासित होने वाला ही आत्मा है। यह तो अहंकार है, आत्मा नहीं। वास्तविक आत्मा तो इस 'अहं' को भी प्रकाशित करने वाला है, उसका अधिष्ठान तत्त्व है। यह सही है कि 'उल्मुकं दहति' 'अयो दहति' इत्यादि प्रयोगों में उल्मुक या लोहादि में दाहकत्व का व्यवहार होता है, पर देखा जाए तो केवल

उल्मुक या लोहादि में दाहकत्व का व्यवहार नहीं बन सकता, वास्तविक दाहकत्व का पर्यवसान तो वह्नि में ही होता है। इसी तरह 'अहं जानामि' इत्यादि रूप से साभास अन्तःकरण या अहंकार में ज्ञातृत्व-आत्मत्व का व्यवहार होता है, पर अहंकार तो जड़ है, चित्प्रकाशाधीन है अतः ज्ञातृत्व-आत्मत्व का पर्यवसान नित्यबोध में ही वस्तुतः होता है।

एवं प्रकारेण अद्वैत कृत अनुभव की मीमांसा एक नित्य स्थायी स्वयंप्रकाश साक्षी चेतना की सत्ता को आपादित करती है जो हमारे समस्त अनुभव का अंतर्यामी अधिष्ठान तत्त्व है। यह चेतना ही आत्मा है। चेतना स्वरूपतः एक, अखण्ड, अजन्मा व नित्य है। जैसा कि पीछे हम लोगों ने देखा कि चेतना अनित्य न होकर नित्य है। साथ ही इस चेतना को अपने से पृथक् किसी अन्य आश्रय तत्त्व की अपेक्षा नहीं है। यह स्वयं में मौलिक है, स्वतःसिद्ध है, स्वयंप्रकाश है। चेतना की धर्म या गुण के रूप में अभिकल्पना अथवा क्रिया, सम्बन्ध या द्रव्य के रूप में कल्पना विरोधों से भरी है। चेतना वस्तुतः स्वयं में मौलिक व आधारभूत तत्त्व है। यदि समस्त जगत् के अवभासक प्रकाशस्वरूप इस चित् तत्त्व की सत्ता न मानी जाए अथवा इसे स्वप्रकाश स्वरूप न माना जाए तो इस जगत् में कुछ भी प्रकाशित न हो सकेगा और जगदान्ध्य प्रसङ्ग प्रसक्त होगा। बौद्ध विज्ञानवादी चेतना को अनित्य व क्षणिक मानते हैं। पर अलग-अलग, अनेक, क्षणिक पारमाणविक संवेदनों के द्वारा मानवीय ज्ञान और व्यवहार की व्याख्या नहीं हो सकती, इसके लिये इसके आधार में नित्य स्थायी चेतन आत्मा को मानना होगा। न्याय-वैशेषिक, प्राभाकरादि क्षणिक विज्ञानवाद का खंडन करते हुए नित्य स्थायी आत्मा की सत्ता को आवश्यक बताते हैं। पर चेतना यदि आत्मा का स्वरूप न होकर आगन्तुक गुण, क्रिया या धर्म मात्र है तो फिर ऐसे आत्मा को स्वीकार करने से क्या लाभ ? एक समग्र अनुभवविज्ञान अनुभव के अधिष्ठान के रूप में जिस स्थायी आत्म तत्त्व की सत्ता की पूर्वपेक्षा को आपादित करता है वह ज्ञानाधिकरण रूप आत्मा न होकर स्वयंप्रकाश चैतन्य रूप आत्मतत्त्व है। चेतना इसका गुण, धर्म आदि न होकर स्वरूप ही है। अनुभव के अधिष्ठान के रूप में इस नित्य स्थायी स्वयंप्रकाश चैतन्यरूप आत्मतत्त्व को स्वीकार कर अद्वैती न केवल जाग्रतकालीन अनुभव, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा तथा प्रतिसन्धान की व्याख्या करने में समर्थ हो जाते हैं, अपितु इससे स्वप्न व सुषुप्ति की भी अधिक संगत व्याख्या देने में समर्थ होते हैं। अलग-अलग अनेक विच्छिन्न संवेदनों के द्रष्टा के रूप में इस नित्य स्वयं प्रकाश साक्षी चेतना को स्वीकारने से जहाँ एक ओर घट, पटादि विभिन्न वस्तुओं के ज्ञान की तथा इस ज्ञान के प्रति होने वाले नियत अपरोक्षता की अधिक सफल व्याख्या संभव होती है वहीं दूसरी ओर स्वयं प्रमाता, प्रमाण तथा प्रमाता

की अवस्थाभूत अन्य मानसिक अवस्थाओं में होने वाली नित्य अपरोक्षता की भी संगत व्याख्या हो जाती है। अनुभव का तथ्य इस बात को सिद्ध करता है कि प्रमाता, प्रमाण तथा प्रमाता की सुखादि अन्य मानसिक अवस्थायें एक पल के लिये भी अज्ञात नहीं रहती। वे नियत प्रत्यक्ष होती हैं। अब अद्वैतियों का कहना है कि साक्षी स्वरूप स्वयंप्रकाश चेतना के द्वारा नियत प्रकाशित होने के कारण ही वे हमारे लिये एक पल भी अप्रकाशित नहीं रहती।

अनुभव का तथ्य अनुभविता की अपेक्षा को आपादित करता है। विषय जगत् का प्रकाशन किसी ज्ञाता विशेष को, विषयी विशेष को होता है। इस ज्ञाता, विषयी या प्रमाता की उपलब्धि 'अहं' के रूप में सर्वप्रसिद्ध है।'अहं घटं जानामि' में अहं के रूप में भासित होने वाला प्रमाता ही है। पर यह प्रमाता 'मैं' वास्तविक आत्मा नहीं है। 'मैं' में ज्योति स्वयं की नहीं है। प्रमाता को भी प्रकाशित करने वाला कोई और तत्त्व है। वास्तविक स्वयंप्रकाश वही है। उसी के प्रकाश से प्रमाता अन्य विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है तथा स्वयं प्रकाशित होता है। प्रमाता स्वयं अपने अस्तित्व के बारे में कभी भी संदेह, विपर्यय आदि से युक्त नहीं होता। हम कभी भी स्वयं अपने अस्तित्व के बारे में संदेह से युक्त नहीं होते। इसका कारण यह है कि अहंकारात्मक वृत्ति साक्षिचैतन्य के प्रकाश से निरंतर प्रकाशित होती रहती है। अर्थात् प्रमाता और उसकी अवस्थाभूत ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा आदि को प्रकाशित करने वाला तत्त्व कोई और है जो प्रमाता से भी परे और उसका भी अधिष्ठान भूत तत्त्व है। परम्परा इसे 'साक्षी' कहती है। वास्तविक ज्योति इसी की है। यह प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण तीनों का एक साथ भासक है।[27] यह साक्षी प्रमाता जीव का अंतर्यामी वह अधिष्ठान तत्त्व है जो न केवल उसकी सत्ता का आधार है अपितु जिसके प्रकाश से प्रकाशित हो ही उसके समस्त व्यापार संपादित होते हैं। पंचदशी में कहा गया है कि कर्त्ता (मैं-पन के अभिमानी जीव), क्रिया और समस्त दृश्यवर्ग को नित्य चैतन्य का जो एक रूप एक साथ प्रकाशित करता है वही साक्षी है। नृत्यशाला स्थित दीपक जैसे प्रमुख प्रेक्षक, सभा व नृत्यकारों को एक साथ प्रकाशित करता है और उनमें से किसी के न रहने पर स्वयं ही प्रकाशित होता रहता है वैसे ही साक्षी प्रमाता (अहमर्थ जीव), बुद्धि और विषयों को प्रकाशित करता है और उनके न रहने पर सुषुप्ति आदि में स्वयं पहले की भांति प्रकाशित रहता है।[28] साक्षि रूप चेतना नित्य कूटस्थ है। इसका कभी अभाव नहीं होता है। यह प्रमाता जीव है जो कि सोता है, स्वप्न देखता है, जागता है, साक्षी तो सदा जागरूक रहता है, अपने नित्य प्रकाश से प्रकाशित होता रहता है। साक्षी स्वरूप शुद्ध ज्ञाता की स्वरूपभूता ज्ञप्ति नित्य है। सुषुप्ति में जो आत्मा शब्दादि को नहीं जानता, वह जानता हुआ ही नहीं जानता है। अन्य ज्ञेय नहीं

है—इसीलिये नहीं जानता, स्वरूपभूत ज्ञप्ति तो रहती ही है। साक्षी रूप द्रष्टा की दृष्टि का विपरिलोप नहीं होता, वह नित्य द्रष्टा है—यद् वै तन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति न हि द्रर्ष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्।[29] इस प्रकार जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों ही अवस्थाओं में अव्यभिचरित रूप से अनुवर्तमान रहने वाला जीव का जो अधिष्ठानभूत चेतन तत्त्व है वही साक्षी है। यह साक्षी ही वास्तविक आत्मा है। इस साक्षिचैतन्य पर अध्यस्त हो ही प्रमाता जीव अपनी प्रमाणवृत्तियों से जगत् का ज्ञान प्राप्त करता है। साक्षी प्रमाता का भी प्रमाता और दृष्टि का द्रष्टा है। समस्त ज्ञान व्यापार और स्वयं ज्ञाता को भी **साक्षात् देखने वाला** जो है वह साक्षी है। स्वयं जीव भी साक्षी के प्रति साक्ष्य ही है। जीव ही क्यों इस संसार में सब कुछ भाव या अभाव कोई भी वस्तु, प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण, नामरूप में अभिव्यक्त होने वाला यह सकल जगत् वास्तव में इस साक्षी के साक्ष्य होते ही सिद्ध हैं।[30] यदि सकल जगत् का अवभासक यह साक्षी रूप चैतन्य न हो तो इस संसार में कुछ भी प्रकाशित नहीं हो पाएगा और जगद् घोर अंधकार में लीन हो जाएगा। यह साक्षी रूप आत्मा जीव का अंतरंगभूत उसकी प्रत्यगात्मा है और इस कारण यह नितांत अपरोक्ष है। व्यक्ति अपने साक्षी स्वरूप आत्मा का निषेध नहीं कर सकता, सारे निषेधों और संदेहों से परे यह स्वतःसिद्ध और स्वयंप्रकाश है। प्रमाता को साक्षिचेतना द्वारा भासित मानने से और इस साक्षिचेतना को स्वयंप्रकाश मानकर अद्वैती आत्म-ज्ञान की समस्या का सफल समाधान देने में समर्थ होते हैं। एक तरफ जहाँ वे बौद्धमत में प्रसक्त होने वाले कर्तृ-कर्म विरोध से बच निकलते हैं वहीं दूसरी तरफ बौद्धेतर परम्परा में प्रसक्त होने वाले अनवस्था और जगदान्ध्यप्रसङ्ग के दोषों से भी साफ बच जाते हैं।

जैसे एक नित्य कूटस्थ स्वयंप्रकाश साक्षी स्वरूप चैतन्यात्मा द्वारा निरंतर प्रकाशित होने से प्रमाता स्वयं अपने अस्तित्व के बारे में संदेह, विपर्यय आदि से युक्त नहीं होता उसी तरह चूंकि प्रमाता की अवस्थाभूत सुख, दुःख, इच्छा, ज्ञानादि भी चूंकि इस साक्षिचेतना द्वारा अनवरत प्रकाशित रहती है अतः इनके बारे में भी संदेहादि का अवसर ही नहीं होता। स्वयंप्रकाश साक्षी स्वरूप चेतना की सत्ता को स्वीकार कर अद्वैती न केवल आत्म-ज्ञान की समस्या का समाधान देने में समर्थ हो जाते हैं अपितु ज्ञान के ज्ञान की उस दुरुह समस्या का भी उचित समाधान देने में सफल होते हैं, जो न्याय-वैशेषिक, मीमांसा, बौद्धादि में असमाधेय ही रह जाता है। देखा जाए तो ये दोनों समस्यायें वस्तुतः भिन्न-भिन्न न होकर आपस में इतनी जुड़ी हुयी हैं कि एक का समाधान बिना दूसरे के समाधान के असंभव है। अद्वैतेतर दर्शनों में बहुधा इन दोनों समस्याओं को अलग-अलग उठाया गया है। खासकर न्याय, वैशेषिक, प्राभाकर और भाट्टों ने तो दोनों समस्याओं को भिन्न-भिन्न रूप में ही

प्रस्तुत कर इनके समाधान का प्रयास किया है। पर अद्वैत दार्शनिकों के लिये स्थिति स्पष्ट है। मन का ग्रहण जैसे होगा वैसे ही मन की अवस्थाओं का। प्रमाता की अपरोक्षता की व्याख्या जैसे होगी वैसे ही प्रमाता की अवस्थाभूत सुख, दुःख, इच्छा, ज्ञानादि की अपरोक्षता की व्याख्या होगी। जो साक्षी प्रमाता का भासक है वही उसके सुख, दुख, इच्छा, ज्ञानादि का। ज्ञाता और ज्ञान, विषयी और विषय, प्रत्ययी और प्रत्यय समान भाव से अपने अधिष्ठान भूत स्वयंप्रकाश साक्षी चेतना द्वारा प्रकाशित होते रहते हैं। इसी कारण वे हमारे लिये नियत अपरोक्ष होते हैं। जब भी हमें घट, पटादि का ज्ञान होता है तो यह ज्ञान एक पल के लिये भी हमारे लिये अज्ञात नहीं रहता। ज्ञान हो और वह अज्ञात रहे, यह असंभव है। अज्ञात ज्ञान स्वयं में वदतोव्याघात है। ज्ञान की नित्य अपरोक्षता का कारण यह है कि हमारे विज्ञान सीधे साक्षी चेतना द्वारा निरंतर भासित होते रहते हैं। साक्षिचैतन्य द्वारा नियत अपरोक्ष होने के कारण हमें अपने ज्ञान की अपरोक्षता की स्पष्ट अनुभूति होती है तथा हम उसके बारे में संदेह, विपर्यय आदि से युक्त नहीं होते हैं। इसी साक्षिचैतन्य के प्रकाश से घट, पटादि के विभिन्न विज्ञान जो कि वस्तुतः अन्तःकरण के वृत्तिविशेष हैं वे प्रकाशित होते हैं अपितु इसी के प्रकाश से प्रकाशित होने के कारण वृत्तिज्ञान अपने-अपने विषयों को प्रकाशित करने में सक्षम होते हैं, अन्यथा घट, पट आदि की वृत्तियाँ तो स्वयं में जड़ हैं। अद्वैतियों के अनुसार घट, पट आदि का होने वाला उत्पन्न विनाश धर्मा अनित्य ज्ञान वस्तुतः अन्तःकरण का धर्म है। अद्वैत वेदान्त की परम्परा में काम, संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, धी (वृत्तिज्ञान) ये सभी मन (अन्तःकरण) के ही रूप कहे गये हैं।[31] अब मन (अन्तःकरण) और उसके धर्म सुख, दुःख, इच्छा, ज्ञानादि सीधे साक्षी द्वारा भासित होते हैं। जब भी हमें किसी घट, पटादि का ज्ञान होता है तो हम यह भी जानते हैं कि हमें घट, पटादि का ज्ञान हो रहा है। यहाँ घट, पटादि का ज्ञान किसी दूसरे ज्ञान द्वारा प्रकाशित नहीं होता है और न ही यह स्वयं अपने को प्रकाशित करता है जैसा कि बौद्ध समझते हैं। वस्तुतः यह ज्ञान किसी दूसरे प्रत्यक्ष, अनुमानादि द्वारा भासित न होकर सीधे साक्षी द्वारा भासित होता है। मन और मानसिक अवस्थायें सीधे साक्षी द्वारा भासित होती हैं। साक्षी द्वारा भासित होने के कारण ही उनके प्रति अपरोक्षता का भाव रहता है। न तो सुख, दुःख, इच्छा आदि और न ही (घट-पटादि) का ज्ञान स्वयंप्रकाश है, जैसा कि बौद्ध समझते हैं। ये चूँकि साक्षिचेतना द्वारा निरंतर भासित होते रहते हैं इसीलिये ये नियत प्रत्यक्ष होते हैं। यहाँ ध्यातव्य है कि घट, पटादि बाह्य वस्तुओं के विपरीत ज्ञान, सुख आदि मानसिक हैं। और मन एवं मानसिक अवस्थाओं की यह विशेषता होती है कि वे नियत प्रत्यक्ष होते हैं। ज्ञान कभी अज्ञात नहीं रहता।

सुख कभी भी अननुभूत नहीं होता। हमें ज्ञान हो और हम उस ज्ञान से अनजान रहें, यह असंभव है। दर्द हो और उसकी चेतना न हो, यह असंभव है। ये नियत अपरोक्ष हैं और ऐसा इसलिये होता है कि अन्तःकरण सात्त्विक और तैजस स्वभाव का होता है। सात्त्विक और तैजस होने से वह इतना स्वच्छ होता है कि साक्षिचेतना के प्रतिबिम्ब से नियत युक्त ही रहता। साक्षिचेतना असंग होने के बावजूद अन्तःकरण से सम्बन्धित रहती है। अतः साक्षिचेतना रूप स्वयंप्रकाश आत्मा के प्रकाश से विरहित न होने के कारण अन्तःकरण और उसकी वृत्तियाँ सर्वदा भासित रहते हैं।[32]

यहाँ ध्यातव्य है कि अद्वैतियों के अनुसार न केवल घट-पटादि के वृत्तिज्ञान अपितु सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष आदि भी सीधे स्वयंप्रकाश साक्षी चैतन्य द्वारा नियत रूप से भासित होने के कारण सर्वदा अपरोक्ष हैं। सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष आदि दूसरे मानसिक भाव भी ज्ञान के समान ही एक पल के लिये भी अप्रकाशित नहीं रहते। जैसे यह असंभव है कि हमें कोई ज्ञान हो और हम उससे अनजान रहें, उसी तरह यह असंभव है कि हमें दर्द हो और उसकी अनुभूति न हो। वस्तुतः जैसे ज्ञान (धी) मन का धर्म है वैसे ही सुख, दुःख, इच्छा, गर्वादि दूसरे भी मन के धर्म हैं। अब मन और मानसिक अवस्थायें अपने सात्त्विक और तैजस स्वभाव के कारण इतनी स्वच्छ होती हैं कि स्वयं-प्रकाश साक्षिचैतन्य के प्रतिबिम्ब से सर्वदा युक्त ही रहती हैं, उन्हें अपने प्रकाशन के लिये किसी अन्य बुद्धिवृत्ति की अपेक्षा नहीं रहती। जब भी हमें किसी घट, पटादि का ज्ञान होता है, हममें कोई सुख उत्पन्न होता है या कोई इच्छा उत्पन्न होती है तो इस ज्ञान, सुख, इच्छादि के ग्रहण के लिये किसी अन्य बुद्धिवृत्ति की आवश्यकता नहीं होती। इनके ग्रहण के लिये किसी अन्य इन्द्रिय, लिङ्गज्ञान आदि प्रमाणव्यापारों की अपेक्षा नहीं होती, बिना इनकी अपेक्षा के ही ये सीधे साक्षी द्वारा भासित होते हैं। अन्तःकरण और उसके परिणाम सीधे साक्षी द्वारा ही भासित होते हैं। साक्षिचेतना द्वारा प्रकाशित होने से ही उनके प्रति अपरोक्षता का भाव रहता है। न तो सुख, दुःख आदि और न ही (घट पटादि का) ज्ञान स्वयंप्रकाश है जैसा कि बौद्ध समझते हैं। ये चूँकि साक्षिचेतना द्वारा निरंतर भासित होते रहते हैं, इसीलिये ये नियतप्रत्यक्ष हैं। वस्तुतः स्वयंप्रकाश साक्षिचैतन्य की सत्ता की स्वीकृति के पीछे अद्वैतियों का मुख्य तर्क ही यह रहा है कि यह प्रमाता व उसकी अवस्थाभूत ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, संकल्प आदि का नियत रूप से भासन करता है। मन एवं मन की अवस्थाओं का ग्रहण स्वयं मन द्वारा भला कैसे हो सकता है ? प्रमाता और उसकी अवस्था भूत ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, संकल्प आदि का ग्रहण स्वयं प्रमाता द्वारा नहीं हो सकता है। यदि ऐसा माना जाए तब तो कर्तृ-कर्म विरोध प्रसक्त हो जाता है। फिर प्रमाता में स्वयं की ज्योति भी तो नहीं है, जैसा कि पीछे हमने देखा

है। अस्तु, यही सिद्ध होता है कि प्रमाता और उसकी अवस्थाभूत ज्ञान, सुख, दुःख आदि सीधे स्वयंप्रकाश साक्षिचैतन्य द्वारा नियत रूप में भासित होते हैं, अतः उनके एक पल के लिये भी अप्रकाशित न रहने के बावजूद वास्तविक स्वयंप्रकाश तो साक्षिचैतन्य स्वरूप आत्मा ही है।

संदर्भ एवं टिप्पणी

1. शंकराचार्य, बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य, 1/4/10.
2. न ह्यविकृत्य संयोगि द्रव्यं गुणः कश्चिदुपयन्नपयन्वा दृष्टः क्वचित्। न च निरवयवं विक्रियमाणं दृष्टं क्वचिदनित्यगुणाश्रयं वा नित्यम्।
   शंकराचार्य, बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य, 1/4/7.
3. शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्र भाष्य, 2/3/18.
4. शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्र भाष्य, 2/3/18.
5. शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्र भाष्य, 2/3/18.
6. नित्यचैतन्यस्वरूपत्वे घ्राणाद्यानर्थक्यमिति चेत्, न, गन्धादिविषयविशेषपरिच्छेदार्थत्वात्। तथा हि दर्शयति–'गन्धाय घ्राणम्' इत्यादि।
   शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्र भाष्य, 2/3/18.
7. शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्र भाष्य, 2/3/18.
8. वाचस्पति मिश्र, भामती, 2/3/18.
9. शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्र भाष्य, 2/3/18.
10. शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्र भाष्य, 2/3/13 तथा माण्डूक्य कारिका भाष्य, 3/5.
11. "असङ्गो न हि सज्जते" (बृ. उ. 3/9/26) "असक्तं सर्वभृत" (गीता 13/14) इति हि श्रुतिस्मृती। न्यायश्च–गुणवद्गुणवता संसृज्यते, नातुल्यजातीयम्। अतः निर्गुणं निर्विशेषं सर्वविलक्षणं केनचिदप्यतुल्यजातीयेन संसृज्यत इत्येतत् न्यायविरुद्धं भवेत्।
    शंकराचार्य, केनोपनिषद्–पद-भाष्य, 2/4.
12. शंकराचार्य, माण्डूक्यकारिका भाष्य, 3/5.
13. देखें, एस. के. सक्सेना, नेचर ऑफ कॉन्शसनेस इन हिन्दू फिलॉसफी, नन्द किशोर एण्ड ब्रदर्स, बनारस, 1944, पृ. 56।
14. एवमपि प्रदीपप्रकाशयोरिवाऽऽत्मचैतन्ययोरभेद एवाऽङ्गीकार्यः, प्रदीपेन प्रकाशितमितिवन्मयाऽवगतमिति व्यवहारदर्शनात्। आत्मचैतन्योर्भेदे व्यवहारोऽयं काष्ठेन प्रकाशितमितिवदुपचरितः स्यात्।
    विद्यारण्य मुनि, विवरणप्रमेयसंग्रह, सं. श्री ललिता प्रसाद, अमर पब्लिकेशन्स, वाराणसी, 1999, पृ. 199.
15. गुणत्वपक्षे प्रदीपगतभास्वररूपवदाश्रयजन्मव्यतिरेकेण जन्मासम्भवान्नित्यतयाऽऽत्मन्यव्यभिचारबलादर्थत आत्मैवाऽनुभवः स्यात्। अनुभवाधीनसिद्धिक आत्मा कथमनुभव इति चेद्; न, तथा सति घटवदनात्मत्वप्रसङ्गात्।
    विद्यारण्य मुनि, विवरणप्रमेयसंग्रह, पृ. 200.
16. न च नीलपीताद्यनुभवानां भिन्नत्वाद् नाऽऽत्मस्वरूपतेति वाच्यम्, स्वरूपतोऽनुभवेषु

भेदाप्रतीतेः।

विद्यारण्य मुनि, विवरणप्रमेयसंग्रह, पृ. 200.

17. देखें, वहीं, पृ. 200.
18. शंकराचार्य, केनोपनिषद् पद-भाष्य, 2/4.
19. विद्यारण्य मुनि, विवरणप्रमेयसंग्रह, पृ. 292.
20. चित्सुखाचार्य, तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 39.
21. नह्यात्मन्यहमनहं वेति कश्चित्संदिग्धे, नैवाहमिति वा विपर्यस्यति।
    चित्सुखाचार्य, तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 39.
22. शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्र भाष्य, 1/1/1.
23. तस्मादेकैव संविदनादिः, अनादित्वं च प्रागभावरहितत्वात्
    तदुक्तं सुरेश्वरवार्तिके–
    'कार्यं सर्वैर्यतो दृष्टं प्रागभावपुरःसरम्।
    तस्याऽपि संवित्साक्षित्वात् प्रागभावो न संविदः।।' इति।
    विद्यारण्य मुनि, विवरणप्रमेयसंग्रह, पृ. 201-202.
24. ...योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिःपुरुषः...।
    बृहदारण्यकोपनिषद्, 4/3/7.
25. ज्ञानावच्छेदकत्वाच्च वृत्तौ ज्ञानत्वोपचारः। तदुक्तं विवरणे–'अन्तःकरणवृत्तौ ज्ञानत्वोपचारात्' इति।
    धर्मराजाध्वरीन्द्र, वेदान्तपरिभाषा, पृ. 25.
26. शंकराचार्य बुद्धि से भी परे बुद्धि की अवभासिका स्वयंप्रकाश आत्मज्योति की सत्ता नकारने वाले लोगों को वैदिक श्रेयमार्ग का विरोधी घोषित करते हैं। शंकर की दृष्टि स्पष्ट है। वेद एक स्वर से स्वयंप्रकाश चैतन्य तत्त्व की महिमा गाते हैं। शंकराचार्य कहते हैं–सर्वा एताः कल्पना बुद्धिविज्ञानावभासकस्य व्यतिरिक्तस्यात्मज्योतिषोऽपह्नवादस्य श्रेयोमार्गस्य प्रतिपक्षभूतावैदिकस्य (बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य, 4/3/7)।
27. प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयं प्रमितिस्तथा।
    यस्य प्रसादात्सिध्यन्ति तत्सिद्धौ किमपेक्ष्यते।।
    सुरेश्वराचार्य, यहाँ ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य-सत्यानन्दी-दीपिका, पृ. 481 से उद्धरित।
    नित्यां संविदमाश्रित्य स्वतस्सिद्धामविक्रियाम्।
    सिद्धायन्ते धियो बोधास्तांश्चाश्रित्य घटादयः।।
    सुरेश्वराचार्य, नैष्कर्म्यसिद्धि, II /115.
    घटैकाकारधीस्था चिद् घटमेवाऽवभासयेत्।
    घटस्य ज्ञातता ब्रह्मचैतन्येनावभासयते।।
    विद्यारण्य स्वामी, पंचदशी, 8/4.
28. कर्तारं च क्रियां तद्वद्व्यावृत्तविषयानपि।
    स्फोरयेदेकयत्नेन योऽसौ साक्ष्यत्र चिद्वपुः।।
    इक्षे श्रृणोमि जिघ्रामि स्वादयामि स्पृशाम्यहम्।
    इति भासयते सर्वं नृत्यशालास्थदीपवत्।।
    नृत्यशालास्थितो दीपः प्रभुं सभ्यांश्च नर्तकीम्।

दीपयेदविशेषेण तदभावेऽपि दीप्यते।।
अहङ्कारं धियं साक्षी विषयानपि भासयेत्।
अहङ्काराद्यभावेऽपि स्वयं भात्येव पूर्ववत्।।
विद्यारण्य स्वामी, पंचदशी, 10/9-12.

29. बृहदारण्यकोपनिषद्, 4/3/23.

30. सर्वं वस्तु ज्ञाततया अज्ञाततया वा साक्षिचैतन्यस्य विषय एव। प्रकाशात्मन्, पंचपादिकाविवरण, गर्वन्मेंट ओरिएंटल मेनुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, मद्रास, 1958, पृ. 83-84.

यतोऽसिद्धानि सिद्ध्यन्ति भावाभावौ यदाश्रयौ।
योऽनन्यार्थो यदर्थं च सर्वं योऽनन्यदृक् सदा।।
प्रमेयादित्रयं यस्मात् परस्परविलक्षणम्।
आत्मानं लभते सत्यः सोऽध्यक्षोऽत्राभ्युपेयताम्।।
बृहदारण्यकोपनिषद् सम्बन्धभाष्यवार्तिक, 1083-4.

31. वृत्तिरूपज्ञानस्य मनोधर्मत्वे च 'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' (बृ. 1/5/3) इति श्रुतिर्मानम्, धीशब्देन वृत्तिरूप-ज्ञानाभिधानात्।
धर्मराजाध्वरीन्द्र, वेदान्तपरिभाषा, पृ. 27.

32. **अनुभवस्तु जडोऽपि स्वच्छतया चैतन्यबिम्बोद्ग्रहणाय नानुभवान्तरमपेक्षते,** येनानवस्था भवेत्। न ह्यस्ति संभवोऽनुभव उत्पन्नश्च, न च प्रमातुः प्रत्यक्षो भवति, यथा नीलादिः। वाचस्पति मिश्र, भामती, 2/2/28. स्वप्रकाशसाक्षिणि अन्तःकरणप्रतिबिम्बिते सत्यन्तःकरण-परिणामस्य भास्वरस्य स्वत एव साक्षिप्रतिबिम्बाधारतया सिद्धिसंभवान्न परिणामान्तराद-परोक्षतेति ग्रन्थार्थः। यद्यनुभवापरोक्ष्यं परिणामान्तरात्, तर्ह्यनुभव उदितोऽपि कदाचिन्न प्रकाशेत, न चैवम्।
देखें, वहीं, अमलानन्द, वेदान्तकल्पतरु, 2/2/28.
उपरोक्त प्रकरण में वेदान्तकल्पतरुकार इस सम्बन्ध में वार्तिककार की उस उक्ति का उद्धरण देते हैं जिसमें वे कहते हैं कि जैसे आकाश वस्तु के स्वाभावानुसार कुम्भ उत्पन्न होते ही आकाश से पूर्ण होता है, वैसे ही वृत्ति रूप ज्ञान (धी) उत्पन्न होते ही स्वाभाविक आकाशकल्प साक्षी चैतन्य से पूर्ण रहता है–
तदाहुरत्रभवन्तो वार्तिककाराः–वियद्वस्तुस्वभावाऽनुरोधादेव न कारकात्। वियत्संपूर्णतोत्पत्तौ कुम्भस्यैवं दशा धियाम्।। इति।
अमलानन्द, वेदान्तकल्पतरु, 2/2/28.

❒

11

संवित्स्वप्रकाशवाद : गहन ज्ञानमीमांसा से तत्त्वविद्या और मोक्षशास्त्र की अद्वैत यात्रा

पीछे हम लोगों ने देखा कि अद्वैत मत में ज्ञाता और ज्ञान, प्रमाता और प्रमाण, प्रत्ययी और प्रत्यय नियत रूप से प्रकाशित होने के बावजूद स्वयंप्रकाश नहीं हैं। इनको प्रकाशित करने वाला इनका साक्षी चैतन्य स्वरूप आत्मा ही वास्तविक स्वयंप्रकाश है। वही वस्तुतः साक्षात् अपरोक्ष है। न तो सुख, दुःख, इच्छा आदि ही और न ही वृत्तिज्ञान स्वयंप्रकाश है। साक्षी रूप चेतना द्वारा भासित होने से ही उनमें अपरोक्षता आती है। घट, पटादि का अनित्य जायमान ज्ञान जो कि वृत्तिज्ञान है, वह स्वप्रकाश नहीं है। वह तो वस्तुतः जड़ है। घट, पटादि के अनित्य विज्ञान वस्तुतः घटाकारित, पटाकारित बुद्धिवृत्तियाँ हैं। और वृत्ति तो सचमुच जड़ है। चेतना के उपराग से, आरोहण से ही वह चेतन प्रतीत होती है। वास्तविक स्वप्रकाश तो चेतना है। यह चेतना ही आत्मा या परमतत्त्व ब्रह्म है। वास्तविक अर्थों में वही संवित् या ज्ञान है। अद्वैत मत में ज्ञान शब्द द्विविध अर्थों में प्रयुक्त होता है। एक आत्मा का स्वरूपभूत नित्य ज्ञान दूसरा घट, पटादि का अनित्य जायमान ज्ञान। प्रथम को शंकराचार्य पारमार्थिक और द्वितीय को लौकिक बताते हैं।[1] इन्द्रियादि से जन्य, खण्ड, सविषयक अनित्य ज्ञान को भी प्रकाशित करने वाला उनका अंतर्यामी सारभूत अजन्य, अखण्ड, निर्विषयक नित्य ज्ञान है। नित्य ज्ञान अनित्यज्ञान का ग्राहक व उसका अधिष्ठान है।[2] पीछे हम लोगों ने देखा कि किस तरह शंकराचार्य घट, पटादि के अनित्य क्षणिक विज्ञानों को प्रकाशित करने वाले तत्त्व के रूप में एक नित्य स्वयंप्रकाश साक्षिचैतन्य की सत्ता को अनिवार्य बताते हैं। अस्तु, अद्वैतियों के अनुसार घट, पटादि का अनित्य जायमान ज्ञान स्वयंप्रकाश नहीं है। यह तो अन्तःकरण का विषयाकार परिणाम मात्र है। आत्मा के नित्य स्वरूपभूत ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित होने पर ही ये अन्तःकरणवृत्तियाँ विषय के प्रकाशन में समर्थ होती हैं। सुरेश्वराचार्य नैष्कर्म्यसिद्धि में कहते हैं कि घट, पटादि को प्रकाशित करने

वाली बुद्धि वस्तुतः नित्य चैतन्य तत्त्व के प्रकाश से ही ऐसा कर पाती है। सुरेश्वर कहते हैं "नित्य, स्वयंप्रकाश, कूटस्थ चैतन्य के आश्रयण से वृत्तिज्ञान संभव हो पाता है और इस वृत्तिज्ञान से घट पटादि वस्तु प्रकाशित होते हैं।"[3] अस्तु, अद्वैतियों के अनुसार वृत्तिज्ञान स्वप्रकाश नहीं है, वास्तविक स्वयंप्रकाश आत्मा का स्वरूपभूत नित्य ज्ञान है। यह बुद्धि का भी बोद्धा और प्रमाता का भी प्रमाता है। प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण तीनों ही इसी के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। यह समस्त प्रकाश का प्रकाश व नित्य ज्योतिस्वरूप है। यह अन्तःकरण, उसकी वृत्तियों और उनके विषयों को एक साथ भासित करता है। उपनिषद् इसे हृदन्तर्गतज्योति कहकर अभिहित करता है।[4] यह प्रमाता का भी प्रमाता और ज्ञान का भी ग्रहीता है। इसी की ज्योति से प्रमाता जीव यावत् प्रमेय जगत् को प्रकाशित करता है। यह उसका मूलभूत तत्त्व प्रत्यगात्मरूप साक्षिचैतन्य तत्त्व है। अपने अधिष्ठानभूत इसी स्वयंप्रकाश साक्षिचेतना पर अध्यस्त हो प्रमाता अपनी प्रमाणवृत्तियों से प्रमेय रूप जगत् का ज्ञान प्राप्त करता है। अर्थात् न तो प्रमाता में और न प्रमाण में, न तो बुद्धि में और न उसकी वृत्तियों में स्वयं की ज्योति है। वस्तुतः ज्ञाता और ज्ञान, बुद्धि और बुद्धिवृत्तियाँ, प्रत्ययी और प्रत्यय ये सब के सब आत्मा रूप नित्य चेतना के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। शंकराचार्य ने बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य में बड़े ही विस्तार से इस बात को सिद्ध करने का प्रयास किया है कि प्रकाशकता बुद्धिविज्ञानों में नहीं है, बुद्धि से भी परे व उसका अवभासक स्वयंप्रकाश चित्तत्त्व अलग ही है।[5] (बुद्धि से भिन्न व उसके अवभासक स्वयंप्रकाश चित् तत्त्व की सत्ता को नकारने वाले लोग वस्तुतः आत्मा या चेतना की सत्ता को नकारते हैं। ऐसे लोग वैदिक श्रेयमार्ग के पथिक नहीं हो सकते हैं, वे तो निरा जड़वादी ही ठहरते हैं।) बुद्धि भिन्न है और बोध भिन्न है। चित्त अलग है और चित् भिन्न है। इसी तरह प्रमाता जीव से भिन्न वास्तविक ज्ञाता रूप आत्मा कोई और ही है। वही शुद्ध ज्ञाता या विषयी है, जो प्रमाता का भी प्रमाता और द्रष्टा का भी द्रष्टा है। सही स्थिति तो यह है कि विषय रूप उपाधि के कारण ही उसे विषयी, ज्ञाता या द्रष्टा कहा जाता है। उसका वास्तविक स्वरूप तो शुद्ध निर्विशिष्ट ज्ञान का है। वह ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी से परे अपनी महिमा में स्थित नित्य स्वयंज्योति स्वरूप चैतन्य तत्त्व है। एवंप्रकारेण अद्वैतकृत अनुभव की मीमांसा एक नित्य कूटस्थ स्वयंज्योति स्वरूप साक्षी चेतना की सत्ता को आपादित करती है जो हमारे समस्त अनुभव या ज्ञान की पूर्व शर्त है, उसका अंतर्यामी अधिष्ठान तत्त्व है। यह चेतना ही आत्मा अथवा परमतत्त्व ब्रह्म है। चेतना स्वरूपतः एक अखण्ड, अजन्मा व नित्य है। इसको अपने से पृथक् किसी अन्य आश्रय तत्त्व अपेक्षा नहीं है। वह स्वयं में मौलिक तथा आधारभूत तत्त्व है, स्वयंसिद्ध तथा स्वयंप्रकाश है।

सकल जगत् व उसकी यावत् वस्तुएँ उसी के प्रकाश से प्रकाशित हैं। प्रमाता, प्रमेय तथा प्रमाण सभी में उसी की ज्योति है। वह तो सभी को प्रकाशित करता है पर उसे कोई नहीं प्रकाशित कर पाता। जिससे सभी कुछ प्रकाशित होता है उसे भला कौन प्रकाशित कर सकता है ? जो विषयी है उसे भला विषय कैसे बनाया जा सकता है ? वस्तुतः आत्मा या चेतना का स्वरूप ही ऐसा है कि उसे विषयतया नहीं जाना जा सकता है, वह किसी भी रूप में वेद्य नहीं है। यद्यपि वह विषयता नहीं जाना जा सकता है, फिर भी उसकी विलक्षणता यह है कि वह नितांत अपरोक्ष है। यावत् जगत् को अपनी ज्योति से प्रकाशित करता हुआ वह अपनी ज्योति में आप प्रकाशित होता है, उसे अन्य कोई नहीं प्रकाशित कर सकता है।

आत्मस्वरूप चैतन्य या ज्ञान की सत्ता अद्वैतियों के लिये मौलिक, आधारभूत व स्वयंसिद्ध है। इसकी सत्ता को कथमपि नकारा नहीं जा सकता। संसार की यावत् वस्तुएँ चैतन्य या ज्ञान से ही प्रकाशित होती हैं। बिना इसके कुछ भी प्रकाशित नहीं होता है। यदि चेतना न हो तो फिर उसके अभाव में सब कुछ अज्ञान के घोर अंधकार में सर्वदा के लिये पड़ा रहे। पर, संसार और उसकी वस्तुएँ अज्ञान के अंधेरे में अप्रकाशित हुई ही नहीं रहती। जगत् और जागतिक वस्तुएँ तो अज्ञ के लिये भी प्रसिद्ध है। अब इनका अस्तित्व इनके प्रकाशक चेतना या ज्ञान की सत्ता को सिद्ध करता है। यदि स्वयं ज्ञान की ही सत्ता न हो तो फिर किसी भी वस्तु का या स्वयं जगत् का ज्ञान भला कैसे संभव होगा ? वस्तुएँ हों पर ज्ञान न हो यह तो उसी तरह असंभव है जैसे कोई रूप के दिखायी देने के बाद भी कहे कि चक्षु नहीं है। अस्तु, ज्ञान की सत्ता निर्विवाद एवं प्राथमिक है। व्यभिचार ज्ञेय का होता है, ज्ञान तो अव्यभिचरित रूप से सर्वथा बना रहता है।[6] संसार में सभी वस्तुओं के अभाव की कल्पना की जा सकती है, पर स्वयं ज्ञान के अभाव की कल्पना नहीं की जा सकती। जो लोग इसके 'अभाव' की बात करते हैं वे भूल जाते हैं कि यह 'अभाव' भी ज्ञेय होने से ज्ञान के अभाव में अनुपपन्न है।[7] शून्यवादी चेतना की भी सत्ता को नकारते हैं। पर वे यह भूल जाते हैं कि आत्यन्तिक निषेध मूलक्षयकारी होता है। निषेध परमार्थ का आश्रय लेकर अपरमार्थ का किया जाता है। स्वयं परमार्थ का निषेध संभव नहीं है। सारे विधि और निषेध आत्मा की सत्ता की अपेक्षा रखते हैं। स्वयं 'शून्य' या 'अभाव' को अपनी सिद्धि के लिये आत्मा की अपेक्षा होती है। आत्मा या चेतना सारे विधि और निषेधों से परे है। सारे विधि और निषेध आत्मपूर्वक ही होते हैं। अतः आत्मा के अभाव की बात सोची भी नहीं जा सकती। यह स्वयंसिद्ध है।

शंकराचार्य का कहना है कि आगन्तुक वस्तु का ही निराकरण संभव है, स्वरूप का नहीं। आत्मा तो सबका स्वरूप है, आगन्तुक नहीं। अतः आत्मा का निषेध संभव

नहीं है। ब्रह्मसूत्र 2/3/7 के भाष्य में शंकराचार्य आत्मा के स्वतःसिद्ध स्वरूप का विवेचन करते हुए कहते हैं कि आत्मा को अपनी सिद्धि के लिये किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती। प्रमाणादि व्यवहार का आश्रय होने से आत्मा प्रमाणादि व्यवहार से पूर्व ही सिद्ध है। ऐसे स्वयंसिद्ध आत्मा का निराकरण नहीं हो सकता है। आगन्तुक वस्तु का ही निराकरण होता है, स्वरूप का निराकरण नहीं होता। जो ही निराकर्ता है वही उसका स्वरूप है। अग्नि के औष्ण्य का अग्नि से निराकरण नहीं होता। शंकर कहते हैं "न ह्यात्मात्मनः प्रमाणमपेक्ष्य सिध्यति।...आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात्प्रागेव प्रमाणादिव्यवहारात्सिध्यति। न चेदृशस्य निराकरणं संभवति। आगन्तुक हि वस्तु निराक्रियते, न स्वरूपम्। य एव हि निराकर्ता तदेव तस्य स्वरूपम्। न ह्यग्नेरौष्ण्यमग्निना निराक्रियते।"[8] एवंभूत आत्मा विषय जगत् की वस्तुओं से भिन्न है। जहाँ ज्ञेय वस्तुयें अपनी सिद्धि के लिये प्रमाणों की अपेक्षा रखती हैं, आत्मा स्वयंसिद्ध है, प्रमाणनिरपेक्ष है। सुरेश्वर भी कहते हैं कि जो स्वयं प्रमाणों की सिद्धि का कारणभूत है उसे भला किसी प्रमाण के बल पर कैसे सिद्ध किया जा सकता है—यतो राद्धि प्रमाणानां स कथं तैः प्रसिध्यति।[9] सुरेश्वर कहते हैं कि प्रमाता, प्रमेय और प्रमिति जिसके प्रसाद से सिद्ध होते हैं उसकी सिद्धि में भला किसकी अपेक्षा होगी—प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयं प्रमितिस्तथा। यस्य प्रसादात्सिध्यन्ति तत्सिद्धौ किमपेक्ष्यते।। सारे विषय सुरेश्वराचार्य के शब्दों में 'आत्मपूर्वक' होते हैं। यावत् जगत् की वस्तुओं का अर्थ आत्मा द्वारा विषय होने पर ही है। वस्तुतः आत्मा या चेतना तमाम अनुभवों से पूर्ववर्ती है, वह समस्त विषयों का अधिष्ठान है, स्वयं विषय नहीं है। सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि चित् स्वरूप आत्मा की सिद्धि होने पर ही प्रमाता से लेकर तृण पर्यन्त सारे पदार्थों की सिद्धि होती है और उस प्रकार की सिद्धि के अभाव में कुछ भी स्फुरित नहीं होता।[10] वह चिदात्मा स्वतः सिद्ध है। सबका व्यञ्जक है, व्यङ्ग्य किसी का भी नहीं।[11] शंकराचार्य कहते हैं कि आत्मा के अस्तित्व में सबसे बड़ा प्रमाण हमारा अनुभव है। सबको अपने आत्मा की साक्षात् प्रतीति होती है, ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है जो कह सके कि 'मैं नहीं हूँ'। यदि आत्मा न होता, तो लोगों को इस तरह का प्रत्यय हो सकता था कि 'मैं नहीं हूँ', परन्तु ऐसा कभी होता नहीं। अतः आत्मा का अस्तित्व सर्वप्रसिद्ध है, साक्षात् अपरोक्ष है।[12] जो लोग आत्मा के अस्तित्व को नकारने की बात करते हैं वे यह भूल जाते हैं कि नकारने वाले के रूप में ही सही आत्मा का अस्तित्व अनिवार्य रहता है।[13] अपनी रचनाओं में शंकराचार्य बार-बार इस तथ्य को रेखांकित करते हैं कि हमें अपनी आत्मा का साक्षात् बोध होता है। हमारे सारे अनुभव में अधिष्ठान भूत अंतर्यामी संविद्रूप आत्मा भासित होता रहता है। आत्मा प्रतिबोधविदित तत्त्व है।

आत्मा साक्षात् अपरोक्ष है। पीछे हम लोगों ने विस्तार से इस बात को निरूपित किया है कि आत्मा किस प्रकार संविद् स्वरूप है। संविद् या ज्ञान आत्मा का स्वरूप है। यह न तो गुण है, न क्रिया और न धर्म ही। आत्मा संविद् स्वरूप होने के कारण नित्य अपरोक्ष है। संविद् स्वरूप होने के कारण आत्मा नित्य साक्षात्कार रूप है। हमें अपने अस्तित्व के विषय में संशय, भ्रम या विपरीत ज्ञान नहीं होता। किसी को 'मैं नहीं हूँ' इस तरह की प्रतीति नहीं होती है। अब यह बात यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि आत्मा नित्य साक्षात्कार स्वरूप है, अनागन्तुक प्रकाश स्वरूप है। वह वस्तुतः शाश्वत् अपरोक्ष है। यदि आत्मा इस तरह से अपरोक्ष न हो तो संसार में कुछ भी प्रकाशित नहीं होगा और जगदान्ध्य प्रसङ्ग प्रसक्त होगा। वाचस्पति मिश्र भामती में कहते हैं कि चिदात्मा को अवश्य अपरोक्ष मानना होगा, अन्यथा उसके प्रथित (प्रसिद्ध, ज्ञात) न होने से समूचा जगत् अप्रथित ही रह जाएगा और सब कुछ अंध या अप्रकाश हो जाएगा—अवश्यं चिदात्मा अपरोक्षः अभ्युपतेव्यः, तदप्रथायान् सर्वस्याप्रथनेन जगदान्ध्यप्रसङ्गात्।[14] प्रश्न है आत्मा की नित्य अपरोक्षता क्यों है ? उत्तर स्पष्ट है कि चैतन्य स्वरूप होने के कारण ही वह नित्य अपरोक्ष है। यदि आत्मा आगन्तुक ज्ञान और जड़रूप होता तो वह कदाचित् परोक्ष, कदाचित् संदिग्ध और कदाचित् विपर्यस्त हो सकता था जैसा कि अन्य घटादि वस्तुएँ होती हैं। पर चूँकि आत्मा सारे संदेहों से परे, सर्वथा अपरोक्ष और अभ्रान्त है, अतः इसे स्वभावतः चैतन्यस्वरूप मानना होगा। आत्मा नित्य चैतन्यस्वरूप है; इसी कारण वह तमाम वस्तुओं में संदेह करता हुआ भी सारे संदेहों से परे असंदिग्ध, अनुमान करता हुआ भी स्वयं अपरोक्ष, किसी का स्मरण करता हुआ भी स्वयं आनुभविक, विपरीत ज्ञान करता हुआ भी स्वयं अभ्रान्त और अविपर्य्यस्त बना रहता है। यदि आत्मा चैतन्य स्वरूप नहीं होता तो ऐसा संभव नहीं होता—यदागन्तुकज्ञानं जड़स्वभावं तत्कदाचित् परोक्षं कदाचित् सन्दिग्धं कदाचिद्विपर्य्यस्तं, यथा घटादि, न चैवमात्मा। तथा ह्यनुमिमानोऽप्यपरोक्षः स्मरन्नप्यानुभविकः सन्दिहानोऽप्यसन्दिग्धो विपर्य्यस्यन्नप्यविपरीतः सर्वस्यात्मा, तथा च तत्स्वभावः। न च तत्स्वभावस्य चैतन्यस्याभावः, तस्य नित्यत्वात्।[15] यहाँ यह ध्यातव्य है कि अद्वैतियों के अनुसार आत्मा या संविद् की अपरोक्षता का अर्थ उसका प्रत्यक्ष होना नहीं है। वेदान्त का यह सुनिश्चित मत है कि आत्मा प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय नहीं है। पीछे हमने शंकर और सुरेश्वराचार्य के अनुसार यह देखा था कि किस तरह आत्मा सकल प्रमाणों का आश्रय और उनका पूर्ववर्ती है। जिससे सारे प्रमाण निकलते हैं, जो सारे प्रमाणों को सिद्ध करता है वह उन प्रमाणों से भला कैसे सिद्ध हो सकता है ? अतः आत्मा प्रत्यक्षादि प्रमाण का विषय नहीं है। प्रमाता जीव का अंतर्भूत प्रत्यगात्म तत्त्व होने के कारण आत्मा इन्द्रियों

का विषय नहीं है। सारे विषय 'आत्मपूर्वक' होते हैं। आत्मा नित्य विषयी है। जो स्वयं विषयी है, उसे भला विषय कैसे बनाया जा सकता है। यदि आत्मा भी अन्य अनात्म वस्तुओं की तरह हमारे ज्ञान या प्रमाण का विषय हो जाए तब आत्म एवं अनात्म में कोई अंतर ही नहीं रह जाएगा। शंकराचार्य अपने भाष्यों में बार-बार इस बात को दोहराते हैं कि आत्मा का ज्ञान विषयतया असंभव है। जो स्वयं समस्त वस्तुओं का ज्ञाता है वह भला ज्ञेय कैसे हो सकता है ?[16] श्रुति कहती है कि जिससे समस्त वस्तुओं को जाना जाता है उसे भला कैसे जाना जा सकता है ? विज्ञाता आत्मा को भला कैसे जाना जा सकता है ?[17] जिस तरह अंगुली अपने पोर को नहीं छू सकती, कुशल नर्तक भी अपने सर पर नहीं नाच सकता, उसी तरह आत्मा स्वयं अपने को विषय नहीं बना सकता है। आत्मा को विषय बनाने का प्रयास वस्तुतः अपनी परछाई को पकड़ने के प्रयास के समान है। यदि आत्मा को भी अपने ज्ञान के लिये अन्य प्रमाता की अपेक्षा हो तब तो फिर उस प्रमाता को भी अपने ज्ञान के लिये अन्य की अपेक्षा होगी और यह क्रम चलता रहेगा तथा अनवस्था पतित होगी। यदि यह कहा जाए कि अनवस्था का दोष आत्मा को परसंवेद्य मानने पर होता है, पर आत्मा तो स्वसंवेद्य है, स्वयं अपना विषय है, तो यह भी उचित नहीं होगा क्योंकि इससे कर्तृ-कर्म विरोध प्रसक्त होगा। वस्तुतः आत्मा न तो स्वसंवेद्य है और न परसंवेद्य। किसी भी तरह की संवेद्यता के लिये द्वैत का होना अनिवार्य है, पर चूँकि आत्मा एक, अद्वितीय और निरवयव है फलतः किसी भी तरह का द्वैत या भेद नहीं होने से आत्मा में ज्ञेयज्ञातृत्व भाव नहीं बन पाता।[18] विषय-विषयी भाव के लिये दो का होना अनिवार्य है। एक में विषय-विषयी भाव अनुपपन्न है। बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य में कहा गया है कि जिस तरह अग्नि स्वयं अपने को नहीं जला सकती उसी तरह आत्मा स्वयं अपने को विषय नहीं बना सकता।[19] इस आत्मा का न तो मानस प्रत्यक्ष ही संभव है और न ही बुद्धि द्वारा इसकी अवगति हो सकती है। याज्ञवल्क्य उषष्त को कहते हैं कि जैसे गाय को सींग पकड़कर दिखाया जा सकता है वैसे आत्मा को इदंतया नहीं दिखाया जा सकता है।[20] दिखाया भी भला कैसे जा सकता है ? जो अनिदं है उसे इदंतया कैसे जाना जा सकता है ? वाचस्पति, गोविन्दानन्द, अप्पय दीक्षित, पद्मपाद, विद्यारण्य आदि सबों का मत है कि आत्मा जो कि अनिदं है उसे इदंतया नहीं जाना जा सकता है। यह अहंकार है जो आत्मज्ञान का 'विषय' है। शुद्ध आत्मा कभी भी विषय नहीं हो सकता। आत्मा जो सारे प्रमाण-प्रमेय व्यवहार का आश्रय है, उसका अधिष्ठान है वह भला हमारे प्रमाण का विषय कैसे हो सकता है ? उपनिषद् एक स्वर से यह घोषित करते हैं कि मन और वाणी की पहुँच उस आत्म तत्त्व तक नहीं है। मन और वाणी वस्तुतः वहाँ तक बिना पहुँचे ही वापस लौट

आते हैं। श्रुति का उसके सम्बन्ध में आदेश 'नेति-नेति' का है। हालांकि उसके बारे में कोई निर्वचन संभव ही नहीं है, फिर भी सर्वोत्तम निर्वचन निषेध परक ही हो सकता है। श्रुति उसे 'अशब्द', 'अस्पर्श', 'अरूप', 'अव्यय', 'अगन्धवत्', 'अस्थूलमनणु', 'अप्राणो ह्यमनाः', 'अनन्तरमबाह्यम्', इस प्रकार निषेधमुखेन वर्णित करती है। शंकराचार्य ब्रह्मसूत्र 3/2/22 और 3/2/23 के भाष्य में विभिन्न श्रुतिवाक्यों का उद्धरण देते हुए कहते हैं कि श्रुति एक स्वर से इस आत्मा के इन्द्रियादि से अग्राह्य स्वरूप का वर्णन करती है। अब चूँकि ब्रह्म वाणी और मन से अतीत है, इस कारण वह विषयों में अंतर्भूत नहीं है, फलतः वह प्रत्यगात्म रूप, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव है–वाङ्मनसातीतमविषयान्तःपाति प्रत्यगात्मभूतं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं ब्रह्मेति।[21] उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि क्यों आत्मा वस्तुओं के विषय जगत् से अलग है ? वस्तुतः उसकी स्थिति वस्तुओं के प्रजातंत्र के सदस्य की न होकर उससे पृथक् और अत्यधिक महत्व की है। आत्मा का ग्रहण विषयरूपेण असंभव है। वह अव्यक्त और अनिन्द्रियग्राह्य है तो इसका कारण यह है कि वह तो स्वयं देखने वाला है, संपूर्ण दृश्य का साक्षी है–कस्मान्न गृह्यते इति, उच्यते–तदव्यक्तमनिन्द्रियग्राह्यं सर्वदृश्यसाक्षित्वात्।[22] अर्थात् यह सही है कि आत्मा को नहीं देखा जा सकता है, पर ऐसा इसलिये कि वही तो देखने वाला है। उपर्युक्त विवेचन के आलोक में यह स्पष्ट है कि श्रुति यदि आत्मतत्त्व को अवाङ्मनसगोचर बताती है, उसके सम्बन्ध में 'नेति नेति' का आदेश देती है तो उसका उद्देश्य इस परमतत्त्व के निर्गुण, निर्विशिष्ट और अनन्त स्वरूप का प्रतिपादन तो है ही, उसका वास्तविक मन्तव्य यह दर्शाना है कि संविद्रूप आत्म तत्त्व का विषयतया ज्ञान असंभव है, वह हमारे लिये अवेद्य है।

आत्मचैतन्य सम्बन्धी उपर्युक्त विमर्श से यह स्पष्ट है कि अद्वैतियों के अनुसार जहाँ एक तरफ आत्मा या चेतना हमारे ज्ञान का विषय नहीं है, वह हमारे लिये अवेद्य है, वहीं दूसरी ओर वह साक्षात् अपरोक्ष है, नित्यसाक्षात्कार स्वरूप है। यहाँ सहज ही प्रश्न उठता है कि जो हमारे लिये अवेद्य है, जो हमारे ज्ञान का विषय नहीं है वह भला हमें नित्य अपरोक्ष कैसे हो सकता है ? अद्वैती चेतना के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रतिपादित उपर्युक्त दोनों विशेषताओं में कोई विरोध नहीं देखते। वस्तुतः जिन कारणों से अद्वैती आत्मा को शाश्वत् अपरोक्ष बतलाते हैं उन्हीं कारणों से उसे मन-वाणी से परे अवेद्य और अप्रमेय पाते हैं। आत्मा अद्वैतियों के अनुसार शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि इन सबसे परे इनका संचालक तत्त्व है। इस आत्मा के द्वारा ही श्रुति अपना श्रवण व्यापार, प्राण प्राणन, मन मनन कर पाता है। वस्तुतः न तो श्रोत्रेन्द्रिय में शब्द अवभासन की और न बुद्धि या मन में संकल्प और व्यवसाय की स्वतंत्र क्षमता है। ये चेतन आत्म द्वारा अधिष्ठित हो ही ऐसा कर पाते हैं। वही श्रोत्र

का श्रोत्र, मन का मन, वाणी का वाणी, प्राण का प्राण और चक्षु का चक्षु है।[23] शंकराचार्य कहते हैं कि श्रोत्र का जो शब्द के उपलब्धा रूप से प्रकाशकत्व है वह उसका स्वतः नहीं है बल्कि आत्मनिमित्तक है।[24] यही स्थिति अन्य इन्द्रियों और बुद्धि तथा मन के साथ है। अब जिससे अधिष्ठित हो ही आँख देखती है, कान सुनता है, मन मनन करता है तथा वाणी बोलती है उसे भला आँख से कैसे देखा जा सकता है, कान से कैसे सुना जा सकता है, मन से कैसे मनन किया जा सकता है अथवा वाणी से कैसे उसका निर्वचन हो सकता है ?[25] अतः आत्मा चक्षु आदि इन्द्रियों, मन या वाणी का विषय नहीं है। आत्मा इनके द्वारा गृहीत नहीं होता है। आत्मा इनसे गृहीत नहीं होता है इसका यह भी अर्थ नहीं है कि वह सर्वथा अगृहीत है। वस्तुतः जैसा कि केनोपनिषद् में कहा गया है, आत्मा ज्ञात एवं अज्ञात दोनों से परे है।[26] यह सही है कि हम आत्मा को बुद्धि, मन या चक्षु आदि इन्द्रियों से नहीं देख सकते हैं, कि हम उसे विषयतया नहीं जान सकते पर देखा जाए तो उसे इस तरह से देखे जाने की या जाने जाने की आवश्यकता भी नहीं है। आत्मा कोई अज्ञात चीज नहीं है। अज्ञात को जानने के लिये ही ज्ञान की अपेक्षा होती है। पर जो स्वयं ज्ञानरूप है वह भला ज्ञान का विषय कैसे हो सकता है ? जिस तरह प्रदीप को प्रकाशित होने के लिये किसी अन्य प्रदीप प्रकाश की अपेक्षा नहीं होती उसी तरह आत्मा या ज्ञान को प्रकाशित होने के लिये किसी अन्य ज्ञान रूप प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती, वह तो स्वयंप्रकाश है।[27]

आत्मा के स्वरूपभूत चैतन्य या ज्ञान के स्वरूप को समझाने के लिये अद्वैती प्रकाश के उपमा की सहायता लेते हैं।[28] जिस तरह प्रदीप या सूर्यादि का प्रकाश अन्य चीजों को भासित करता हुआ स्वयं अपना भासन करता है, उसी तरह चेतना या ज्ञान निखिल ज्ञेय जगत् को भासित करता हुआ स्वयं अपनी नित्य ज्योति द्वारा प्रकाशित होता रहता है, उसे किसी अन्य प्रकाश द्वारा प्रकाशित होने की कोई आवश्यकता नहीं होती। यहाँ यह ध्यातव्य है कि ज्ञान के स्वरूप को समझने के लिए दूसरे भारतीय दर्शनों ने भी प्रकाश के उपमा की सहायता ली है। जिस तरह प्रकाश अपने संपर्क में आयी हुई सभी वस्तुओं को अभिव्यक्त कर देता है, प्रकाशित कर देता है, ज्ञानगम्य बना देता है उसी तरह ज्ञान या चेतना भी अपने विषय को अभिव्यक्त कर देता है, ज्ञानगम्य बना देता है। जिस तरह प्रकाश के द्वारा अंधकार भाग जाता है उसी तरह ज्ञान अज्ञान को भगा देता है। उपर्युक्त साम्य के आधार पर दार्शनिकों ने चैतन्य या ज्ञान को प्रकाश कह डाला तथा उन्होंने उसके स्वरूप के सार को उसकी प्रकाशकता में पाया। यहाँ यह ध्यातव्य है कि ज्ञान के स्वरूप का सार उसकी प्रकाशकता में पाने के बावजूद न्याय-वैशेषिक आदि दूसरे भारतीय दर्शन इससे

निःसृत होने वाली तार्किक निष्पत्तियों तक नहीं पहुँच सके। हम पीछे देख चुके हैं कि किस तरह नैयायिकों के अनुसार ज्ञान मात्र अर्थ को प्रकाशित करता है स्वयं को नहीं, यह परप्रकाश है स्वप्रकाश नहीं। प्रकाश के लिये यह वस्तुतः असंभव है कि वह स्वयं को प्रकाशित किये बिना ही वस्तु को प्रकाशित कर सके। फिर प्रकाश को अपने प्रकाश के लिये प्रकाशान्तर की भला अपेक्षा कैसे ? अस्तु, प्रकाश के स्वरूप से ही यह सिद्ध होता है कि वह स्वप्रकाश होता है। आत्मा या उसका स्वरूपभूत चैतन्य या ज्ञान सूर्यादि के प्रकाश के समान है जो समस्त वस्तुओं को प्रकाशित करता है पर जो अपने प्रकाश के लिये किसी अन्य पर आश्रित नहीं है। आत्मा या चेतना स्वयंप्रकाश है। संविद्स्वरूप आत्मा या चेतना के स्वरूप को स्वयंप्रकाश बताकर अद्वैती चेतना के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रतिपादित उसकी उन दो महत्वपूर्ण विशेषताओं को एक साथ इंगित करने में सक्षम होते हैं जिनमें उसे एक तरफ तो मन-बुद्धि और इन्द्रिय से अग्राह्य बतलाया गया है तो दूसरी ओर साक्षात् अपरोक्ष कहा गया।

चेतना की स्वयंप्रकाशता से अद्वैतियों का तात्पर्य उसके अनिन्द्रिय गोचर होने के बावजूद सदा अपरोक्ष रहने से है।[29] प्रकाशात्मा पंचपादिका विवरण में कहते हैं कि किसी इन्द्रिय द्वारा जाने न जाते हुए भी सदा अपरोक्ष स्वानुभूति-गम्य होने से आत्मा स्वप्रकाश है।[30] इसी तरह पंचदशीकार संवित् को स्वयम्प्रभा कहते हुए कहते हैं कि यह स्वयंप्रकाशत्व अवेद्य होते हुए भी अपरोक्ष रहने से है।[31] तत्त्वप्रदीपिका में चित्सुखाचार्य स्वयंप्रकाशता के विभिन्न संभावित अर्थों की विवक्षा करते हुए कहते हैं कि स्वयंप्रकाशत्व का वास्तविक अर्थ अवेद्यत्वविशिष्ट अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व से है।[32] अस्तु, चेतना अवेद्य होने के बावजूद सदा अपरोक्ष है। वह स्वयंप्रकाश है। स्वयंप्रकाशत्व चेतना का स्वरूप है। जो स्वयंप्रकाश नहीं है वह चेतना नहीं है, वह तो जड़ है। अन्य से प्रकाशित होना जड़ की विशेषता है।

उपनिषदों में इस बात की पर्याप्त अन्वीक्षा की गयी है कि किसके प्रकाश से यावत् वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् के जनक-याज्ञवल्क्य संवाद में जनक याज्ञवल्क्य से पूछते हैं कि किस ज्योति से पुरुष के समस्त व्यवहार संपादित होते हैं ?[33] यह पुरुष किस ज्योति वाला है ? इसके उत्तर में क्रमशः इस ज्योति के आदित्यज्योति, चन्द्रज्योति, अग्निज्योति और वाक्ज्योति के विकल्पों की चर्चा होती है। अंततः पाया यह जाता है कि आदित्य के अस्त हो जाने पर भी, चन्द्रज्योति के तिरोधान हो जाने पर भी, अग्नि के शांत हो जाने पर भी और वाक्ज्योति के शांत होने पर भी पुरुष के कार्यव्यापार संपादित होते हैं। ऐसा उसके अन्तः में स्थित आत्मज्योति के कारण होता है। वस्तुतः आदित्यादि बाह्य ज्योतियों

से व्यतिरिक्त पुरुष की अन्तःस्थित आत्मज्योति है जिसका कभी तिरोधान नहीं होता। जहाँ अन्य ज्योतियाँ अस्त हो जाती हैं, शांत हो जाती हैं, यह सर्वदा बनी रहती है। व्यक्ति के अन्तरस्थ इसी प्रकाश से उसके समस्त व्यवहार संपादित होते हैं।[३४] जाहिर है, यह प्रकाश आदित्यादि के समान कोई जड़ प्रकाश नहीं है, यह तो चित्प्रकाश है, चेतना का प्रकाश है। चेतना के प्रकाश से ही संसार की सभी वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं। बिना चेतना के कुछ भी प्रकाशित नहीं होता। सभी ज्ञान में यह चेतना है जो प्रकाशित होता है। वस्तुएँ चाहे वे भौतिक हों या अभौतिक बिना चेतना के अज्ञान के घोर अंधकार में रह जाती हैं; उनका प्रकाशन नहीं हो पाता है। चेतना की उपर्युक्त विशेषता के कारण सूर्य के प्रकाश से उसकी तुलना स्वाभाविक है। जैसे सूर्य के प्रकाश के मंद होते होते और क्रमशः विलीन होते होते सारी वस्तुएँ—नदियाँ, पहाड़, घर, आँगन, वृक्ष, वनस्पतियाँ आदि सब कुछ—रात के अंधेरे में गुम हो जाती हैं और पुनः प्रातः सूर्य के उदय के साथ ही प्रकाशित होने लगती हैं, वही स्थिति चेतना की है। इस चेतना के प्रकाश से ही वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं, बिना उसके कुछ भी प्रकाशित नहीं होता। इसी के कारण विषयी को विषय प्रकाशित होता है, वस्तुतः विषयी और विषय, ज्ञाता और ज्ञेय, प्रमाता-प्रमेय और प्रमाण सब उसी के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। सूर्यादि के प्रकाश की, प्रदीपादि के प्रकाश की अपनी कमियाँ हैं। मात्र उनसे वस्तुएँ प्रकाशित नहीं हो सकती हैं। वे तो वस्तुओं के प्रकाशन में उपकारक मात्र हैं, उनके प्रकाशक नहीं। वस्तुतः वास्तविक प्रकाशन तो स्वप्रकाश तत्त्व से ही संभव है। जो स्वयं अपने प्रकाशन के लिये अन्य की अपेक्षा रखता हो वह भला प्रकाशक कैसे हो सकता है ? सूर्यादि को भी अपने प्रकाशन के लिये चित् तत्त्व की अपेक्षा होती ही है। बिना चेतना के वे भी प्रकाशित नहीं होते। अतः वास्तविक प्रकाशक चेतना है। वही एकमात्र स्वयंप्रकाश है। वही एकमात्र ऐसा तत्त्व है जिसको प्रकाशित होने के लिये किसी अन्य की अपेक्षा नहीं होती। अतः यह चेतना है जिसके कारण वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं। यह समस्त ज्योतियों का ज्योति है। यह तो सभी वस्तुओं को प्रकाशित करता है, पर उसे कोई अन्य प्रकाशित नहीं कर सकता है। करे भी तो कैसे ? क्योंकि सभी में तो उसी की ज्योति है।

वस्तुतः चक्षु आदि इन्द्रियों या दीपादि के प्रकाश की अपनी सीमा है। इसी तरह सूर्यादि के प्रकाश का कोई मतलब नहीं है। मात्र इनके द्वारा वस्तुओं का प्रकाशन संभव नहीं है। यह अवश्य है कि वस्तुओं के प्रकाशन में इनकी महती भूमिका है। बिना इनके उनका प्रत्यक्ष होना संभव नहीं दिखता। तो भी, असली चीज जो जरूरी है वह है आत्मा का प्रकाश, चेतना का प्रकाश। बिना चैतन्य स्वरूप आत्मा

के कुछ भी प्रकाशित नहीं होता। दीपादि भौतिक प्रकाश यदि न रहे तो यह सही है कि वस्तुओं का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं हो पायेगा, पर अन्य स्पार्शज, घ्राणज, श्रवण आदि दूसरा प्रत्यक्ष तो संभव ही रहेगा। इसी तरह चक्षु के अभाव होने पर मात्र चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होगा, दूसरे प्रत्यक्ष तो होंगे ही। चक्षु के अतिरिक्त यदि दूसरी इन्द्रियाँ भी काम करना बंद कर दें तो भी मन का चिंतन, मनन आदि व्यापार तो चलता रह सकता है। तो फिर क्या बुद्धि एवं मन के प्रकाश को वास्तविक प्रकाश माना जाए ? कई एक भारतीय दर्शन कदाचित् ऐसा मानते भी हैं। पर अद्वैत दार्शनिकों के अनुसार बुद्धि एवं मन में भी स्वयं की प्रकाशकता नहीं है। सुषुप्ति में जब मन भी अपने व्यापार से विरत हो जाता है तो उसके बावजूद उस निष्क्रिय अज्ञानावस्था को अवभासित करता हुआ साक्षी चैतन्य स्वरूप आत्मा अपनी नित्य ज्योति में प्रकाशित होता रहता है। अतः वास्तविक प्रकाश चैतन्य स्वरूप आत्मा का ही प्रकाश है। बुद्धि एवं मन में भी इसी की ज्योति आती है, वह इनका भी प्रकाशक है। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि ही क्यों, यह सकल संसार चैतन्य स्वरूप आत्मा की ज्योति से ही प्रकाशित होता है। इसी के सम्बन्ध में श्रुति कहती है कि यह तो सब का प्रकाशक है, पर इसका प्रकाशक कोई नहीं है। यह ज्योतियों की ज्योति है, स्वयं ज्योति है, नित्य ज्योति है। आत्मा के निरतिशय स्वयंप्रकाश स्वरूप का वर्णन करते हुए कठोपनिषद् II/2/15 में कहा गया है "वहाँ उस आत्मस्वरूप ब्रह्म में न सूर्य प्रकाशित होता है और न चन्द्रमा तथा तारे। वहाँ यह बिजली भी प्रकाशित नहीं होती। फिर यह निरंतर दृष्टि में आने वाली अग्नि किस गिनती में है ? उसके प्रकाशित होने से ही सब प्रकाशित होता और यह सब कुछ उसी के प्रकाश से विद्यमान है।" आत्मा के स्वयंज्योति स्वरूप को इंगित करने वाली यह उक्ति हमें मुण्डकोपनिषद् और श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी प्राप्त होती है।[35] बृहदारण्यक उपनिषद् में जाग्रत और स्वप्नावस्था की चेतना के विश्लेषण द्वारा आत्मा के स्वयंज्योति स्वयंप्रकाश स्वरूप की सिद्धि की गयी है—अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति।[36] जब सारे प्रकाश तिरोहित हो जाते हैं, आत्मा जिसके प्रकाश से ही बुद्धि आदि प्रकाशित होते हैं अपने नित्य एवं शुद्ध प्रकाश में प्रकाशवान रहता है। यह आत्मा ज्योतियों की ज्योति है, चेतना का प्रकाश सारे प्रकाश का प्रकाश है—तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् (बृ॰ उ॰ 4/4/16)। अन्यत्र भी कहा गया है—हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्। तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः।[37] 'अनुकृतेस्तस्य च' सूत्र के भाष्य में शंकराचार्य कहते हैं कि चूँकि आत्मा के विषय में ही श्रुति कहती है 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं' अतः इस कारण वह सारे प्रकाश का मूल है, ज्योतियों की ज्योति है।[38] प्रमाता जीव का अन्तर्भूत

प्रत्यगात्म स्वरूप जो आत्मज्योति है, श्रुति जिसे हृदयान्तर्गतज्योति कहती है, वही ब्रह्म ज्योति है। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि इस द्युलोक से परे जो परमज्योति विश्व के पृष्ठ पर यानि सबके ऊपर उत्तमोत्तम लोकों में प्रकाशित हो रही है वह निश्चय ही वही है जो इस पुरुष के भीतर की ज्योति है।[39] आत्मा 'भारूप' है।[40] आत्मा के भारूप का प्रतिपादन न केवल श्रुति करती है, बल्कि स्मृति से भी इस सम्बन्ध में पर्याप्त उद्धरण दिये जा सकते हैं। ब्रह्मसूत्र के अनुकृत्यधिकरण में 'अपि च स्मर्यते' सूत्र के भाष्य में तथा अन्यत्र बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य में शंकराचार्य श्रीमद्भगवद्गीता से अनेकों ऐसे उद्धरण देते हैं जिससे परम प्रकाशरूप आत्मतत्त्व की सिद्धि होती है।[41] गीता कहती है "जिस प्रकार एक सूर्य इस सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक क्षेत्री (आत्मा) सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है।"[42] और इस परमज्योतिस्वरूप को न तो सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही—न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।[43] यह ज्योति ज्योतियों की ज्योति है। सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि की ज्योति वस्तुतः इसी आत्मा की ज्योति है—यदादित्यगतं तेजो जगदभासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।[44]

ब्रह्मसूत्र के अनुकृत्यधिकरण (ब्र॰ सू॰ 1/3/22-23) के भाष्य में शंकराचार्य ने स्वयंप्रकाश तत्त्व की विस्तार से अन्वीक्षा की है। वहाँ 'अनुकृतेस्तस्य च' सूत्र के भाष्य में शंकराचार्य यह स्पष्ट करते हैं कि 'न तत्र सूर्यो भाति' इस श्रुतिवाक्य में प्रतिपादित वह तत्त्व जिसके प्रकाश से यावत् वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं आत्मा रूपी परमतत्त्व या ब्रह्म है। इस प्रसङ्ग में शंकराचार्य विभिन्न श्रुतिवाक्यों और स्मृति का उद्धरण देते हुए कहते हैं कि वास्तविक स्वयंप्रकाश तत्त्व आत्मा या ब्रह्म है। यही समस्त प्रकाश का मूल व अधिष्ठान है, ज्योतियों की ज्योति है। इसी के प्रकाश से यावत् वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं। हाँ, वह स्वयं किसी अन्य से प्रकाशित नहीं होता है। ब्रह्म या आत्मा की स्वरूपभूत चैतन्य ज्योति का स्वभाव बतलाते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि इससे तो सभी चीजें प्रकाशित होती हैं पर यह किसी अन्य से प्रकाशित नहीं होता। ब्रह्म अन्य पदार्थ को व्यक्त करता है, परन्तु वह अन्य से व्यक्त नहीं होता। वह स्वयंप्रकाश है। शंकर कहते हैं "यदुपलभ्यते तत्सर्वं ब्रह्मणैव ज्योतिषोपलभ्यते, ब्रह्म तु नान्येन ज्योतिषोपलभ्यते, स्वयंज्योतिः स्वरूपत्वात्, येन सूर्यादयस्तस्मिन्भायुः। ब्रह्म ह्यन्यद्व्यनक्ति, न तु ब्रह्मान्येन व्यज्यते"[45] अन्यत्र बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य में शंकराचार्य आत्मा या पुरुष को स्वयंज्योतिस्वभाव बतलाते हुए कहते हैं कि आत्मा का स्वयंप्रकाशत्व निरतिशय है क्योंकि यह सबका प्रकाशक है और स्वयं दूसरों से अप्रकाश्य है—निरतिशयं चास्य स्वयंज्योतिष्ट्वम्, सर्वावभासकत्वात् स्वयमन्यानवभास्यत्वाच्च।

स एष पुरुषः स्वयमेव ज्योतिः स्वभावः।[46]

एवंप्रकारेण हम देखते हैं कि अद्वैतियों के अनुसार वास्तविक प्रकाश चैतन्य स्वरूप आत्मा या परमतत्त्व ब्रह्म का प्रकाश है। वही समस्त प्रकाश का मूल और ज्योतियों की ज्योति है। उसी के प्रकाश से संसार की यावत् वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं। वास्तविक स्वप्रकाश यह आत्मा या ब्रह्म ही है। प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण उसी के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। वह तो सबको प्रकाशित करता है पर उसे कोई भी प्रकाशित नहीं कर पाता। ऐसे स्वयंप्रकाश चैतन्यरूप आत्मा या परमतत्त्व की सत्ता अद्वैतियों के लिए निर्विवाद और स्वयंसिद्ध है। अद्वैतकृत अनुभव की मीमांसा इस नित्य स्वयंप्रकाश आत्मा रूपी परमतत्त्व ब्रह्म की सत्ता को आपादित करती है। अद्वैती अनुभव की स्वयंप्रकाशता के सर्वप्रसिद्ध तथ्य से स्वयंप्रकाश चित् तत्त्व की सत्ता को आपादित कर लेते हैं। अद्वैतियों का तर्क स्पष्ट है। ज्ञान का नित्य स्वयंप्रकाश स्वरूप नित्य स्वयंप्रकाश ज्ञानरूप आत्मा या ब्रह्म की सत्ता का द्योतक है। हमारे ज्ञान या अनुभव का साधारण विश्लेषण भी इस बात को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि ज्ञान स्वप्रकाश होता है। सूर्यप्रभा या प्रदीप की तरह ज्ञान एक क्षण के लिये भी अप्रकाशित नहीं रहता। जिस प्रकार प्रदीप को प्रकाशित होने के लिये प्रदीपान्तर की आवश्यकता नहीं होती उसी तरह ज्ञान को प्रकाशित होने के लिये ज्ञानान्तर की आवश्यकता नहीं होती। वस्तुतः ज्ञान किसी भी रूप में ज्ञेय नहीं है, न तो यह ज्ञानान्तर द्वारा गृहीत होता है और न ही यह स्वयं को अपना विषय बनाता है। ज्ञान का ग्रहण ज्ञानान्तर द्वारा मानने पर अनवस्था दुर्निवार है और यदि उसे स्वयं अपने द्वारा गृहीत माना जाए तो इससे कर्तृ-कर्म विरोध प्रसक्त होता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि ज्ञान सर्वथा अज्ञात रहता है। वस्तुतः यह ज्ञात एवं अज्ञात दोनों से परे है। अवेद्य होते हुए भी शाश्वत् अपरोक्ष है, नित्य स्वयंप्रकाश है। यदि ज्ञान को स्वप्रकाश न माना जाए तो हमें इसके अस्तित्व को लेकर संदेह, विपर्यय या विपरीत प्रमा होने लगेगा, परन्तु ऐसा होता नहीं। इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञान स्वप्रकाश होता है। फिर सकल जगत् का अवभासक ज्ञान यदि स्वयं अप्रकाशित रहे तो इस संसार में कुछ भी प्रकाशित नहीं हो सकेगा और जगदान्ध्य प्रसङ्ग प्रसक्त होगा। अस्तु, हमको यह मानना होता है कि ज्ञान स्वयंप्रकाश है। अब ज्ञान की यह स्वयंप्रकाशता नित्य स्वयंप्रकाश आत्मा या ब्रह्म के अस्तित्व को सिद्ध करती है। या दूसरे शब्दों में कहें तो स्वयंप्रकाश आत्मा या ब्रह्म के अस्तित्व के लिये सबसे बड़ा प्रमाण हमारे ज्ञान का स्वयंप्रकाश स्वरूप है। ज्ञान की स्वयंप्रकाशता स्वयंप्रकाश साक्षी चैतन्य रूप सत्ता की पूर्वापेक्षा को सिद्ध करती है जिसके प्रकाश से प्रकाशित होने के कारण ही प्रमाता को अपनी प्रमाणवृत्तियों से विषय जगत् का ज्ञान हो पाता है

तथा जिसके कारण ही उसे अपने इस ज्ञान के प्रति या सुखादि अन्य मानसिक भावों के प्रति अथवा स्वयं अपने प्रति कभी संदेह नहीं होता। हमारा हर ज्ञान इस स्वयंप्रकाश साक्षी तत्त्व की सत्ता का गवाह है क्योंकि हर अनुभव में वास्तविक ज्योति उसी की है। घट, पटादि वस्तुएँ तद् तद् आकार वाली बुद्धिवृत्तियों या प्रत्ययों से प्रकाशित होते दिखते हैं, पर ये बुद्धिवृत्तियाँ या प्रत्यय स्वयं उस दौरान अप्रकाशित नहीं रहते। उनको प्रकाशित करता हुआ साक्षिचैतन्य रूप आत्मा वहाँ विद्यमान ही रहता है। देखा जाए तो हमारे क्षणिक बुद्धिवृत्ति रूप विज्ञान या प्रत्यय एक ओर जहाँ अपने विषयों को निर्दिष्ट करते हैं वहीं अपने साक्षी स्वयंप्रकाश चिदात्मा की सत्ता को द्योतित करते हैं। इस अर्थ में कहा जा सकता है कि वह स्वयंप्रकाश चित् तत्त्व हमारे हर अनुभव में प्रकाशित होता है। इसीलिए उपनिषद उसे प्रतिबोधविदित तत्त्व कहता है।[47] अतः आत्मा या ब्रह्म अद्वैतियों के लिए कोई जगदातीत और अनुभव आदि से अगोचर सत्ता नहीं है अपितु यह वह सत्ता है जो हमारे हर अनुभव में प्रकाशित होती है। आत्मा रूप परमब्रह्म का साक्षात्कार हमें अपने दिन-प्रतिदिन के होने वाले एक-एक अनुभव में होता है। केनोपनिषद् भाष्य में शंकराचार्य कहते हैं कि प्रतीतियाँ (बौद्ध प्रत्यय) आत्मज्ञान की द्वार हैं—प्रत्ययानामात्मावबोधद्वारत्वात्।[48] हमारे प्रत्ययों का, प्रतीति का विश्लेषण यह सिद्ध करता है कि ये प्रत्यय भी जिसके विषय हैं, वह इनका साक्षी रूप प्रत्यगात्म चैतन्य एक-एक बोध में, प्रतीति में जाना जाता है, प्रकाशित होता है। बुद्धिजनित सम्पूर्ण प्रतीतियाँ तपे हुए लोहे के समान नित्य विज्ञान स्वरूप आत्मा से व्याप्त होने के कारण उस विज्ञान स्वरूप आत्मा से ही प्रकाशित होती हैं। अतः बुद्धिप्रतीतियाँ आत्मा की उपलब्धि का द्वार स्वरूप हैं। शंकराचार्य कहते हैं कि प्रत्येक प्रत्यय के अवभास में जो प्रत्यगात्म स्वरूप से जाना जाता है वही ब्रह्म है; जिस समय हम उसे ऐसा देखते हैं, जानते हैं उसी समय वह ज्ञात है—यही उसका सम्यक् ज्ञान है।[49] बुद्धि आदि विषयों में आत्मत्व बोध नरक का मार्ग है तथा प्रत्यगात्मा को आत्मस्वरूप देखना ही सम्यक् ज्ञान है जिससे अमृतत्त्व की प्राप्ति होती है। इस तरह शंकर हमारे अनुभवों का ऐसा संवित्शास्त्र प्रस्तुत करते हैं जो एक साथ ही तत्त्वविद्या और मोक्षशास्त्र है। ज्ञानमीमांसा तत्त्वमीमांसा और मूल्यमीमांसा हो जाती है। हमारे एक-एक अनुभव प्रतीति में वह प्रत्यगात्मस्वरूप परमचैतन्य प्रकाशित होता है, इस तरह का ज्ञान ही उसका सम्यक् ज्ञान है और यह ज्ञान निश्चित ही मोक्ष प्रदान करता है।

शंकराचार्य बार-बार इन्द्रिय, मन, बुद्धि से परे उस प्रत्यगात्म तत्त्व को जानने की (प्रत्यगात्माभिमुखीकरणार्थ) बात करते हैं जिसके प्रकाश से सभी चीजें प्रकाशित होती हैं और जो स्वयं स्वयंप्रकाशस्वरूप है। इन्द्रियाँ आदि स्वभावतः पराकूमुखी हैं।

दूसरी ओर आत्मा नितांत आंतरिक है, प्रत्यगात्मरूप है। व्यक्ति का मूलभूत सार तत्त्व स्वयं उसके अंदर छिपा है। यह प्रत्यगात्मभूत तत्त्व ही वह मूलभूत सत्ता है जो समस्त प्रकाश का मूल और नित्य स्वयंज्योति रूप है। जाहिर है ऐसे तत्त्व की खोज बाह्य वस्तुजगत् में न हो स्वयं अपने अनुभव में होनी चाहिए। सही आध्यात्मिक रास्ता अनुभव के मूल में छिपे उसके इस स्रोत को खोजना है। ज्ञानमीमांसा अद्वैत के लिए अध्यात्ममीमांसा है। ज्ञान का विश्लेषण स्वयंज्योतिस्वरूप प्रत्यगात्मतत्त्व का विश्लेषण है, प्रतिबोधविदित तत्त्व का विश्लेषण है। यही सही तत्त्वमीमांसा है, यही मोक्षमीमांसा है क्योंकि प्रतिबोधविदित आत्मा ही ब्रह्म है; और ऐसा ज्ञान ही मोक्षप्रद है। प्रत्यगात्मरूप स्वयंप्रकाश चित् तत्त्व पर अद्वैती अनुभव या ज्ञान के विश्लेषण के रास्ते पहुँचते हैं। अनुभव या ज्ञान के विश्लेषण से हमें अपने अनुभव में वह तत्त्व प्राप्त होता है जो उसका मूल है, स्रोत है, अधिष्ठान है। अनुभव या ज्ञान के अधिष्ठान तत्त्व के रूप में उपलब्ध इस स्वयंप्रकाश चित् तत्त्व की सत्ता अद्वैतियों के लिये महज तार्किक पूर्वमान्यता मात्र नहीं है, अपितु यह ऐसा तात्त्विक सत्य है जो समस्त सत्ता का अधिष्ठान है, मूल सत्ता है, त्रिकालाबाध्य परमसत् है। अद्वैतकृत अनुभवमीमांसा अनुभव के मूल में जिस स्वयंप्रकाश आत्मतत्त्व की सत्ता को अनुस्यूत पाती है वह समस्त अनुभव का अधिष्ठान है, मूल है, स्रोत है। अनुभव का यह अधिष्ठान तत्त्व न केवल अनुभव की तार्किक मान्यता के रूप में प्राप्त होता है अपितु यह एक ऐसा तात्त्विक सत्य है जो हमारे नित-प्रति के अनुभव में अनुस्यूत होने से नितान्त अपरोक्ष है और नितान्त अपरोक्ष होने से सर्वप्रसिद्ध है। इसकी सत्ता सारे संदेहों से परे स्वतःसिद्ध और स्वयंप्रकाश है। यह तत्त्व हमारे समस्त अनुभव या ज्ञान, आनुभविक जगत् और इस जगत् में जो कुछ भी है उसका अधिष्ठान है, मूल तत्त्व ब्रह्म है।

एवंप्रकारेण हम देखते हैं कि ज्ञान की स्वप्रकाशता का विमर्श अद्वैतियों के लिये मौलिक सत्ता का विमर्श है, परमतत्त्व का विमर्श है, उस तत्त्व का विमर्श है जिसके जानने से सब कुछ ज्ञात हो जाता है—कुछ भी अज्ञात नहीं रहता, जो परम आनन्दस्वरूप है।

संदर्भ एवं टिप्पणी

1. दृष्टिरिति द्विविधा भवति—लौकिकी पारमार्थिकी चेति; तत्र लौकिकी चक्षुःसंयुक्ता अन्तःकरणावृत्तिः, सा क्रियत इति जायते विनश्यति च; या त्वात्मनोः दृष्टि-अग्न्युष्णप्रकाशादिवत्, सा च द्रष्टुः स्वरूपत्वान्न जायते न विनश्यति च।
शंकराचार्य, बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य, 3/4/2.

2. एवं तर्हि द्वे दृष्टी चक्षुषोऽनित्या दृष्टिर्नित्या चात्मनः।...
...नित्या आत्मनो दृष्टिर्बाह्यानित्यदृष्टेर्ग्राहिका।
शंकराचार्य, ऐतरेयोपनिषद् भाष्य, 2/1/ की प्रस्तावना।
3. सुरेश्वराचार्य, नैष्कर्म्यसिद्धि, II/15.
4. ...योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः...।
बृहदारण्यकोपनिषद्, 4/3/7.
5. देखें, शंकराचार्य, बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य, 4/3/7.
6. वस्तुतत्त्वं भवति किञ्चित्; न ज्ञायत इति चानुपपन्नम्। रूपं च दृश्यते न चास्ति चक्षुरिति। व्यभिचरति तु ज्ञेयम्; न ज्ञानं व्यभिचरति कदाचिदपि ज्ञेयम्, ज्ञेयाभावेऽपि ज्ञेयान्तरे भावाज्ज्ञानस्य। न हि ज्ञानेऽसति ज्ञेयं नाम भवति कस्यचित्...।
शंकराचार्य, प्रश्नोपनिषद् भाष्य, 6/2.
7. येन तदभावं कल्पयेत्तस्याभावः केन कल्पयत इति वक्तव्यं वैनाशिकेन, तदभावस्यापि ज्ञेयत्वाज्ज्ञानाभावे तदनुपपत्तेः।
शंकराचार्य, प्रश्नोपनिषद् भाष्य, 6/2.
8. शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्र भाष्य, 2/3/7.
9. सुरेश्वराचार्य, नैष्कर्म्यसिद्धि, II/37.
10. यतोऽसिद्धानि सिद्ध्यन्ति भावाभावौ यदाश्रयौ।
योऽनन्यार्थो यदर्थं च सर्वं योऽनन्यदृक् सदा।।
प्रमेयादित्रयं यस्मात् परस्परविलक्षणम्।
आत्मानं लभते सत्यः सोऽध्यक्षोऽत्राभ्युपेयताम्।।
बृहदारण्यकोपनिषद् सम्बन्धभाष्यवार्त्तिक–1083-84.
11. सर्वधीव्यञ्जकस्तद्वत् परमात्मा प्रदीपकः।
सन्निध्यसन्निधानेषु धीवृत्तीनामविक्रियः।।
न प्रकाशक्रिया काचिदस्य स्वात्मनि विद्यते।
उपचारात् क्रिया सास्य यः प्रकाश्यस्य सन्निधिः।।
सुरेश्वराचार्य, नैष्कर्म्यसिद्धि, II/68.
12. सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्व प्रसिद्धिः। सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति। यदि हि नात्मास्तित्वप्रसिद्धिः स्यात् सर्वो लोकों नाहमस्मीति प्रतीयात्।
शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्र भाष्य, 1/1/1.
13. आत्मत्वाच्चात्मनो निराकरणशङ्कानुपपत्तिः। न ह्यात्मागन्तुकः कस्यचित्, स्वयंसिद्धत्वात्। न ह्यात्मात्मनः प्रमाणमपेक्ष्य सिध्यति। तस्य हि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणान्यप्रसिद्धप्रमेयसिद्धय उपादीयन्ते।...आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात्प्रागेव प्रमाणादिव्यवहारात्सिध्यति। न चेदृशस्य निराकरणं संभवति। आगन्तुकं हि वस्तु निराक्रियते, न स्वरूपम्। य एव हि निराकर्ता तदेव तस्य स्वरूपम्। न ह्यग्नेरौष्ण्यमग्निना निराक्रियते।
शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्र भाष्य, 2/3/7.
14. वाचस्पति मिश्र, भामती, 1/1/1.
15. वाचस्पति मिश्र, भामती, 2/3/18.

16. देखें, शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्र भाष्य—1/1/4, 2/3/7, 3/2/22-23.
बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य—1/1/1, 1/4/7, 4/4/20, 2/1/20.
केनोपनिषद् भाष्य—2/1, तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्य—2/1.
17. येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति।
बृहदारण्यकोपनिषद्, 2/4/14.
न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं श्रृणुया न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः।
बृहदारण्यकोपनिषद्, 3/4/2.
18. न तु निरुपाधिकस्यात्मन एकत्वे स्वसंवेद्यता परसंवेद्यता वा सम्भवति।
शंकराचार्य, केनोपनिषद् पद-भाष्य, 2/4.
एक एवात्मा ज्ञेयत्वेन ज्ञातृत्वेन चोभयथा भवतीति चेन्न।
युगपदनंशत्वात्। नहि निरवयवस्य युगपज्ज्ञेयज्ञातृत्वोपपत्तिः।
शंकराचार्य, तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्य, 2/1.
19. न चाग्नेरिव आत्मा आत्मनो विषयः, न चाविषये ज्ञातुर्ज्ञानमुपपद्यते।
शंकराचार्य, बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य, 2/4/14.
20. बृहदारण्यकोपनिषद्, 3/4/2.
21. शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्र भाष्य, 3/2/22.
22. शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्र भाष्य, 3/2/23.
23. श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुः...।
केनोपनिषद्, 1/2.
24. श्रृणोत्यनेनेति श्रोत्रम्; तस्य शब्दावभासकत्वं श्रोत्रत्वम्। शब्दोपलब्धृरूपतयावभासकत्वं न स्वतः, श्रोत्रस्याचिद्रूपत्वात्, आत्मनश्च चिद्रूपत्वात्। यच्छ्रोत्रस्योपलब्धृत्वेनावभासकत्वं तदात्मनिमित्तत्वाच्छ्रोत्रस्य श्रोत्रमित्युच्यते।
शंकराचार्य, केनोपनिषद् वाक्य-भाष्य, 1/2.
25. बृहदारण्यकोपनिषद्, 3/4/2.
26. अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि।
केनोपनिषद्, 1/3.
27. संवेदनस्वरूपत्वात्संवेदनान्तरापेक्षा च न सम्भवति, यथा प्रकाशस्य प्रकाशान्तरापेक्षाया न संभवः तद्वत्।
शंकराचार्य, केनोपनिषद् पद-भाष्य, 2/4.
28. देखें, बृहदारण्यकोपनिषद्, 4/3/6-7, 4/4/16 छान्दोग्योपनिषद्, 3/13/7, 3/14/2, कठोपनिषद्, 5/15, मुण्डकोपनिषद्, 2/2/10, श्वेताश्वतरोपनिषद्, 6/14 । साथ ही देखें शंकराचार्य का उपरोक्त पर भाष्य। इस संदर्भ में और भी द्रष्टव्य हैं, शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्र भाष्य, 1/3/22 तथा विद्यारण्य स्वामी कृत पंचदशी का नाटकदीप प्रकरण।
29. अनिन्द्रियगोचरत्वे सत्यपरोक्षत्वात् संवेदनवत्। विद्यारण्य मुनि, विवरणप्रमेयसंग्रह, पृष्ठ 628.
30. आत्मा स्वयंप्रकाशः अनिन्द्रियगोचरत्वे सत्यपरोक्षत्वात्संवेदनवत्।

प्रकाशात्मन्, पंचपादिकाविवरण।

31. विषयी नाक्षविषयः स्वत्वान्नास्य परोक्षता।।
अवेद्योऽप्यपरोक्षोऽतः स्वप्रकाशो भवत्ययम्।
विद्यारण्य स्वामी, पंचदशी, III/27-28.

32. अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यतायास्तल्लक्षणत्वात्।
चित्सुखाचार्य, तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 16.

33. देखें, बृहदारण्यकोपनिषद्, 4/3/1-7.

34. अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ शान्तायां वाचि किं ज्योतिरेवायं पुरुष इत्यात्मैवास्य ज्योतिर्भवतीत्यात्मनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति।
बृहदारण्यकोपनिषद्, 4/3/6.

35. न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।
कठोपनिषद्, 2/2/15, मुण्डकोपनिषद्, 2/2/10, श्वेताश्वतरोपनिषद्, 6/14.

36. अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति...।
बृहदारण्यकोपनिषद्, 4/3/14.

37. मुण्डकोपनिषद्, 2/2/9.

38. शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्र भाष्य, 1/3/22.

39. अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः।
छान्दोग्योपनिषद्, 3/13/7.

40. भारूप—भा—दीप्ति अर्थात चैतन्य ही जिसका रूप है उसे भारूप कहते हैं—भारूपः, भा दीप्तिश्चैतन्यलक्षणं रूपं यस्य स भारूपः।
शंकराचार्य, छान्दोग्योपनिषद् भाष्य, 3/14/2.

41. शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्र भाष्य, 1/3/23 तथा बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य, 4/3/7.

42. यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत।।
श्रीमद्भगवद्गीता, 13/33.

43. श्रीमद्भगवद्गीता, 15/6.

44. श्रीमद्भगवद्गीता, 15/12.

45. शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्र भाष्य, 1/3/22.

46. शंकराचार्य, बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य, 4/3/7.

47. देखें, केनोपनिषद्, 2/4 तथा उस पर शंकरकृत भाष्य।

48. शंकराचार्य, केनोपनिषद् भाष्य, 2/4.

49. प्रतिबोधविदितं बोधं बोधं प्रति विदितम्। बोधशब्देन बौद्धाः प्रत्यया उच्यन्ते। सर्वे प्रत्यया विषयीभवन्ति यस्य स आत्मा सर्वबोधान्प्रति बुध्यते। सर्वप्रत्ययदर्शी चिच्छक्तिस्वरूपमात्रः प्रत्ययैरेव प्रत्ययेष्वविशिष्टतया लक्ष्यते; नान्यद्द्वारमन्तरात्मनो विज्ञानाय। अतः प्रत्ययप्रत्यगात्मतया विदितं ब्रह्म यदा, तदा तन्मतं तत्सम्यग्दर्शन-

मित्यर्थः... ।

शंकराचार्य, केनोपनिषद् पद-भाष्य, 2/4.

प्रतिबोधविदितं मतम् इति वीप्सा प्रत्ययानामात्मावबोधद्वारत्वात्। बोधं प्रति बोधं प्रतीति वीप्सा सर्वप्रत्ययव्याप्त्यर्था। बौद्धा हि सर्वे प्रत्ययाः तप्तलोहवन्नित्यविज्ञानस्वरूपात्मव्याप्तत्वाद् विज्ञानस्वरूपावभासाः, तदन्यावभासश्चात्मा तद्विलक्षणोऽग्निवदुपलभ्यत इति तेन ते द्वारीभवन्त्यात्मोपलब्धौ। तस्मात्प्रतिबोधावभासप्रत्यगात्मतया यद्विदितं तद्ब्रह्म तदेव मतं ज्ञातं तदेव सम्यग्ज्ञानवत्प्रत्यगात्मविज्ञानम्, न विषयविज्ञानम्।

शंकराचार्य, केनोपनिषद्– वाक्य-भाष्य, 2/4.

❒

परिशिष्ट

चित्सुखाचार्यकृत स्वप्रकाशत्व-निरूपण

स्वयंप्रकाशता सम्बन्धी कोई भी चर्चा अधूरी मानी जाएगी जब तक चित्सुखाचार्य द्वारा किये गये स्वयंप्रकाशता पर विमर्श का निरूपण नहीं किया जाए। चित्सुखाचार्य ने तत्त्वप्रदीपिका में बड़े ही विस्तार से स्वयंप्रकाशता का निरूपण किया है। ग्रन्थ का आरम्भ ही चित्सुख इसके विशद् विवेचन से करते हैं। स्वयंप्रकाशत्व सम्बन्धी चित्सुख के निरूपण में एतद्विषयक समूचे अद्वैत विमर्श का हार्द प्रस्तुत होता है। उपनिषद् के ऋषियों ने संविद् स्वरूप आत्मा या चित् तत्त्व की सारभूत विशेषता उसके स्वयंप्रकाश स्वरूप में देखा। शंकर और वाचस्पति ने स्वयंप्रकाशता सम्बन्धी इस आर्ष चिंतन की गहन दार्शनिक विवेचना प्रस्तुत की और इसके आधार पर एक सुव्यवस्थित दार्शनिक तंत्र की स्थापना का प्रयास किया। बाद में जब अद्वैत परम्परा में तर्कप्रधान खण्डनपरक ग्रन्थों की रचना होने लगी तब भी स्वयंप्रकाशता एक महत्त्वपूर्ण प्रतिपाद्य विषय बनी रही और जब चित्सुख ने तत्त्वप्रदीपिका में स्वयंप्रकाशत्व का निरूपण किया तो ऐसा माना जाने लगा कि इस महत्त्वपूर्ण विषय पर जो कुछ भी कहा जाने योग्य था उसे चित्सुखी में कह दिया गया। स्वयंप्रकाशता सम्बन्धी अद्वैत विमर्श और चित्सुख कृत एतद्विषयक निरूपण एक दूसरे के पर्याय माने जाने लगे। प्रस्तुत अध्याय में मेरा उद्देश्य चित्सुख कृत स्वयंप्रकाशत्व-निरूपण की दार्शनिक विवेचना प्रस्तुत करना है।

अनुभूति की स्वयंप्रकाशता के निरूपण के प्रसङ्ग में चित्सुखाचार्य सर्वप्रथम पूर्वपक्ष के रूप में इस मत का प्रतिपादन करते हैं कि स्वयंप्रकाशता का न तो कोई लक्षण संभव है और न ही इसके लिये कोई प्रमाण प्रस्तुत किया जा सकता है। इस क्रम में चित्सुखाचार्य स्वप्रकाशता के एकादश संभव लक्षणों को उपन्यस्त करते हुए इनमें से एक-एक लक्षण को दोषयुक्त सिद्ध करते हैं और इस तरह यह प्रतिपादित करते हैं कि स्वयंप्रकाशता का लक्षण असंभव है। लक्षण की असम्भाव्यता को सिद्ध करने के पश्चात् स्वप्रकाशत्व की सिद्धि के लिये दिए जाने वाले प्रमाणों का पूर्वपक्ष

द्वारा खंडन प्रस्तुत करते हैं। एवंप्रकारेण पूरी निष्पक्षता के साथ पूर्वपक्ष के तर्कों को प्रस्तुत करने के उपरान्त चित्सुखाचार्य सिद्धान्त पक्ष के इस मत का प्रतिपादन करते हैं कि अनुभूति की सर्वप्रसिद्ध स्वयंप्रकाशता के लिए न तो प्रमाणों की कमी है और न ही इसका लक्षण ही असंभव है। पूर्वपक्ष के रूप में विवेचित स्वप्रकाशत्व का ग्यारहवाँ लक्षण **अवेद्यत्वविशिष्ट अपरोक्षव्यवहार योग्यत्व** पूरी तरह से दोषमुक्त होने के कारण उसका निर्दुष्ट लक्षण है। इसी तरह स्वयंप्रकाशता की सिद्धि में प्रमाणों का अभाव भी नहीं है। 'अनुभूतिः स्वयंप्रकाशा, अनुभूतित्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा घटः' यह केवल व्यतिरेकी अनुमान सारे दोषों से मुक्त है तथा अनुभूति की स्वयंप्रकाशता को सिद्ध करने में पूर्ण सक्षम है।

चित्सुखाचार्यकृत स्वप्रकाशत्व-निरूपण : पूर्वपक्ष

जैसा कि पीछे कहा गया है, चित्सुखाचार्य स्वयंप्रकाशता सम्बन्धी अपने विवेचन का आरम्भ ही स्वयंप्रकाशता के विभिन्न संभावित अर्थों के विश्लेषण द्वारा करते हैं। इस सम्बन्ध में वे इसके ग्यारह संभावित अर्थों की चर्चा करते हैं, इसके ग्यारह संभावित लक्षणों को प्रस्तुत करते हैं।[1] स्वप्रकाशता का जो प्रथम संभावित अर्थ चित्सुखाचार्य उपन्यस्त करते हैं वह है **स्वत्वविशिष्ट प्रकाशता**। स्वप्रकाशता स्वत्वविशिष्ट प्रकाशता है—स्वश्चासौ प्रकाशश्च स्वप्रकाशः। अर्थात् जिसमें स्वत्व हो और प्रकाशता हो वह स्वप्रकाश है। पर जैसा कि देखा जा सकता है, उपर्युक्त लक्षण में अतिव्याप्ति दोष है क्योंकि अस्वप्रकाशभूत वृत्ति रूप ज्ञान जो कि वेद्य है उसमें भी यह लक्षण चला जाता है, कारण यह है कि 'स्वत्व' और 'प्रकाशता' दोनों उसमें हैं।[2]

द्वितीय संभावित लक्षण जिस पर चित्सुखाचार्य विचार करते हैं, वह है **स्वविषयकता-विशिष्ट प्रकाशता**। अर्थात् स्वप्रकाशता का अर्थ है स्वयं को स्वयं ही प्रकाशित करना—स्वस्य स्वमेव प्रकाश। जाहिर है यह परिभाषा सहज ही बौद्धों का स्मरण दिलाती है जो ज्ञान को स्वप्रकाश मानते हुए यह प्रतिपादित करते हैं कि हर ज्ञान दीपक की तरह स्वयं अपने आपको प्रकाशित करता है। अब स्वप्रकाशता का उपर्युक्त विधया लक्षण असंभव है क्योंकि उसमें 'कर्तृकर्मभाव विरोध' हो जाता है—न द्वितीयः, कर्मकर्तृभावविरोधेन लक्षणस्यासंभवात्।[3] कर्त्ता और कर्म हमेशा भिन्न-भिन्न होते हैं। एक ही वस्तु में एक साथ किसी क्रिया का कर्तृत्व और कर्मत्व नहीं रहता। 'देवदत्तो ग्रामं गच्छति' यहाँ गमन क्रिया का कर्तृत्व देवदत्त में है और कर्मत्व ग्राम में है। यदि कर्तृत्व और कर्मत्व एक ही जगह रहने लगे, तो 'देवदत्तः स्वं गच्छति' ऐसा भी प्रयोग होने लगेगा जो कि होता नहीं है। इसीलिए नैयायिकों ने कर्मत्व का लक्षण किया है कि कर्म वह है जो अपने से भिन्न में रहने वाली क्रिया

से जन्य फल का आधार हो—परसमवेतक्रियाजन्यफलशालित्वम्। अब यदि कोई प्रकाश अपना ही प्रकाशक होगा तो प्रकाश क्रिया का वही कर्त्ता होगा और वही कर्म, और इस तरह दो विरोधी धर्मों (कर्तृत्व-कर्मत्व) के एकत्र होने का प्रसङ्ग प्राप्त होगा।[4]

चित्सुख द्वारा विचारित स्वप्रकाशता का तीसरा लक्षण है सजातीय प्रकाश से अप्रकाशितता—**सजातीयप्रकाशाप्रकाश्यत्वं वा।** उपरोक्त लक्षण भी निर्दुष्ट नहीं कहा जा सकता। लक्षण में अतिव्याप्ति दोष है क्योंकि संसार में ऐसी बहुत सी वस्तुएँ हैं जो सजातीय प्रकाश से प्रकाशित नहीं है और अस्वप्रकाश हैं। उदाहरण के लिये प्रदीपादि सजातीय प्रकाश से प्रकाशित नहीं है, पर इन्हें स्वयंप्रकाश नहीं कहा जा सकता है। इसी तरह घटादि भी सजातीय प्रकाश से प्रकाशित नहीं है। घट जिस 'ज्ञान' या 'प्रदीप' से प्रकाशित होता है वे उसके सजातीय नहीं कहे जा सकते। यदि यह कहा जाए कि प्रदीप या ज्ञान और घट में 'सत्ता' जाति समान रूप से विराजमान है अतः प्रदीप या ज्ञान घट के सजातीय ही हुए और फलतः घट सजातीय प्रकाश से प्रकाशित है तो यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि इस प्रकार साजात्य मानने पर सारा संसार ही सजातीय हो जाएगा और सजातीय विशेषण ही व्यर्थ हो जाएगा। यहाँ विजातीय प्रकाश को व्यावृत करने के लिये ही सजातीय विशेषण का प्रयोग किया गया है। सत्ता जाति शून्य विजातीय प्रकाश संभव ही नहीं, अतः किसे हटाने के लिये यह विशेषण सार्थक होगा ? फिर तो व्यर्थ सजातीय पद हटाने पर प्रकाशाप्रकाश्यता (प्रकाश से अप्रकाशितता) इतना ही लक्षण शेष रह जाता है जो कि अलीक बन्ध्यापुत्रादि में भी चला जाएगा। अतः सजातीय प्रकाश से अप्रकाशितता स्वयंप्रकाशता का लक्षण नहीं माना जा सकता।

स्वप्रकाशता का एक अन्य संभावित लक्षण हो सकता है **अपनी सत्ता में एक क्षण के लिए भी प्रकाशविरहित न होना।** अर्थात् स्वप्रकाशता स्वसत्ता में प्रकाशनियतता है—स्वसत्तायां प्रकाशव्यतिरेकविरहितत्वम्। नयनप्रसादिनीकार इसी को कहते हैं—यावदस्य सत्ता तावत् प्रकाशेनावियोगः।[5] ज्ञान का यह स्वरूप होता है कि वह अज्ञात सत्ता वाला नहीं होता है। ज्ञान हो और हमें उसका ज्ञान न हो यह असंभव है। न्यायादि ज्ञान को परप्रकाश्य मानते हैं। वे यह मानते हैं कि जिस समय ज्ञान की उत्पत्ति होती है उस समय हमें उसका ज्ञान नहीं रहता, पश्चात् अनुव्यवसाय द्वारा उसका ग्रहण होता है। पर वेदान्त के अनुसार ज्ञान एक क्षण के लिए भी प्रकाश से विरहित नहीं रहता। अस्तु, स्वसत्ता में प्रकाशविरहितत्व स्वप्रकाशत्व का सही लक्षण प्रतीत होता है। परन्तु चित्सुखाचार्य का कहना है कि यह लक्षण भी निर्दुष्ट नहीं है क्योंकि सुखादि में इसकी अतिव्याप्ति होती है। सुख, दुःख, इच्छा आदि स्वभावतः ऐसे होते हैं कि एक क्षण के लिये भी अज्ञात नहीं रहते, वे अपनी सत्ता में प्रकाश नियत ही

रहते हैं। अब सुख, दुःखादि स्वप्रकाश नहीं है। अतः स्वप्रकाशत्व का उपरोक्त लक्षण दूषित है। नयनप्रसादिनीकार कहते हैं कि एक तरफ जहाँ यह लक्षण ईश्वरज्ञान या साक्षिज्ञान में अतिव्याप्त है वहीं दूसरी ओर घटादि में भी व्याप्त है क्योंकि ईश्वर या साक्षी प्रकाश से वे सर्वदा युक्त ही रहते हैं।[6] यहाँ यह ध्यातव्य है कि धर्मकीर्ति चित्त और चैत्त का समान रूप से स्वसंवेदन द्वारा ग्रहण मानते हैं। ज्ञान इस अर्थ में सुखादि अन्य चित्त की अवस्थाओं के समान है कि वह अपनी सत्ता में कभी प्रकाश विरहित नहीं होता। ज्ञान हो और हमें उसका ज्ञान न हो यह उसी तरह असंभव है जैसे किसी को सुख या दुःख हो और उसका ज्ञान न हो। वस्तुतः सुखादि के ग्रहण की जैसी प्रक्रिया होती है वैसी ही ज्ञान के ग्रहण की भी होनी चाहिए। देखा जाए तो धर्मकीर्ति का उपरोक्त मत सही ही प्रतीत होता है। ज्ञान इस अर्थ में सुख, दुःख, इच्छा आदि के समान ही है कि यह अपनी सत्ता में एक क्षण के लिये भी प्रकाशविरहित नहीं होता, हमेशा ज्ञातसत्ताक ही रहता है। स्वयं शंकराचार्य गीता-भाष्य में कहते हैं कि ज्ञान सुखादि की तरह ही अत्यंत प्रसिद्ध है—ज्ञानम् अत्यन्तं प्रसिद्धं सुखादिवद्।[7] तो क्या सुखादि को ज्ञान की तरह ही स्वप्रकाश मान लेना चाहिए और स्वसत्ता में प्रकाश-नियतता को स्वप्रकाशता का साधु लक्षण ? वस्तुतः इस सम्बन्ध में हमें यह ध्यान रखना होगा कि अद्वैती ज्ञान शब्द का द्विविध अर्थों में प्रयोग करते हैं। ज्ञान शब्द का पारमार्थिक या मुख्य अर्थ अनादि, अनन्त, नित्य स्वयंप्रकाश चैतन्यतत्त्व से है, वास्तविक अर्थों में यही स्वयंप्रकाश है। पारमार्थिक अर्थ में ऐसा होने पर भी ज्ञान शब्द व्यवहार में घट, पटादि के अनित्य, जायमान, खण्ड ज्ञान के रूप में प्रयुक्त होता है, यही वृत्ति-ज्ञान है। अब यह वृत्ति-ज्ञान सुख, दुःख, इच्छा आदि के समान ही अन्तःकरण का धर्म है, केवल साक्षि-भास्य है। स्वयंप्रकाश साक्षिचैतन्य रूप प्रकाश से एक क्षण भी विरहित न रहने के कारण सुख, दुःख, इच्छा आदि या घट-पटादि का वृत्तिज्ञान एक क्षण भी अप्रकाशित नहीं रहता। अतः न तो सुख, दुःख, इच्छा आदि ही और न ही ज्ञान (वृत्ति-ज्ञान) स्वप्रकाश है, वास्तविक स्वयंप्रकाश आत्मा स्वरूप चैतन्य या परमतत्त्व ब्रह्म है। स्वप्रकाश न होने के बावजूद सुख, दुःख, इच्छा आदि अथवा घट-पटादि के वृत्तिरूप ज्ञान का ऐसा स्वभाव होता है कि वह सर्वदा ज्ञात-सत्ताक ही रहता है, एक क्षण के लिये भी अप्रकाशित नहीं रहता।

चित्सुखाचार्य द्वारा विवेचित स्वप्रकाशत्व का पाँचवाँ लक्षण है **स्वव्यवहारहेतुप्रकाशत्व।** अर्थात् स्वप्रकाशता स्वव्यवहार-हेतुता-विशिष्ट प्रकाशता है। अब यह लक्षण भी उपयुक्त नहीं है क्योंकि प्रदीपादि में अतिव्याप्त है। प्रदीपादि में अपने व्यवहार की हेतुता भी और प्रकाशता भी है। यदि यह कहा जाए कि ज्ञानरूप व्यवहार की हेतुता

लक्षणगत व्यवहारहेतुता से विवक्षित है, तो यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि व्यवसायरूप ज्ञान-व्यवहार के हेतु अनुव्यवसाय में अतिव्याप्ति होगी। अनुव्यवसाय वेद्य या अस्वप्रकाश है, फिर भी व्यवसायरूप ज्ञान के व्यवहार का हेतु प्रकाश है ही। पुनः **प्रदीपज्ञानमिदम्** इस व्यवहार के हेतु प्रदीप प्रकाश में भी उपर्युक्त लक्षण की अतिव्याप्ति होती है क्योंकि स्वव्यवहारहेतुता और प्रकाशता दोनों उसमें है।

यहाँ उपर्युक्त लक्षण के अङ्गभूत व्यवहार-हेतुत्व के सम्बन्ध में एक और जिज्ञासा उत्पन्न होती है। वह यह है कि उपर्युक्त व्यवहार-हेतुत्व प्रकाश का विशेषण है या उपलक्षण ? जो गुण किसी वस्तु में रहकर अन्य वस्तुओं का उससे व्यावर्तन करे, उसे **विशेषण** कहते हैं जैसे नीलोत्पलम्—विद्यमानं सति इतर व्यावर्तकत्वं विशेषणत्वम्। किसी वस्तु में विद्यमान न रहते हुए भी जो अन्य वस्तुओं का उससे व्यावर्तन करे, उसे उपलक्षण कहते हैं—अविद्यमानं सति इतर व्यावर्तकत्वम् उपलक्षणम्। यदि व्यवहार-हेतुत्व को विशेषण माना जाए तो ठीक नहीं होगा क्योंकि मुक्ति तथा प्रलय आदि अवस्थाओं में व्यवहार-हेतुत्वरूप विशेषण आत्मा में न रहने से अव्याप्ति होती है। यदि व्यवहार-हेतुत्व को उपलक्षण माना जाए तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि उपलक्षणत्व धर्म के विषय में भी वही जिज्ञासा होगी कि वह विशेषण है या उपलक्षण। उपलक्षणत्व को विशेषण मानने पर वही पहले का अर्थात् मुक्ति तथा प्रलयकालीन आत्मा में अव्याप्ति का दोष प्राप्त होगा। यदि उपलक्षण माना जाए तो अनवस्था दोष स्पष्ट ही है। अब यदि "उपलक्षितत्व"को उपलक्षित का विशेषण या उपलक्षण न मानकर स्वरूप मानें तो स्वव्यवहारहेतुत्व कहने की आवश्यकता ही क्या है ? फिर तो "ज्ञानं प्रकाशः" इतना ही लक्षण रह जाता है, परिणामतः लक्षण ही सिद्ध नहीं होगा क्योंकि लक्ष्य से अभिन्न लक्षण नहीं रहता। घट का लक्षण 'घट' कैसे हो सकता है ? लक्षण लक्ष्य का स्वरूप मात्र न होकर असाधारण धर्म होता है। फिर, दूसरी बात यह है कि जड़ ज्ञान में भी तो प्रकाशत्व है ही, अतः 'प्रकाशः स्वप्रकाशः' ऐसा लक्षण करने पर लक्षण की अतिव्याप्ति होती है।

स्वप्रकाशत्व के छठे संभावित लक्षण के रूप में चित्सुखाचार्य **ज्ञानाविषयत्व** को प्रस्तुत करते हैं। अर्थात् स्वप्रकाशता ज्ञान की अविषयता है। पर जैसा कि हम सहज ही देख सकते हैं कि स्वयंप्रकाश ब्रह्म में स्वयंप्रकाशत्व साधक अनुमान, आगम-आदि प्रमाणों से जन्य ज्ञान की विषयता ही रहती है, अविषयता नहीं। अतः लक्षण में असंभव दोष है। यदि आत्मा या ब्रह्म में प्रमाण-जन्य ज्ञान की विषयता न मानें, तो उस पर कथा-प्रवृत्ति ही संभव नहीं रह जाती। पुनः, यह लक्षण शशविषाणादि अलीक में अतिव्याप्त है क्योंकि उनमें भी ज्ञानाविषयत्व है ही।

स्वयंप्रकाशता के एक अन्य संभावित लक्षण के रूप में चित्सुखाचार्य

ज्ञानाविषयता-विशिष्ट अपरोक्षता की चर्चा करते हैं। अब यह लक्षण भी निर्दोष नहीं है। प्रथम कारण तो यह है कि जैसा कि हमने ऊपर देखा कि स्वयंप्रकाश आत्म तत्त्व में ज्ञानविषयता रहती ही है, अतः लक्षण में असंभव दोष हो जाता है। पुनः 'विषयता' शब्द का अर्थ यदि 'कर्मत्व' करें तो ज्ञानाविषयत्व-विशिष्ट अपरोक्षता का अर्थ होगा ज्ञानाकर्मत्व-विशिष्ट अपरोक्षता, अब इसके प्राभाकरों के जड़ आत्मा में भी रहने से अतिव्याप्ति हो जाएगी। प्राभाकरों के अनुसार आत्मा ज्ञान का अकर्म होने के बावजूद ज्ञानाश्रयत्वेन अपरोक्ष रहता है। प्राभाकर त्रिपटीप्रत्यक्षवादी हैं और हर ज्ञान में आश्रयतया आत्मा के अपरोक्ष भासन को स्वीकार करते हैं, जबकि आत्मा ज्ञान का कर्म नहीं है। अब ज्ञान का कर्म न होने के कारण ज्ञानाविषयत्व-विशिष्ट अपरोक्षता प्राभाकरों के 'आत्मा' में चली जाती है जो कि अस्वप्रकाश और जड़ है, फलतः लक्षण में अतिव्याप्ति दोष चला आता है।

चित्सुखाचार्य द्वारा विवेचित स्वप्रकाशता का अष्टम लक्षण है **व्यवहार-विषयता-विशिष्ट ज्ञानाविषयता**। यह लक्षण भी समुचित नहीं है क्योंकि इसमें भी पूर्व के उक्त दोष रहते ही हैं। अर्थात् मोक्षादि कालीन आत्मा में व्यवहाराभाव होने से जहाँ लक्षण में अव्याप्ति हो जाती है वहीं ज्ञानाविषयत्व के संभव न होने से लक्षण में असंभव दोष आ जाता है। उक्त दो दोषों के अतिरिक्त लक्षण में एक अन्य दोष भी है। प्राभाकर दार्शनिक शुक्ति-रजतादि-संसर्ग में व्यवहार-विषयता मानने पर भी ज्ञानविषयता नहीं मानते हैं, फलतः प्राभाकर मत से शुक्ति-रजतादि-संसर्ग में उक्त लक्षण की अव्याप्ति होगी।

चित्सुखाचार्य स्वप्रकाशता के एक अन्य संभावित लक्षण के रूप में **स्व-सम्बन्धी व्यवहार में सजातीय अन्य की अनपेक्षता** इस लक्षण की चर्चा करते हैं—स्वप्रतिबद्धव्यवहारे सजातीयपरानपेक्षत्वं वा। अब यह लक्षण भी उपयुक्त नहीं है क्योंकि सजातीय पर की अपेक्षा प्रदीपादि और घटादि को भी स्वसम्बन्धी व्यवहार में नहीं होती। फलतः उनमें उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि भले ही प्रदीप को स्वविषयक व्यवहार में प्रदीपान्तर की अपेक्षा नहीं रहती, किन्तु 'ज्ञान' की अपेक्षा तो होती ही है। अब 'ज्ञान' भी प्रदीप का सजातीय ही तो है, क्योंकि एक ही सत्ता जाति दोनों में रहती है। सजातीयत्व की इस तरह विवक्षा करने पर चित्सुखाचार्य का कहना है कि लक्षण ही असंभव हो जाएगा, क्योंकि जन्य मात्र में अदृष्ट आदि निमित्त हैं और अदृष्ट सत्ता जाति के द्वारा सजातीय भी है, फलतः अदृष्ट रूप सजातीय अन्य की अपेक्षा तो सबको स्वसम्बन्धी व्यवहार में होगी ही। स्वयंप्रकाश आत्मा को भी अपने व्यवहार में अदृष्ट आदि की अपेक्षा है और वे अदृष्ट आदि सत्ता जाति द्वारा सजातीय हुए, फलतः उपयुक्त लक्षण स्वयंप्रकाश

आत्मा में ही नहीं जाता।

स्वप्रकाशता के दसवें संभावित लक्षण के रूप में चित्सुखाचार्य **अवेद्यता-विशिष्ट-अपरोक्ष-व्यवहार-विषयता** को प्रस्तुत करते हैं—अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारविषयत्वं वा। पर यह लक्षण भी उपयुक्त नहीं है। स्वयंप्रकाश वस्तु के अवेद्य होने पर किस तरह उसके विषय में विचार-विनिमय की असंभावना होगी यह पहले ही छठे लक्षण के प्रसङ्ग में दिखाया जा चुका है। दूसरी बात यह है कि 'अपरोक्ष-व्यवहार-विषयता'—इस शब्द द्वारा यह स्पष्ट रूप से कह दिया गया कि स्वयंप्रकाश आत्मा में प्रत्यक्ष ज्ञान की विषयता है, अब इसके विपरीत उसमें अवेद्यत्व (ज्ञानाविषयत्व) कहना उतना ही विरुद्ध है जितना कि यह कहना कि 'मेरी माता बंध्या है'। पुनः सुषुप्ति, प्रलय और मोक्ष—कालीन आत्मा में इस लक्षण की अव्याप्ति भी है क्योंकि वहाँ कोई व्यवहार ही संभव नहीं, अतः उसकी विषयता का अभाव होता ही है।

अंत में, चित्सुखाचार्य स्वप्रकाशता के ग्यारहवें संभावित लक्षण के रूप में **अवेद्यता-विशिष्ट अपरोक्ष-व्यवहार-योग्यता** को प्रस्तुत करते हैं—अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वं वा। अब पूर्वपक्ष का कहना है कि यह लक्षण भी समीचिन नहीं है क्योंकि उक्त योग्यता या तो स्वयंप्रकाश वस्तु का धर्म है या स्वरूप; और दोनों पक्षों में दोष स्पष्ट है। यदि उक्त योग्यता को स्वयंप्रकाश का धर्म मान लिया जाए; तब तो मोक्ष दशा में उसकी अव्याप्ति होगी क्योंकि उस दशा में आत्मा में कोई धर्म नहीं माना जाता। यदि कोई धर्म माना जाएगा, तो अद्वैतवादियों के लिये यह अपसिद्धान्त होगा; क्योंकि अद्वैतवाद में किसी प्रकार का धर्म आत्मा में नहीं माना जाता। यदि उक्त योग्यता को स्वयंप्रकाश का स्वरूप मानें, तब ज्ञान स्वरूप आत्मा में भी व्यवहार-निरूपणीयता आ जाने से उसे व्यवहार रूप निरूपक वाले प्रतियोगी की नियत अपेक्षा होगी। अर्थात् व्यवहार-निरूपणीयता आ जाने से ह्रस्वत्व-आदि की भाँति नित्य सापेक्षता आ जाएगी। स्वयंप्रकाश आत्मा का वर्णन करने के लिये उसके प्रतियोगी की कल्पना करनी होगी, जो कि असंभव है।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् अंत में हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि स्वप्रकाशता का कोई भी निर्दोष लक्षण संभव नहीं है। एवंप्रकारेण लक्षण की असम्भाव्यता को दिखाने के पश्चात् चित्सुखाचार्य पूर्वपक्ष की ओर से यह उपस्थापित करते हैं कि **स्वप्रकाशता के लिये कोई प्रमाण भी नहीं है**। यहाँ वेदान्ती यह कह सकता है कि स्वप्रकाशता के लिये प्रमाण के रूप में निम्न अनुमान-प्रमाण तो है ही।[8] —

अनुभूतिः अनुभूतिव्यवहारहेतुप्रकाशः,
अनुभूतित्वात्

यन्नैवं तन्नैवं यथा घटः।

अर्थात्–

अनुभूति अनुभूति-व्यवहार का हेतुभूत प्रकाश है, क्योंकि अनुभूतित्वयुक्त है, जो वैसा (अनुभूतिव्यवहार का हेतुभूतप्रकाश) नहीं होता, वह ऐसा (अनुभूतित्वयुक्त) नहीं होता, जैसे घट।

वेदान्ती कह सकता है कि स्वप्रकाशत्व के प्रमाण के रूप में प्रस्तुत उपर्युक्त केवलव्यतिरेकी अनुमान में कोई दोष नहीं है और वह पूरी तरह से निर्दुष्ट है। उपर्युक्त अनुमान के विषय में यह संदेह नहीं किया जा सकता है कि इसमें अप्रसिद्धविशेषणता का दोष है। अप्रसिद्धविशेषणता का तात्पर्य है पक्ष के साध्य रूप विशेषण की अप्रसिद्धि अर्थात् साध्याप्रसिद्धि से। अनुमान में यह नहीं होना चाहिए। उपर्युक्त अनुमान प्रस्तुत करने वाले वेदान्तियों का कहना है कि इस अनुमान में साध्याप्रसिद्धि या अप्रसिद्धविशेषणता का दोष नहीं है क्योंकि अनुभूति-व्यवहार का हेतुभूत प्रकाशत्व तो दूसरों के (नैयायिक) मत में भी प्रसिद्ध है ही (अनुव्यवसाय में)। अनुव्यवसाय वह प्रसिद्ध स्थल है जिसमें अनुभूति-व्यवहार का हेतुभूत प्रकाशत्व पाया जाता है। अतः अनुभूति में अनुभूति-व्यवहार-हेतु प्रकाशत्व रूप साध्य की प्रतिज्ञा युक्त ही है। यहाँ यह शंका की जा सकती है कि यदि उपर्युक्त अनुमान में अप्रसिद्धविशेषणता का दोष नहीं है तो एक अन्य दोष तो है ही। अनुव्यवसाय ज्ञान में साध्य निश्चित होने के कारण अनुभूति के उस भाग में सिद्ध साधनता का दोष है क्योंकि अनुव्यवसाय भी तो एक प्रकार की अनुभूति ही है। पर यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि वेदान्त मत में अनुव्यवसाय माना ही नहीं जाता, फिर वह पक्ष का एक देश कैसे बनेगा जिससे भाग में सिद्धसाधनता होगी। अस्तु, स्वयंप्रकाशता के लिये प्रस्तुत अनुमान प्रमाण में कोई दोष नहीं है। न तो इसमें अप्रसिद्धविशेषणता (साध्याप्रसिद्धि) का दोष है और न ही सिद्धसाधनता का दोष है।[9]

स्वप्रकाशत्व के प्रमाण के रूप में वेदान्तियों द्वारा संभावित रूप से प्रस्तुत किये जाने वाले उपर्युक्त अनुमान का खंडन करते हुए परपक्षी (नैयायिकादि) का कहना है कि उपर्युक्त केवलव्यतिरेकी अनुमान ठीक नहीं है, क्योंकि अनुभूति-व्यवहार-हेतुभूत प्रकाशत्व रूप साध्य जहाँ प्रसिद्ध है (अनुव्यवसाय ज्ञान में) वहाँ यदि हेतु (अनुभूतित्व) रहता है; तब केवलव्यतिरेकिता भंग हो जाती है। (दिया हुआ अनुमान केवलव्यतिरेकी अनुमान के रूप में प्रयुक्त हुआ है। केवलव्यतिरेकी अनुमान वही होता है जिसके साध्य और हेतु का सहचार कहीं निश्चित न हो। किन्तु यहाँ साध्य (अनुभूति-व्यवहार-हेतुभूत-प्रकाशत्व) के अधिकरण में हेतु (अनुभूतित्व) की सत्ता निश्चित हो जाती है। ऐसी स्थिति में यह अनुमान तो केवलव्यतिरेकी अनुमान न

होकर अन्वयव्यतिरेकी हो जाता है।) और यदि वहाँ हेतु नहीं रहता तब अनुभूतित्व हेतु, सपक्ष में नहीं होने से असाधारणरूप अनैकान्तिक हो जाता है। (साध्य का होना जिसमें निश्चित हो उसे सपक्ष कहते हैं और साध्य का न होना जहाँ निश्चित हो उसे विपक्ष कहते हैं। यहाँ हेतु सपक्ष में है नहीं, विपक्ष में उसका रहना अनुमान-प्रयोक्ता को भी मान्य नहीं। ऐसी स्थिति में हेतु के सपक्ष या विपक्ष में न रहकर केवल पक्ष मात्र में रहने से असाधारण अनैकान्तिक दोष की प्रसक्ति हो जाती है।) सपक्ष (अनुव्यवसाय) में हेतु के रहने पर भाग (पक्ष के एक देश) में सिद्धसाधनता दोष भी है।[10] जबकि दूसरे (प्रतिवादी) के मत में अनुभूति-व्यवहार-हेतुभूत प्रकाशत्व रूप साध्यवाला अनुव्यवसाय प्रसिद्ध है, तब यह कह देने मात्र से कि हमारे (वेदान्ती के) मत में अनुव्यवसाय सिद्ध नहीं, सिद्धसाधनता का परिहार नहीं हो जाता। यदि ऐसा होने लगे तो अन्यथाख्यातिवादी जहाँ (शुक्ति-रजतादि स्थल में) रजत-ज्ञान को रजतेच्छाधीन पुरोवर्तिप्रवृत्ति हेतु के आधार पर पुरोवर्तिविषयक सिद्ध करना चाहता है, वहाँ वेदान्तियों की तरफ से उठने वाली इस आपत्ति का "कि उपर्युक्त अनुमान में सिद्धसाधन दोष है क्योंकि रजतज्ञान तो पुरोवर्तिविषयक है ही, इसे सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि जब हमें शुक्ति के स्थान पर रजत् का ज्ञान होता है तो अनिर्वचनीय रजत ही हमारे ज्ञान का विषय होता है" नैयायिक केवल यह कह कर इस दोष का परिहार करने में समर्थ हो जाता कि अनिर्वचनीय रजत उसके मत में प्रसिद्ध है ही नहीं, अतः सिद्धसाधनता का प्रश्न ही नहीं उठता। यहाँ यदि अन्यथाख्यातिवादी यह कहता है कि उसका यह अनुमान-प्रयोग अनिर्वचनीयवादी के प्रति है ही नहीं जिनके मत में सिद्धसाधनता दोष आयेगा, तब तो उसे मौन ही रहना चाहिए क्योंकि प्रश्न उठेगा कि किसके लिये यह प्रयोग है। अब इसी तरह स्वप्रकाशत्व के लिये प्रस्तुत उपर्युक्त अनुमान (अनुभूतिः अनुभूतिव्यवहारहेतुप्रकाशः, अनुभूतित्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा घटः।) का प्रयोग यदि अनुव्यवसायवादियों के लिये किया गया है तब तो उसमें सिद्धसाधनता का दोष अवश्य होता है और यदि इसका प्रयोग उनके लिये नहीं है तब तो वह बिल्कुल निरर्थक है क्योंकि स्वप्रकाशवादियों के अनुसार अनुभूति या ज्ञान तो स्वप्रकाश है ही, उसे सिद्ध करने की भला क्या आवश्यकता ? तब तो मौन ही एक मात्र चारा रह जाता है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि स्वप्रकाशत्व के लिये प्रस्तुत उपर्युक्त अनुमान में उद्भावित सिद्धसाधनता दोष का परिहार पक्ष में अर्थात् अनुभूति में **विवादपद** जोड़ने से हो जाता है। **विवादपद** जोड़ने से अनुव्यवसाय का व्यवच्छेद हो जाता है, वह पक्ष कोटि में रह ही नहीं जाता, पक्ष-कोटि में नहीं रहने से सिद्धसाधनता दोष का परिहार हो जाता है। यहाँ हम सहज ही देखते हैं कि **विवादपद** जोड़ने से भले ही सिद्धसाधनता

का परिहार हो जाता है, पर 'अनुव्यवसाय' को साध्यप्रसिद्धि का स्थल मानने पर केवलव्यतिरेकिता की हानि और न मानने पर साध्याप्रसिद्धि का प्रसङ्ग यथावत् बना रहता है। यदि कहें कि अनुव्यवसाय में साध्य-प्रसिद्धि का स्थल केवल नैयायिक मानते हैं, तो भी यह तो कहा ही जाएगा कि फिर उनके प्रति इस केवलव्यतिरेकी अनुमान का प्रयोग भला क्यों कर ?

स्वप्रकाशत्व के प्रमाण के रूप में प्रस्तुत उपर्युक्त अनुमान के साध्य अनुभूतिव्यवहारहेतुप्रकाशतत्व के सम्बन्ध में एक और जिज्ञासा होती है कि वहाँ 'व्यवहारहेतुत्व' प्रकाश का विशेषण है अथवा उपलक्षण ? यदि 'व्यवहारहेतुत्व' को प्रकाश का विशेषण माना जाए तो मोक्षावस्था में आत्मा में उसका अभाव हो जाने से स्वयंप्रकाशता का अभाव हो जाएगा। 'व्यवहारहेतुत्व' का अर्थ यदि 'व्यवहारहेतुत्वयोग्यता' से लिया जाए तो भी यह प्रश्न उठेगा कि उक्त योग्यता स्वयंप्रकाश वस्तु का स्वरूप है अथवा उससे अतिरिक्त है ? यदि उसे स्वरूप माना जाए तो उसमें व्यवहारनिरूपणीयता आ जाने से उसे व्यवहार रूप निरूपक वाले प्रतियोगी की नियत अपेक्षा होगी, फलतः नित्य सापेक्षता (सप्रतियोगिकत्व) आ जाएगी। स्वरूपातिरिक्त उक्त योग्यता को विशेषण मानने पर मोक्षकालीन आत्मा में स्वयंप्रकाशताभाव का ऊपर विवेचित दोष होता है। व्यवहार-हेतुत्व अथवा व्यवहार-हेतुत्व-योग्यता को उपलक्षण मानकर तदुपलक्षित प्रकाशात्मत्व को ही यदि साध्य माना जाए, तो भी तदुपलक्षितत्व को लेकर यह समस्या उठेगी कि वह साध्य के अंतर्गत है अथवा बहिर्गत। यदि अंतर्गत है अर्थात् विशेषण है तो फिर से मोक्षकालीन आत्मा में स्वयंप्रकाशताभाव का वही दोष आ जाएगा और यदि उसे उपलक्षण माने तो प्रकाशरूपता मात्र ही साध्य हो जाएगा। और चूँकि वह तो अन्यत्र (अनुव्यवसाय) में भी सिद्ध है, फलतः केवलव्यतिरेकी अनुमान का अवकाश नहीं रहेगा।

स्वप्रकाशत्व के लिये प्रस्तुत उपर्युक्त अनुमान के समान ही अन्य दूसरे संभावित अनुमान प्रयोगों यथा **अनुभूतिः अनुभाव्या न भवति, अनुभूतित्वात्** आदि का भी उपरोक्त ढंग से ही खंडन हो जाता है। जाहिर है इस अनुमान में भी अप्रसिद्धविशेषणता का दोष आपतित हो जाता है। इसके अतिरिक्त **ज्ञानं वेद्यं वस्तुत्वाद् घटवद्** इस प्रकार के विरोधी अनुमान-प्रयोग के संभव होने से सत्प्रतिपक्षत्व दोष भी आ जाता है।[11] ज्ञान को वेद्य अर्थात् अस्वप्रकाश सिद्ध करने वाले उपर्युक्त अनुमान के सम्बन्ध में स्वप्रकाशवादी यह नहीं कह सकता है कि उसमें वस्तुत्व रूप हेतु ही पक्ष में असिद्ध है, क्योंकि सत्ताधिकरणत्वरूप वस्तुत्व वैसे ही पक्ष में सिद्ध है जैसे कि अनुभूतित्व। 'वस्तुत्व' हेतु के विषय में यह नहीं पूछा जा सकता है कि

यह कल्पित है या अकल्पित, अन्यथा 'अनुभूतित्व' के विषय में भी इसी तरह के प्रश्न उठेंगे। अस्तु, कल्पिताकल्पित-कोटि-निरपेक्ष अनुभूतित्व के समान वस्तुत्व भी है। परप्रकाशवादी नैयायिक प्रभृति द्वारा प्रस्तुत **ज्ञानं वेद्यं वस्तुत्वाद् घटवद्** इस अनुमान के सम्बन्ध में स्वप्रकाशवादी अद्वैतियों की तरफ से यह आपत्ति उठायी जा सकती है कि यहाँ पर साध्यमान वेद्यत्व पारमार्थिक है अथवा व्यावहारिक है अथवा साधारण (पारमार्थिक-व्यावहारिक उभयसमान) है ? प्रथम कल्प को मानने पर दृष्टान्त घट-आदि साध्यशून्य होंगे क्योंकि पारमार्थिक वेद्यत्व अद्वैती वहाँ मानते नहीं। अन्य पक्षों में सिद्धसाधनता दोष होगा, क्योंकि अद्वैती भी अनुभूति में व्यावहारिक या साधारण वेद्यत्व मानते ही हैं। (यहाँ ध्यातव्य है कि अद्वैती अनुभूति में व्यावहारिक वेद्यत्व मानने के बावजूद उसे स्वयंप्रकाश मानते हैं। वे व्यावहारिक वेद्यत्व का स्वयंप्रकाशत्व से कोई विरोध नहीं देखते।) स्वप्रकाशवादी अद्वैतियों द्वारा उठायी जाने वाली उपर्युक्त शंका का समाधान करते हुए परप्रकाशवादी कहता है कि घट आदि में जैसा व्यावहारिक वेद्यत्व है वैसा ही वेद्यत्व अद्वैती अनुभूति में नहीं स्वीकार कर सकता है क्योंकि यदि अद्वैती ऐसे वेद्यत्व को स्वीकार कर लेता है तो फिर वह उसे अवेद्यत्वविशिष्ट अपरोक्ष व्यवहार योग्य अर्थात् स्वप्रकाश भला कैसे कह सकता है। स्वप्रकाशत्व और व्यावहारिक वेद्यत्व वस्तुतः विरोधी हैं। अब अनुभूति में यदि व्यावहारिक भी वेद्यत्व है तो वह स्वप्रकाश नहीं हो सकता।

'ज्ञानं वेद्यं वस्तुत्वाद् घटवद्' इस अनुमान के अतिरिक्त पूर्वपक्षी ज्ञान की वेद्यता की सिद्धि के लिये एक और अनुमान प्रस्तुत करता है। वह अनुमान है—अनुभूतिपदं, स्वगोचरगोचरज्ञानजन्यं, पदत्वात्, कुम्भपदवत्। 'अनुभूति' पद स्व-वाच्य-विषयक ज्ञान से जन्य है; क्योंकि पदत्व-युक्त है, जैसे कुम्भपद। (चूँकि सभी पद स्वार्थविषयकज्ञान से जन्य होते हैं, अतः 'अनुभूति' पद भी स्वार्थविषयक ज्ञान से जन्य है।) यहाँ इस अनुमान के प्रति यह आपत्ति उठती है कि इसमें प्रथम 'गोचर' शब्द से विषय मात्र विवक्षित है अथवा वाच्य अर्थ अथवा लक्ष्य ? प्रथम (विषयमात्र) एवं द्वितीय (वाच्य अर्थ) पक्ष ठीक नहीं ; क्योंकि इससे सिद्धसाधनता की आपत्ति होगी, कारण यह है कि 'अनुभूति' पद के विषय या वाच्य अन्तःकरणवृत्ति-विशिष्ट ज्ञान में ज्ञानगोचरता तो मानी ही जाती है। तृतीय (लक्ष्य) पक्ष लेने पर मुख्य अर्थ की विवक्षा से प्रयुक्त गङ्गा आदि पदों में व्यभिचार होगा। तृतीय पक्ष में अनुमान का आकार यह होगा —अनुभूतिपदं, स्वलक्ष्यविषयकज्ञानजन्यं पदत्वाद् गंगापदवत्। अब यहाँ पदत्व हेतु व्यभिचारी है; क्योंकि मुख्यार्थ की बोधेच्छा से उच्चारित 'गंगायां नावः सन्ति' इत्यादि वाक्यों के गंगापद में पदत्व हेतु तो है किन्तु लक्ष्यविषयक ज्ञान की जन्यता रूप साध्य नहीं। यहाँ गंगा पद मुख्य अर्थ

(प्रवाह) विषयक ज्ञान से जन्य है न कि लक्ष्य अर्थ (तट) विषयक ज्ञान से। उपर्युक्त संभावित आपत्ति का समाधान करते हुए पूर्वपक्षी परप्रकाशवादी कहते हैं कि 'गोचर' शब्द का लक्ष्य अर्थ मानने में कोई दोष नहीं है, क्योंकि लक्षक पद को पक्ष बनाकर लक्षकपदत्वरूप हेतु से लक्षक गंगादि पद के दृष्टान्त से लक्ष्यविषयकज्ञान-जन्यत्व का अनुमान किया जाता है। सही अनुमान का आकार वस्तुतः ऐसा है—लक्षकमनुभूतिपदं, स्वलक्ष्यविषयकज्ञानजन्यं, लक्षकपदत्वात् लक्षकगंगादिपदवत्। अब इस अनुमान में उक्त व्यभिचार नहीं है, क्योंकि जब पदत्व मात्र हेतु करते थे तब लक्षक गंगा पद को छोड़कर मुख्यार्थ गंगापद भी ऐसा ले लिया जाता था जिसमें पदत्व हेतु रहता था लेकिन साध्य नहीं रहता था फलतः व्यभिचार होता था। किन्तु लक्षकपदत्वरूप हेतु मुख्यार्थक गंगा पद में नहीं रहता, इसलिये यहाँ व्यभिचार नहीं होता।

अद्वैतियों द्वारा उपस्थापित स्वप्रकाशत्वानुमान (अनुभूतिः, अनुभूतिव्यवहारहेतुप्रकाशः, अनुभूतित्वाद्) के सम्बन्ध में परपक्षी ने एक अन्य महत्त्वपूर्ण जिज्ञासा खड़ी की है, जिज्ञासा यह है कि उक्त अनुमान में पक्षभूत 'अनुभूति' का अर्थ क्या है—वाच्य अर्थ या लक्ष्य अर्थ ? दूसरे शब्दों में अद्वैती 'अनुभूति' के किस अर्थ में स्वप्रकाशत्व सिद्ध करना चाहते हैं—उसके वाच्य अर्थ में अथवा लक्ष्य अर्थ में ? यदि 'अनुभूति' पद के वाच्य अर्थ में स्वप्रकाशत्व सिद्ध करना चाहते हैं तब तो यह स्वयं अपने ही मत का तिरस्कार होगा और इस तरह वे 'अपसिद्धान्त' नाम के निग्रहस्थान से निगृहीत हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि 'अनुभूति' पद का वाच्यार्थ है अन्तःकरण-वृत्ति-विशिष्ट चैतन्य जो कि अद्वैतियों के मत में स्वप्रकाश नहीं है। अद्वैत मत में एक मात्र शुद्ध चैतन्य ही स्वप्रकाश है। अब यदि अन्तःकरणवृत्तिविशिष्ट चैतन्य में अद्वैती स्वप्रकाशता सिद्ध करना चाहते हैं तो अपसिद्धांत होगा; क्योंकि सिद्धान्त-विरुद्ध कथा-प्रसङ्ग का ही नाम अपसिद्धान्त है। दूसरी ओर यदि 'अनुभूति' पद के लक्ष्य अर्थ में स्वप्रकाशत्व सिद्ध करना चाहते हैं तो यह भी सही नहीं होगा। 'अनुभूति' पद का लक्ष्य अर्थ है प्रमातृत्व आदि सकल धर्म से शून्य, निर्गुण, निर्विशिष्ट, शुद्ध चैतन्य। अब इस तरह के अद्वितीय वस्तु को नैयायिकादि दूसरे मानते नहीं हैं, फलतः उनके मत में अप्रसिद्ध होने के कारण अनुमान में आश्रयासिद्धि दोष हो जाता है। अस्तु, 'अनुभूति' पद का कोई भी अर्थ लें, दोष अनिवार्यतः आपतित हो जाता है। वाच्य अर्थ लेने पर अपसिद्धान्त होता है और लक्ष्य अर्थ लेने पर आश्रयासिद्धि।[12]

अंत में, अद्वैतियों के 'स्वप्रकाशत्व' के विरुद्ध पूर्वपक्ष के द्वारा एक महत्त्वपूर्ण आपत्ति उठायी जाती है कि स्वप्रकाशता के लिए कोई प्रमाण है अथवा नहीं है ? यदि स्वप्रकाशता के लिये प्रमाण है तब तो उसमें प्रमाण की वेद्यता (प्रकाश्यता) आ जाने

से स्वप्रकाशता भंग हो जाती है और यदि इसका वारण करने के लिये यह कहा जाए कि स्वप्रकाशता में कोई प्रमाण नहीं है, तब तो बिना प्रमाण के स्वप्रकाशता की सिद्धि ही कैसे होगी ? एवंविधया परपक्षी वेदान्ती को ऐसे विकट उभयतोपाश रज्जु में बाँधता है जिससे मुक्ति का कोई उपाय उसके पास नहीं है।[13]

चित्सुखाचार्यकृत स्वप्रकाशत्व-निरूपण : उत्तरपक्ष

स्वप्रकाशता सम्बन्धी पूर्वपक्ष के मत का विस्तार से प्रतिपादन करने के बाद चित्सुखाचार्य सिद्धान्त-मत को उपस्थापित करते हैं। पूर्वपक्ष द्वारा उठायी गयी आपत्तियों का समाधान करते हुए सिद्धान्ती कहता है कि स्वयंप्रकाश का लक्षण असंभव नहीं है।[14] **अवेद्यत्व-विशिष्ट अपरोक्ष-व्यवहार-योग्यता** उसका साधु लक्षण है।[15] इस लक्षण पर आपत्ति उठायी गयी थी कि उक्त व्यवहार योग्यता को लक्ष्य का धर्म मानने पर अव्याप्ति होगी क्योंकि मोक्षावस्थापन्न आत्मा में वह संभव नहीं और यदि उक्त योग्यता को वहाँ मान लिया जाए तब अपसिद्धान्त होगा, क्योंकि अद्वैती आत्मा में किसी तरह का धर्म नहीं मानते। उपर्युक्त शंका का समाधान करते हुये वेदान्ती कहता है कि यह आपत्ति ठीक नहीं है क्योंकि उक्त योग्यता के अत्यन्ताभाव की अनधिकरणता ही उक्त योग्यतावत्ता है। जिस प्रकार गुण के अत्यन्ताभाव की अनधिकरणता उत्पत्तिक्षणावच्छिन्न द्रव्य में मानी जाती है[16] उसी प्रकार मोक्षावस्थापन्न आत्मा में भी अपरोक्षव्यवहारयोग्यता के अत्यन्ताभाव की अनधिकरणता मानी जा सकती है, अतः प्रथम आपत्ति निराधार है। जहाँ तक दूसरी आपत्ति अर्थात् अपसिद्धान्त की बात है, इसका समाधान करते हुए वेदान्ती कहता है कि यहाँ अपसिद्धान्त भी नहीं है क्योंकि काल्पनिक धर्मों को संसारी आत्मा में माना ही जाता है। इस संबंध में चित्सुख सुरेश्वराचार्य तथा पद्मपादाचार्य की उक्तियों का उद्धरण प्रस्तुत करते हैं।[17] यह सही है कि मोक्षावस्था में आत्मा में विवक्षित धर्म नहीं रहते, तथापि किसी (संसार) अवस्था में रहने के कारण उनके अत्यन्ताभाव की अनधिकरणता आत्मा में वैसे ही सिद्ध है जैसे गुणाश्रयता द्रव्य में।

अपरोक्ष व्यवहार के योग्य घटादि में अतिव्याप्ति हटाने के लिये लक्षण में उक्त योग्यता के साथ "अवेद्यत्वे सति" यह विशेषण जोड़ दिया गया है। यहाँ कोई शंका कर सकता है कि 'अवेद्यत्व' इतना ही लक्षण क्यों नहीं रखा जाए ? इस शंका का समाधान करते हुए वेदान्ती कहता है कि यदि केवल 'अवेद्यत्व' को ही स्वयंप्रकाश का लक्षण माना जाए तो अतीत तथा भावी पदार्थों में एवं नित्य अनुमेय धर्मादि में इसकी अतिव्याप्ति हो जाएगी। यदि कोई कहे कि धर्मादि अवेद्य नहीं है क्योंकि उनमें आगम की वेद्यता रहती है तो इस पर सिद्धान्ती कहता है कि अवेद्यता का अर्थ अविषयता सामान्य न होकर फलव्याप्यता रूप वेद्यता का अभाव होना है।

धर्मादि में शब्द-जन्य वृत्ति की विषयता रहने पर भी फलव्याप्यता नहीं रहती, अतः 'अवेद्यत्व' मात्र की उनमें अतिव्याप्ति होती ही है। धर्मादि में फलव्याप्यता न रहने का कारण यह है कि अभिव्यक्त विषयावच्छिन्न चैतन्य ही **फल** कहलाता है।[18] और विषयावच्छिन्न चैतन्य की अभिव्यक्ति वहीं होती है जहाँ इन्द्रिय का अपने योग्य विषय से सन्निकर्ष हो। धर्मादि तो इन्द्रिय के योग्य विषय हैं नहीं, अतः उनमें फलव्याप्यता रूप वेद्यत्व का अभाव है। यदि कोई कहे कि धर्मादि में अवेद्यत्व के साथ अपरोक्षव्यवहारयोग्यता भी पायी जाती है क्योंकि योगिगण अपनी दिव्य दृष्टि से उनका प्रत्यक्ष करते हैं तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि धर्मादि एक मात्र वेद प्रमाण से ही जाने जा सकते हैं, योगी उनका प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। जब धर्मादि प्रत्यक्ष के विषय हैं ही नहीं तो कोई योगी ही सही उनका प्रत्यक्ष कैसे कर सकता है ? अतः धर्मादि में 'अवेद्यत्व' मात्र लक्षण अतिव्याप्त होता है, उनकी व्यावृत्ति के लिये लक्षण में 'अपरोक्षव्यवहार-योग्यत्व' इस विशेष्य भाग को संलग्न करना आवश्यक है।

यहाँ एक आपत्ति उठायी जा सकती है कि अज्ञान, अन्तःकरण, अन्तःकरण के धर्म सुख, दुःख, इच्छादि एवं शुक्ति-रजतादि में पूरे लक्षण की अतिव्याप्ति यथावत् रह ही जाती है, क्योंकि उनमें फलव्याप्यता न रहने के कारण जहाँ एक तरफ अवेद्यता होती है वहीं दूसरी ओर 'मैं अज्ञानी हूँ' इस प्रकार के अपरोक्ष व्यवहार की योग्यता भी रहती है। उपर्युक्त आपत्ति का समाधान करते हुए वेदान्ती कहता है कि यह सही है कि अज्ञान, अन्तःकरण, अन्तःकरण के धर्म सुख, दुःख, इच्छादि में अवेद्यता पायी जाती है किन्तु उनमें अपरोक्षव्यवहार-योग्यता नहीं होती। साक्षात् अपरोक्षता तो अद्वैत वेदान्त में केवल चैतन्य स्वरूप ब्रह्म में ही पायी जाती है;[19] उसमें अध्यस्त होने के कारण ही अज्ञानादि में अपरोक्षता की प्रतीति होती है। 'मैं अज्ञानी हूँ'–इस प्रतीति के आधार पर उनमें अपरोक्षता मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि कोई शंका करे कि अज्ञानादि में अपरोक्ष-व्यवहार देखकर उनमें अपरोक्ष-व्यवहार-योग्यता की कल्पना कर सकते हैं तो यह ठीक नहीं है क्योंकि रजतादि-व्यवहार के अयोग्य शुक्ति खंडो में भी रजतादि व्यवहार देखा जाता है। अतः व्यवहार-योग्यता के बिना भी जो व्यवहार सिद्ध हो जाता है, उससे योग्यता की कल्पना नहीं हो सकती।

उपर्युक्त समाधान के प्रत्युत्तर में पूर्वपक्षी कहता है कि यदि उपुर्यक्त तर्क को मान लिया जाए तब तो फिर लक्षण में 'अवेद्यत्व' विशेषण की सार्थकता ही नहीं रह जाती क्योंकि घटादि की व्यावृत्ति तो 'अपरोक्षव्यवहारयोग्यता' पद से ही हो जाती है, कारण कि घटादि (में भी साक्षिचैतन्य पर अध्यस्तता होने के कारण अपरोक्षत्व होता है, वे स्वतः) अपरोक्षव्यवहार-योग्य नहीं हैं। इस शंका का समाधान करते हुए अद्वैती

कहता है कि 'अवेद्यत्व' की सार्थकता बनी रहती है क्योंकि व्यवहार दशा में प्रत्यक्ष प्रमाण के विषयीभूत घटादि में अपरोक्ष-व्यवहार-योग्यता मानी जाती ही है।

'अवेद्यत्व-विशिष्ट-अपरोक्षत्व' इतना ही लक्षण स्वयंप्रकाश का क्यों नहीं रखा जाता, अनावश्यक का इसके साथ 'व्यवहारयोग्यता' जोड़ने की क्या जरूरत ? प्रतिपक्षी के इस प्रश्न पर अद्वैतियों का कहना है कि घटादि में अपरोक्षता अपरोक्षज्ञान की विषयता के कारण मानी जाती है, अब स्वप्रकाश वस्तु की अपरोक्षता भी इसी प्रकार की मानी जाए अर्थात् अपरोक्षज्ञान-विषयता के कारण, तब तो फिर उसमें अवेद्यता को स्वीकार करना व्याघातपूर्ण दिखाई देने लगेगा, इसलिये लक्षण में केवल अपरोक्षत्व न कहकर अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व कहा गया है ताकि कोई भ्रम ही न रहे। स्वयंप्रकाश ब्रह्म में अपरोक्षत्व अपरोक्ष-व्यवहार-योग्यता रहने के कारण है, न कि अपरोक्षज्ञान-विषयता के कारण।

परपक्षियों की इस शंका पर कि अवेद्य वस्तु में व्यवहार-योग्यता भी भला कैसे होगी, अद्वैतियों का कहना है कि उपर्युक्त कथन से अगर प्रतिपक्षी का आशय इस अनिष्टापत्ति से है कि ''यदि आत्मा में वेद्यत्व का अभाव होगा, तब अपरोक्ष-व्यवहार-विषयता का भी अभाव होगा'' तो इस तरह की अनिष्टापत्ति नैयायिकादि दे नहीं सकते, क्योंकि उनके मत में आपाद्य (अपरोक्षव्यवहारविषयता का अभाव) और आपादक (वेद्यत्व का अभाव) दोनों ही प्रसिद्ध नहीं है। (यहाँ ध्यातव्य है कि) नैयायिकों के अनुसार वेद्यत्व और अपरोक्षव्यवहारविषयत्व दोनों ही केवलान्वयी धर्म हैं, उनका अभाव कहीं प्रसिद्ध ही नहीं है। फिर किससे किसका आपादन होगा ?

यह सिद्ध करने के बाद कि स्वयंप्रकाशत्व का लक्षण असंभव नहीं है और कि 'अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वं' इसका निर्दोष लक्षण है, चित्सुखाचार्य अनुभूति की स्वयंप्रकाशता के लिये प्रमाण के रूप में निम्न केवलव्यतिरेकी अनुमान प्रस्तुत करते हैं—**अनुभूतिः स्वयंप्रकाशा, अनुभूतित्वाद्, यन्नैवं तन्नैवं यथा घटः।**[20] इस अनुमान में अप्रसिद्ध विशेषणता (साध्याप्रसिद्धि) दोष नहीं है। यहाँ साध्य स्वयंप्रकाशत्व अर्थात् अवेद्यत्व-विशिष्ट अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व के विशेषण भाग 'अवेद्यत्व' की प्रसिद्धि को लेकर ही विवाद है क्योंकि जहाँ तक अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व का प्रश्न है, तो अनुभूति रूप पक्ष में उसके रहने में कोई विवाद ही नहीं है, यह उभयवादिसम्मत है। अब जहाँ तक साध्य के विशेषण भाग 'अवेद्यत्व' का प्रश्न है तो अद्वैतियों का कहना है कि सामान्यतोदृष्ट अनुमान से अवेद्यत्व की प्रसिद्धि होती है। इस सम्बन्ध में प्रस्तुत किया गया अनुमान निम्न है—वेद्यत्व, किसी न किसी धर्मी में रहने वाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है, क्योंकि धर्म है, जैसे शुक्लत्व।[21] अर्थात् जिस धर्मी में

रहने वाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी वेद्यत्व है, वह अवश्य वेद्यत्वात्यान्ताभाव वाला अर्थात अवेद्यत्व वाला होगा। भले ही उस धर्मी का विशेष रूप से निर्देश नहीं किया जा सके, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अवेद्यत्व कहीं न कहीं प्रसिद्ध है। चित्सुखाचार्य का तर्क यह है कि जितने भी धर्म होते हैं उनका संसार में किसी न किसी धर्मी में अवश्य अत्यन्ताभाव होता है। अब शुक्लत्व आदि के समान वेद्यत्व भी धर्म है, अतः उसका कहीं न कहीं अवश्य अत्यन्ताभाव होगा।

उपर्युक्त सामान्यतोदृष्ट अनुमान के अतिरिक्त चित्सुख अवेद्यत्व की सिद्धि के लिये एक अन्य तर्क भी प्रस्तुत करते हैं। न्यायलीलावती में एक सामान्य नियम प्रस्तुत किया गया है कि जिस पदार्थ का अभाव मानने पर अनवस्थादि अनिष्ट दोषों की प्राप्ति हो, वह पदार्थ अवश्य किसी प्रमाण का विषय है–यद्विपर्ययेऽसमीहितप्रसक्तिः तत् किञ्चिन्मानयोग्यम्। अब, अनुभूति को अनुभाव्य या वेद्य मानने पर चूँकि अनवस्थादि दोषों की प्रसक्ति होती है, अतः अगत्या उसकी 'अवेद्यता' को किसी प्रमाण का विषय अवश्य मानना होगा।

अवेद्यत्व की अप्रसिद्धि को लेकर उठने वाली आपत्ति का निराकरण करते हुए चित्सुखाचार्य उसकी सिद्धि के लिये महाविद्यानुमान का भी प्रयोग करते हैं। चित्सुख का महाविद्यानुमान इस ढंग का है–**अयं घट, एतद्घटान्यत्वे सति वेद्यत्वानाधिकरणान्यः, पदार्थत्वात्, पटवत्।**[22] यह घट, इस घट से अन्य में रहने वाले वेद्यत्व के अनधिकरण से अन्य है, क्योंकि वह पदार्थ है, पट के समान। प्रस्तुत अनुमान महाविद्यानुमान है। महाविद्यानुमान उस अनुमान को कहते हैं जिसमें साध्य का समन्वय दृष्टान्त में एक प्रकार से हो और पक्ष में अन्य प्रकार से हो। प्रकृत अनुमान में साध्य है–एतद्घटान्यत्वविशिष्ट वेद्यत्व के अनधिकरण का भेद। अब जाहिर है एतद्घटान्यत्वविशिष्ट वेद्यत्व का अनधिकरण है एतद् घट और अधिकरण है पटादि। अनधिकरण एतद् घट से भेद पट रूप दृष्टान्त में है ही। समस्या पक्ष में साध्य का समन्वय करने में आती है। साध्य का समन्वय दृष्टान्त पट में इसलिये हो जाता है कि उसमें एतद्घटान्यत्वविशिष्ट वेद्यत्वानाधिकरणान्यत्व पाया जाता है। किन्तु यही बात एतद् घट रूपी पक्ष में नहीं लागू होती। एतद् घट में एतद्घटान्यत्वविशिष्टवेद्यत्वानाधिकरणत्व ही लागू हो पाता है, तद् अन्यत्व नहीं, अर्थात् पूर्ण साध्य इस पर लागू नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में पक्ष में पूर्ण साध्य का समन्वय करने के लिए हमें बाध्य होकर पक्ष से भिन्न किसी वेद्यत्व के अनधिकरण (अवेद्य) को मानना होगा जो एतद्घटान्यत्वविशिष्टवेद्यत्व का अनधिकरण हो। एवंप्रकारेण स्थापित अवेद्य (वेद्यत्व के अनधिकरण) से अन्यत्व पक्ष में है ही। प्रस्तुत अनुमान के क्रम में हमने देखा कि हमें पक्ष से भिन्न किसी वेद्यत्व के अनधिकरण (अवेद्य) को मानना होता है जिससे अन्यत्व उस पक्ष में हो।

ऐसे अवेद्य तत्त्व की सिद्धि से अवेद्यत्व की अप्रसिद्धि का आक्षेप निराकृत हो जाता है। एवंप्रकारेण चित्सुखाचार्य सामान्यतोदृष्ट अनुमान, महाविद्यानुमानादि से अवेद्यत्व की प्रसिद्धि दिखलाने में समर्थ होते हैं तथा "अनुभूतिः स्वयंप्रकाशा, अनुभूतित्वाद्, यन्नैवं तन्नैवं यथा घटः" इस प्रकार के केवलव्यतिरेकी अनुमान पर उठने वाले अप्रसिद्धविशेषणता के दोष का निराकरण कर देते हैं।

स्वयंप्रकाशता की सिद्धि के लिये प्रस्तुत उपर्युक्त केवलव्यतिरेकी अनुमान में अप्रसिद्धविशेष्यता भी नहीं है, क्योंकि अनुभूति रूप विशेष्य (पक्ष) प्रसिद्ध ही है। इसीलिये हेतु में आश्रयासिद्धि दोष भी नहीं है। प्रस्तुत अनुमान के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण आपत्ति हेतु के स्वरूप को लेकर उठती है। अनुमान का हेतु है अनुभूतित्व, जो कि जाति है। अब अनुभूति (चैतन्य) चूँकि एक ही है, अतः अनुभूत्वि रूप जाति को भला कैसे स्वीकारा जा सकता है ? उदयनाचार्य की इस सम्बन्ध में स्पष्ट उक्ति है कि 'एक व्यक्ति-वृत्तित्व' जाति-बाधक धर्म है।[23] जैसे आकाश एक ही व्यक्ति है अतः उसमें रहने वाला धर्म 'आकाशत्व' जाति नहीं माना जा सकता, वैसे ही एक ही अनुभूति में रहने वाले अनुभूतित्व को जाति नहीं माना जा सकता है। उपर्युक्त आक्षेप के प्रत्युत्तर में अद्वैतियों का कहना है कि कल्पित अनेक व्यक्तियों में रहने वाली 'चन्द्रत्व' जाति के समान 'अनुभूतित्व' जाति के मान लेने पर किसी प्रकार का सिद्धान्त विरोध उपस्थित नहीं होता। यद्यपि अनुभूति एक ही है अतः 'अनुभूतित्व' जाति को मानने में संकट खड़ा होता है, तथापि औपाधिक भेद से अनुभूति व्यक्तियों को अनेक मानकर अनुभूतित्व जाति का वैसे ही समर्थन किया जा सकता है जैसे कल्पभेद से अनेक चन्द्र-व्यक्तियों की कल्पना करके 'चन्द्रत्व' जाति का समर्थन किया जाता है। यदि कोई यह शंका करे कि काल्पनिक अनुभूतित्वरूप हेतु साध्य का साधक कैसे हो सकता है तो इस पर अद्वैतियों का कहना है कि जिस प्रकार काल्पनिक प्रतिबिम्ब अपने बिम्ब का साधक होता है, उसी प्रकार अनुभूतित्वरूप हेतु भी अपने साध्य का साधक होता है। अस्तु, हेतु के स्वरूप को लेकर उठायी गयी आपत्ति निराधार है व अनुमान स्वरूपासिद्धि दोष से मुक्त है।

प्रतिवादी के मत में भी हेतु की असिद्धि नहीं है। क्योंकि वह भी अनुभूतित्व जाति मानता है। यदि कहें कि अद्वैती 'अनुभूतित्व' को कल्पित मानते हैं और प्रतिवादी पारमार्थिक, फलतः इस विषमता के कारण अन्यतरासिद्धि है। अर्थात् अद्वैतियों की कल्पित अनुभूतित्व जाति की प्रतिवादी के मत में और प्रतिवादी की पारमार्थिक जाति की अद्वैत मत में असिद्धि है। तो यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि अनुभूतित्व मात्र को हेतु बनाया गया है। उसमें कल्पित्व एवं अकल्पितत्व विवक्षित नहीं है। ऐसा अनुभूतित्व-मात्र तो उभयवादिसिद्ध है। यदि ऐसा नहीं मानें तब तो

धूमवत्त्वादि हेतु के विषय में भी यही पूछा जा सकता है कि महानसीयधूम पर्वत में हेतु है अथवा पर्वतीय धूम ? प्रथम स्थिति में स्वरूपासिद्धि होगी क्योंकि महानसीय धूम पर्वत में नहीं रहता और दूसरी स्थिति में दृष्टान्त में साधनाभाव; क्योंकि पर्वतीय धूम महानसरूप दृष्टान्त में नहीं रहता। अतः कहना होगा कि 'धूमवत्ता' मात्र हेतु है, उसमें महानसीयत्व या पर्वतीयत्व कुछ भी विवक्षित नहीं है। इसी तरह प्रस्तुत प्रकरण में अनुभूतित्व मात्र हेतु है, उसमें कल्पितत्व और अकल्पितत्व कुछ भी विवक्षित नहीं है।

उपर्युक्त स्वप्रकाशत्वानुमान में व्याप्यत्वासिद्धि दोष भी नहीं है। व्याप्यत्वासिद्धि दोष वहीं होता है जहाँ हेतु सोपाधिक हो। परन्तु हेतु चूँकि यहाँ केवलव्यतिरेकी है, अतः उसमें उपाधि की संभावना ही नहीं है। उपाधि कहते हैं—साध्य के व्यापक और साधन के अव्यापक किसी धर्म को। ऐसा धर्म अन्वयव्यतिरेकी ही होगा। जाहिर है ऐसा धर्म भला केवलव्यतिरेकी हेतु के साध्य के साथ पक्ष से बाहर कहीं अन्वयी कैसे हो सकता है ? कारण यह है कि जिसके साध्य की सत्ता अन्यत्र कहीं निश्चित न हो उस हेतु को ही केवलव्यतिरेकी कहते हैं, ऐसी स्थिति में उपाधि का ऐसे साध्य के साथ सहकार पक्ष से भिन्न स्थल पर हो ही नहीं सकता। पक्ष में भी साध्य के साथ उसका सहचार माना नहीं जा सकता, क्योंकि पक्ष में साध्य का संदेह ही है; निश्चय नहीं। यदि पक्ष में साध्य का निश्चय मान लें, तब तो अभीष्ट ही सिद्ध हो जाता, फिर उपाधि भला क्या बिगाड़ लेगी ? दूसरी बात यह है कि पक्ष में उपाधि के रहने पर उसमें साधन की भी व्यापकता अनिवार्य हो जाएगी। अतः अनुमान में व्याप्यत्वासिद्धि दोष नहीं है।

उपर्युक्त स्वप्रकाशत्वानुमान में विरुद्ध हेत्वाभास भी नहीं है क्योंकि 'अनुभूतित्व' हेतु वेद्यरूप (घटादि) विपक्षों में नहीं रहता। हेतु के विपक्ष में नहीं रहने से अनुमान में साधारण अनैकान्तिक दोष भी नहीं है। जहाँ कहीं स्वप्रकाशत्व का अभाव होता है वहाँ अनुभूतित्व हेतु भी नहीं पाया जाता है। प्रस्तुत अनुमान में असाधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास भी नहीं है। अनुभूति मात्र में अनुभूतित्व होने से कदाचित् लग सकता है कि हेतु का पक्ष मात्र में वृत्तित्व है, सपक्षवृत्तित्व और विपक्षवृत्तित्व का उसमें अभाव है। किन्तु हम सहज समझ सकते हैं कि विपक्षवृत्तित्वाभाव इष्ट ही है और जहाँ तक सपक्षवृत्तित्वाभाव का प्रश्न है वह हेतु में है नहीं, क्योंकि यहाँ सपक्ष ही प्रसिद्ध नहीं है, फलतः सपक्षवृत्तित्व रूप प्रतियोगी के अप्रसिद्ध होने से सपक्षवृत्तित्वाभाव भी हेतु में नहीं कहा जा सकता। यदि कहा जाए कि विपक्ष-बाधक तर्क का अभाव होने से अनुमान में संदिग्ध अनैकान्तिकता का दोष है, तो यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसे तर्कों का अभाव नहीं है। सबसे बड़ा तर्क तो यही है कि

अनुभूति यदि वेद्य होगी, तो अनवस्था होगी—अनुभूतेरनुभाव्यत्वेऽनवस्थापातात्। ज्ञान का ज्ञान यदि दूसरे ज्ञान से माना जाए तो फिर उस दूसरे ज्ञान के ज्ञान के लिये तीसरे की और फिर उसके लिये चौथे की आवश्यकता होगी और इस तरह पर-पर ज्ञानों की परम्परा का विराम ही नहीं होगा और फलतः अनवस्था पतित होगी। यहाँ नैयायिक आदि कह सकते हैं कि हर ज्ञान का ज्ञात होना आवश्यक नहीं है। बिना ज्ञात हुए भी ज्ञान व्यवहार निर्वहन में समर्थ है। जैसे चक्षु बिना स्वयं गृहीत हुए अर्थ प्रकाशन में समर्थ होती है वैसे ही अनुभूति या ज्ञान बिना गृहीत हुए अपनी स्वरूप सत्ता मात्र से व्यवहार आपादन में समर्थ है। नैयायिकादि के इस उत्तर पर वेदान्तियों का कहना है कि यदि मान भी लिया जाए कि व्यवहार निर्वहन के लिये ज्ञान की स्वरूप सत्ता मात्र का होना अनिवार्य है उसका ज्ञात होना नहीं, तो भी उस (अज्ञात ज्ञान) की सत्ता के लिये तो प्रमाण होना चाहिए। अब तो ज्ञान अगृहीत है, उसकी स्वरूप सत्ता के लिये भी कोई प्रमाण नहीं है। और जिसके लिये कोई प्रमाण नहीं है, जो स्वयं असिद्ध है वह भला व्यवहार की सिद्धि कैसे करेगा ?[24]

नैयायिकादि का कहना है कि अनुभूति की अज्ञात सत्ता से ही व्यवहार का कार्य चल जाता है। इसके लिये उसे प्रमाणित या सिद्ध होने की कोई आवश्यकता नहीं है। जब कभी अज्ञात सत्ता की जिज्ञासा उत्पन्न होगी तब किसी व्यवहारादि हेतु के द्वारा उसका अनुमान कर लिया जायेगा। इसका उत्तर देते हुए वेदान्ती कहता है कि 'अयं घटः' और 'घटमहमनुभवामि' इस प्रकार की दो अनुभूतियों (व्यवसाय और अनुव्यवसाय) से अतिरिक्त और कोई अनुभूति-परम्परा अनुभव में नहीं आती। बिना अनुभव के ही अनुभूति-परम्परा की सत्ता यदि मान ली जाए, तब तो प्रमेय की सत्ता भी उसी प्रकार मानी जा सकती है। फिर तो प्रमेय सत्ता के लिये प्रमाणों की गवेषणा ही व्यर्थ हो जाएगी। प्रमाणान्तर के आधार पर यदि अनुभूति-परम्परा मानी जाए, तब तो पुरानी अनवस्था जैसी की तैसी बनी रहेगी क्योंकि उन प्रमाणों के लिये भी अन्य प्रमाणों की और उनके लिये अन्य की अपेक्षा यथावत् रहेगी। यदि कोई शंका करे कि द्वितीय अनुभूति स्वविषयक प्रमाण के बिना ही अपने स्वभाव विशेष से अपने विषय प्रथम अनुभूति का व्यवहार सम्पन्न कर देगी, तो यह शंका युक्त नहीं; क्योंकि फिर तो प्रथम अनुभूति ही किसी प्रमाण के बिना ही अपना व्यवहार चला लेगी और फलतः अनुभूति-परम्परा का मानना ही व्यर्थ हो जाएगा। अस्तु, अनुभूति को वेद्य या अनुभाव्य मानने से अनवस्था पतित होती है और यदि अनवस्था का वारण करने के लिये यह माना जाए कि बाद की अनुभूति के लिए प्रमाण की कोई जरूरत नहीं, तब तो वह असिद्ध ही रहेगी और चूँकि बाद वाली अनुभूति असिद्ध है अतः उसके पहले की अनुभूतियाँ भी असिद्ध हो जाएंगी, फलतः सभी अनुभूतियों का स्वरूप

असिद्ध हो जाएगा। जाहिर है ऐसे प्रबल विपक्ष-बाधक तर्क के रहते अनुमान में संदिग्ध अनैकान्तिकता का दोष भला कैसे होगा ?[25]

इतना ही नहीं, अद्वैतियों का कहना है कि विषय-प्रकाश के समय में यदि अनुभूति भी प्रकाशित न हो, तब तो विषय प्रकाश के अनन्तर अनुभविता को अपनी अनुभूति में संदेह (मुझे घट का ज्ञान हुआ कि नहीं ?) या विपर्यय (मुझे घटाभाव का ज्ञान हुआ) अथवा विपरीत-प्रमा (मुझे ज्ञान ही नहीं हुआ) होने लगेगा। किन्तु ऐसा होता नहीं है। ऐसा संभव नहीं है कि व्यक्ति को कोई ज्ञान हो और उस ज्ञान के अस्तित्व के विषय में वह संदिग्ध हो, भ्रमित हो अथवा उसे लगे कि उसे ज्ञान ही नहीं हुआ है। वस्तु ज्ञान होते ही यदि ज्ञाता से कोई पूछता है कि उसे ज्ञान हुआ है कि नहीं, तत्काल वह उत्तर देता है कि ऐसा हुआ है। वह एक क्षण के लिये भी इस विषय में संदिग्ध, भ्रमित नहीं रहता है। अतः मानना होगा कि अनुभूति या ज्ञान स्वयं प्रकाशित होती हुई ही अपने विषय का व्यवहार पैदा करती है।[26] यहाँ कोई शंका कर सकता है कि किसी वस्तु में केवल संदेह, विपर्यय या विपरीत प्रमा न रहने से वह स्वयंप्रकाश नहीं हो जाता। उदाहरण के लिये दुःख, सुख आदि के विषय में किसी को संदेह नहीं होता, पर वे स्वयंप्रकाश नहीं है। सुख, दुःखादि के समान दूसरे ज्ञान द्वारा प्रकाशित होने पर भी संदेहादि को अवकाश नहीं होता। पर यह शंका ठीक नहीं है। सुख, दुःखादि के समान यदि ज्ञान का भी प्रकाशन दूसरे ज्ञान से माना जाए तब तो फिर उस दूसरे ज्ञान के प्रकाशन के लिये भी तीसरे की और फिर उसके लिये चौथे की आवश्यकता होगी और अनवस्था दोष से छुटकारा नहीं मिलेगा।[27]

पुनः यदि ज्ञान को स्वप्रकाश न माना जाए तथा उसे भी अपने प्रकाशन के लिये अन्य ज्ञान की अपेक्षा हो तब तो वह भी जड़ वस्तुओं की तरह परप्रकाश्य हो जाएगा। और जब समस्त वस्तुओं का अवभासक ज्ञान स्वयं जड़ वस्तुओं की तरह अप्रकाशरूप हो तो इस संसार में सब कुछ जड़वत् हो जाएगा और कुछ भी प्रकाशित न होने से जगदान्ध्य प्रसङ्ग प्रसक्त होगा।[28] अस्तु, इस तरह हम देखते हैं कि ज्ञान की परप्रकाशता के विरुद्ध अनेकों तर्क भरे पड़े हैं। जाहिर है विपक्ष-बाधक इन तर्कों के रहते उपर्युक्त स्वप्रकाशत्वानुमान में संदिग्ध अनैकान्तिकता के दोष की कोई संभावना नहीं बचती।

परपक्षियों का आरोप है कि अद्वैत प्रोक्त अनुमान बाधित हेत्वाभास से दूषित है क्योंकि 'अहं घटज्ञानवान् अस्मि' अथवा 'ज्ञातो घटः' आदि अनुभव यह प्रत्यक्षया सिद्ध करते हैं कि अनुभूति में वेद्यत्व है। यहाँ अद्वैतियों का कहना है कि 'अहं घटज्ञानवान् अस्मि' 'ज्ञातो घटः' आदि अनुभवों की व्याख्या अनुभूति को स्वयंप्रकाश मान लेने से ही हो जाती है, उसके लिये अनुभूति को वेद्य मानने की आवश्यकता

नहीं है। पुनः 'घट ज्ञात है' इस अनुव्यवसाय से घट की वेद्यता का ही निश्चय होता है, न कि अनुभूति या ज्ञान की वेद्यता का। वस्तुतः ज्ञातत्व घट का विशेषण है—किञ्च विदितो घट इत्यत्रानुव्यवसायेन घटस्यैव विदित्वमवसीयते न तु वित्तेः, विदितत्वस्य घटविशेषणत्वात्।[29] फिर यदि यह कदाचित् मान भी लिया जाए कि अनुव्यवसाय से अनुभूति का प्रत्यक्ष होता है, तो भी अनुभूति के इस प्रत्यक्ष से ही (अर्थात् अनुव्यवसाय से) अनुभूतिगत वेद्यत्व का प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः यह जो कहा गया कि प्रत्यक्ष से ही अवेद्यत्व का बाध है वह अनुचित है क्योंकि प्रत्यक्ष से अनुभूतिगत वेद्यत्व की सिद्धि नहीं होती। चित्सुखाचार्य वेदान्तियों की तरफ से आगे कहते हैं कि यदि अनुव्यवसाय से ही व्यवसाय में रहने वाले अनुव्यवसाय के वेद्यत्व का ग्रहण हो जाए, तब तो अनुव्यवसाय में भी अनुव्यवसाय की वेद्यता आ जाएगी, क्योंकि अनुव्यवसाय वेद्यत्व का विशेषण है। और फिर तो कर्तृ-कर्म विरोध प्रसक्त होने से बौद्ध मत में प्रवेश होगा।[30]

पूर्वपक्षी ने वेद्यत्व-साधक वस्तुत्व हेतु वाले अनुमान का विरोध (सत्प्रतिपक्ष) दिया था, अब इस पर चित्सुखाचार्य का कहना है कि सत्प्रतिपक्ष के रूप में प्रस्तुत उपर्युक्त अनुमान ठीक नहीं है, क्योंकि इसका व्याप्ति-ग्रहण ही संभव नहीं है। वेद्यत्व-साधक अनुमान था—ज्ञानं वेद्यं, वस्तुत्वात्, घटवत्, यद्यद्वस्तु तत्तद्वेद्यमिति। अब उपर्युक्त अनुमान का व्याप्ति-ग्रहण ही संभव नहीं है। वस्तुत्व के आधार पर वेद्यत्व सिद्ध करने वाले व्यक्ति को 'जो-जो वस्तु है, वह-वह वेद्य है' इस व्याप्ति को मानना पड़ेगा। तब प्रश्न उठेगा कि इस व्याप्ति का ग्राहक ज्ञान व्याप्ति-ग्रहण-काल में प्रकाशित होता है कि नहीं ? यदि प्रथम पक्ष को माना जाए अर्थात् व्याप्ति-ग्रहण-काल में ही व्याप्ति-ग्राहक ज्ञान को भी प्रकाशित माना जाए तो बौद्धों की स्वप्रकाशता की प्राप्ति होती है क्योंकि यह उसी से उसी का ग्रहण होगा। यदि उसी से उसी का ग्रहण न माना जाए तब तो फिर वेदान्तियों की स्वयंप्रकाशता माननी होगी। द्वितीय पक्ष में अर्थात् व्याप्तिग्रहणकाल में व्याप्तिग्राहक ज्ञान का प्रकाशन न मानने पर यह मानना होगा कि ज्ञान स्वरूप कोई वस्तु है जो प्रकाशित नहीं है; और तब यह जो व्याप्ति बनायी गयी थी कि 'जो-जो वस्तु है, वह-वह वेद्य है' उसका भंग हो जाता है क्योंकि व्याप्तिग्राहक ज्ञान में वस्तुत्व होते हुए भी वेद्यत्व नहीं है। फलतः वस्तुत्व हेतु वेद्यत्व का व्यभिचारी हो जाता है, उसमें वेद्यत्व की व्याप्ति नहीं रहती। और जब व्याप्ति ही भंग हो गयी तब अनुमान का उदय कैसे होगा और फिर कैसे प्रकृत अनुभूतित्व हेतु में सत्प्रतिपक्षता लगेगी ? वस्तुत्व हेतु भाट्ट-मत में भी व्यभिचरित है; क्योंकि भाट्ट मीमांसक ज्ञातता में वेद्यत्व नहीं मानते जबकि वस्तुत्व हेतु वहाँ भी है। पुनः नैयायिकों के अनुसार वेद्यत्व धर्म है और जो भी धर्म है वह किसी न

किसी में रहने वाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है, फलतः कोई न कोई अवेद्य पदार्थ अवश्य होगा। ऊपर दिये गये 'सत्प्रतिपक्ष' में वस्तुत्व हेतु केवलान्वयी है, पर उसके भी विपक्ष–अवेद्य पदार्थ–के संभावित हो जाने से यह आवश्यक हो जाता है कि विपक्ष में हेतु की अवृत्तिता निश्चित की जाए जो कि बिना विपक्ष-बाधक तर्क के निश्चित नहीं की जा सकती और जिसका यहाँ अभाव है। विपक्ष-बाधक तर्क के अभाव में हेतु में संदिग्ध अनैकान्तिकता रहने से साध्य-साधकता नहीं रहती। यदि कहा जाए कि 'वेद्यत्व के न मानने पर वस्तुत्व की उपपत्ति ही नहीं होगी'–यही विपक्ष-बाधक तर्क है, तो यह नहीं कह सकते, क्योंकि वेद्यत्व के बिना भी स्वयंप्रकाश अनुभूति में वस्तुत्व उपपन्न है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वेद्यत्व साधक वस्तुत्व आदि हेतु वाले अनुमान का जो विरोध (सत्प्रतिपक्ष) दिया गया था, वह ठीक नहीं है। जिस तरह वेद्यत्व-साधक वस्तुत्व हेतु में दोष है, उसी तरह वेद्यत्व-साधक लक्ष्यत्व, न्याय-विषयत्वादि हेतुओं में भी दोष दिखाया जा सकता है।[31]

ज्ञान की वेद्यता को सिद्ध करने के लिये (सत्प्रतिपक्ष के रूप में) प्रस्तुत पूर्वपक्षी परप्रकाशवादियों के अनुमान 'लक्षकमनुभूतिपदं, स्वलक्ष्यविषयकज्ञानजन्यं, लक्षकपदत्वात् लक्षकगंगादिपदवत्' का खंडन करते हुए चित्सुखाचार्य कहते हैं कि उपरोक्त अनुमान में हेतु असिद्ध है। कारण यह है कि न्यायादि के मत में 'अनुभूति' पद में अनुभूति रूप अर्थ की वाचकता ही है, लक्षकता नहीं। दूसरी बात यह है कि 'लक्ष्य-ज्ञान' शब्द से क्या विवक्षित है–लक्ष्यकर्मक स्फुरण अथवा लक्ष्यविषयक स्फुरण अथवा स्फुरण मात्र अथवा लक्ष्यविषयक अन्तःकरण-वृत्ति ? प्रथम विकल्प ठीक नहीं है, क्योंकि अतीतादि पदार्थों के लक्षक पदों में व्यभिचार है। द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ विकल्पों में सिद्ध-साधन दोष आ जाता है, क्योंकि अनुभूतिस्वरूप स्फुरण में भी अनुभूति-विषयकत्व है। अतः अनुभूति विषयक स्फुरण की जन्यता 'अनुभूति' पद में सिद्ध ही है। इसी तरह क्योंकि अनुभूति स्फुरण स्वरूप ही है, अतः स्फुरण मात्र-जन्यता भी 'अनुभूति' पद में सिद्ध है। और इसी तरह चूँकि अनुभूत्याकार अन्तकरण की वृत्ति भी मानी जाती है, इसलिये लक्ष्यविषयक अन्तःकरण-वृत्ति जन्यता 'अनुभूति' पद में सिद्ध है। एवंप्रकारेण हम देखते हैं कि अनुभूति की वेद्यता को सिद्ध करने के लिये प्रस्तुत पूर्वपक्षी का अनुमान निर्दोष नहीं है, फलतः अद्वैतियों द्वारा प्रस्तुत स्वप्रकाशत्वानुमान में सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास नहीं है। वस्तुतः जैसा कि हमने विस्तृत विवेचनोपरान्त देखा कि अनुभूति की स्वयंप्रकाशता के लिये प्रस्तुत सिद्धान्ती के अनुमान में कोई दोष नहीं है और वह स्वयंप्रकाशता के लिये साधु प्रमाण है।

पूर्वपक्षियों के इस प्रश्न पर कि अद्वैती 'अनुभूति' पद के वाच्य में स्वयंप्रकाशता

सिद्ध करना चाहता है अथवा लक्ष्य में, चित्सुख का कहना है कि वस्तुतः यह विकल्प उठाना ही असंगत है क्योंकि उभयवादिस्वीकृत स्फुरणमात्र में वह स्वयंप्रकाशता सिद्ध कर रहा है। यदि यह नहीं माना जाए तब तो फिर नैयायिक जब अनुभूति को वेद्य कहता है तो उससे भी प्रश्न पूछा जा सकता है कि वह किस अर्थ में अनुभूति को वेद्य सिद्ध कर रहा है—वाच्य में या लक्ष्य में ?[32]

अद्वैतियों के स्वप्रकाशत्वानुमान का खंडन करते हुए पूर्वपक्षी कहता है कि इस तरह से तो घटादि सभी चीजों को स्वप्रकाश सिद्ध किया जा सकता है। पूर्वपक्षी कहता है कि वस्तुतः अद्वैतियों का अनुमान निम्न अनुमानाभास के समान ही है—घटः स्वयंप्रकाशो घटत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा पट। चित्सुख इसका खंडन करते हुए कहते हैं कि बड़े, गोल-मटोल पेट के आकार वाले, लोक में 'घट' नाम से प्रसिद्ध, स्पर्श रूपादि गुण वाले पदार्थ में स्वयंप्रकाशत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता; कारण कि उसकी सिद्धि ही चक्षु और त्वक् प्रमाणों से होती है अतः उसकी स्वयंप्रकाशता के साधन में धर्मिसाधक प्रत्यक्ष प्रमाण ही बाधक है। चाक्षुषादि प्रत्यक्ष के अविषय किसी लोकोत्तर घट में स्वयंप्रकाशता सिद्ध नहीं कर सकते क्योंकि इस प्रकार के धर्मी की ही असिद्धि है। यदि यहाँ यह कहा जाए कि वेदान्ती के स्वयंप्रकाशत्वानुमान में भी अवेद्य अनुभूति रूप धर्मी भी अप्रसिद्ध ही है, तो ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यदि वह धर्मी ही प्रसिद्ध नहीं, फिर तो वेद्यत्व और अवेद्यत्व का यह वादियों का विवाद किसमें होगा ?

यदि स्वप्रकाशता के लिये प्रमाण है तब तो उसमें प्रमाण की वेद्यता आ जाने से स्वप्रकाशता भङ्ग हो जाएगी और यदि इसके लिये प्रमाण नहीं है तब तो बिना प्रमाण के स्वप्रकाशता की सिद्धि ही नहीं होगी। प्रतिपक्षी द्वारा प्रस्तुत इस विकट उभयतोपाश के प्रत्युत्तर में चित्सुखाचार्य का कहना है कि यद्यपि स्वयंप्रकाश अनुभूति किसी ज्ञान (स्फुरण) का विषय नहीं है, फिर भी वह अप्रामाणिक है, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि वह प्रमाणजन्य अन्तःकरण वृत्ति का विषय तो है ही। प्रमाणजन्य अन्तःकरण वृत्ति का विषय होते हुए भी वह वेद्य नहीं है क्योंकि वह उस तरह स्फुरण का आश्रम या कर्म नहीं है जिस तरह घट प्रमाणजन्य स्फुरण का आश्रय या कर्म है। स्वयंप्रकाश अनुभूति में स्फुरण (फल) विषयता न होने पर भी वृत्तिविषयता है और वृत्तिविषयत्व होने के कारण ही वह प्रामाणिक भी है। प्रामाणिक होने के लिये वृत्तिविषयता ही आवश्यक है, फलविषयता नहीं। हम ऐसा देखते हैं कि फलव्याप्यता न रहने पर भी वृत्तिव्याप्यता मात्र रहने से प्रामाणिकता रहती है क्योंकि भाट्टों के अनुसार अतीत अनागत पदार्थों में फलव्याप्यता (स्फुरण) न होने पर भी वृत्तिव्याप्यता मात्र होने से भी प्रामाणिकता मानी जाती है। इसी तरह चेष्टादिलिङ्गक अनुमान का

विषय होने पर भी पर पुरुष का ज्ञान अपने आधार में स्वविषयक अपरोक्ष व्यवहार के उत्पन्न करने में ज्ञानान्तर-निरपेक्ष होने के कारण स्वयंप्रकाश ही रहता है।[33] अस्तु, स्वयंप्रकाशता का यह तात्पर्य नहीं है कि वह किसी प्रमाण का विषय न हो, बल्कि अपने अपरोक्ष व्यवहार में दूसरे ज्ञान की अपेक्षा न रखना ही स्वयंप्रकाशता है।[34] इस प्रकार की स्वयंप्रकाशता अनुभूति में नितान्त स्पष्ट है।

संदर्भ एवं टिप्पणी

1. अथ कोऽयं स्वप्रकाशशब्दार्थः ? किं (1) स्वश्चासौ प्रकाशश्च स्वप्रकाशः ? (2) स्वस्य स्वयमेव प्रकाश इति वा ? (3) सजातीयप्रकाशाप्रकाशयत्वं वा ? (4) स्वसत्तायां प्रकाशव्यतिरेकविरहितत्वं वा ? (5) स्वव्यवहारहेतुप्रकाशत्वं वा ? (6) ज्ञानाविषयत्वं वा ? (7) ज्ञानाविषयत्वे सत्यपरोक्षत्वं वा ?(8) व्यवहारविषयत्वे सति ज्ञानाविषयत्वं वा ? (9) स्वप्रतिबद्धव्यवहारे सजातीयपरानपेक्षत्वं वा ? (10) अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारविषयत्वं वा ? (11) तद्योग्यत्वं वा ?
   चित्सुखाचार्य, तत्त्वप्रदीपिका, सं. स्वामी योगीन्द्रानन्द, षड्दर्शनप्रकाशनप्रतिष्ठान, उदासीन संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी, 1985, पृ. 4-5 .
2. नाद्यः, वेद्यस्यापि ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वाभ्युपगमात्।
   चित्सुखाचार्य, तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 5.
3. देखें, वहीं, पृ. 5-6.
4. चित्सुखाचार्य द्वारा विवेचित प्रथम दो लक्षण 'स्वप्रकाशता' की व्युत्पत्ति को लेकर है। द्वितीय लक्षण की आलोचना द्वारा चित्सुखाचार्य बौद्ध सम्मत स्वप्रकाशता की अवधारणा का खंडन प्रस्तुत करते हैं। बौद्धों का मानना है कि हर संवेदन स्वसंवेदन होता है। विज्ञान स्वयं अपना ग्रहण करता है। स्पष्ट है, ऐसा मानने से बौद्ध विज्ञान को कर्त्ता और कर्म दोनों मान लेते हैं।
5. प्रत्यक्स्वरूप भगवान्, नयनप्रसादिनी—तत्त्वप्रदीपिका के साथ प्रकाशित, सं. स्वामी योगीन्द्रानन्द, षड्दर्शनप्रकाशनप्रतिष्ठान, उदासीन संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी, 1985, पृ. 5.
6. साक्षिणेश्वरज्ञानेन वा मानसप्रत्यक्षेण वेत्यर्थः। घटादावपि तुल्यमेतत्।
   प्रत्यक्स्वरूप भगवान् , नयनप्रसादिनी, पृ. 6-7.
7. शंकराचार्य, श्रीमद्भगवद्गीता—भाष्य, 18/50.
8. चित्सुखाचार्य, तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 10.
9. न चाप्रसिद्धविशेषणः पक्षः, अनुभूतिव्यवहारस्य हेतुभूतः प्रकाशः परेषामपि हि प्रसिद्धस्ततोऽनुभूतेस्तत्स्वरूपत्वप्रतिज्ञोपपद्यते। न चानुव्यवसायज्ञाने साध्यस्य सिद्धत्वाद्भागे सिद्धसाधनता; तत्स्वरूपस्यैवासंमतत्वेन तस्य धर्मिभागतानङ्गीकारादिति।
   चित्सुखाचार्य, तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 10.
10. अनुभूतिव्यवहारस्य हेतुभूतः प्रकाशो यत्र सिद्धस्तत्र हेतोर्वृत्तौ, केवलव्यतिरेकित्वव्याकोपात्, अवृत्तौ सपक्षाप्रवेशिनोऽसाधारणानैकान्तिकत्वापातात्। वृत्तावपि भागे सिद्धसाधनताया

दुष्परिहरत्वात्।
चित्सुखाचार्य, तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 11.

11. एतेनानुभूतिरनुभाव्या न भवत्यनुभूतित्वादित्यादिप्रयोगोऽपि परास्तः, तत्राप्यप्रसिद्धविशेषणताया दुष्परिहरत्वात्; ज्ञानं वेद्यं वस्तुत्वाद्घटवदिति प्रतिप्रयोगसंभवाच्च।
चित्सुखाचार्य, तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 13.

12. किंचानुभूतिपदाभिधेयस्य स्वप्रकाशत्वमभिधीयते भवद्भिः ? उत लक्ष्यस्य ? नाद्यः, अपसिद्धान्तापातात्। न द्वितीयः, प्रतिवादिनं प्रत्याश्रयासिद्धेः। सकलधर्मातीतस्याद्वितीय-स्यानुभूतिपदलक्ष्यस्य परैरनङ्गीकारात्।
चित्सुखाचार्य, तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 15.

13. किं च स्वप्रकाशतायां सति प्रमाणे तद्वेद्यत्वमसति च साधकाभावादेव न तत्सिद्धिरिति सैषोपनिषदानामुभयतःपाशा रज्जुरित्यलमितिविस्तरेण।
चित्सुखाचार्य, तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 15.

14. अत्रोच्यते—"अपरोक्षव्यवहृतेर्योग्यस्याधीपदस्य नः।
संभवे स्वप्रकाशस्य लक्षणासंभवः कुतः।,,
चित्सुखाचार्य, तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 16.

15. न तावत्स्वयंप्रकाशे लक्षणासंभवः, **अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्तायास्तल्लक्षणत्वात्।**
चित्सुखाचार्य, तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 16.

16. यहाँ ध्यातव्य है कि वैशेषिक आचार्य न्यायलीलावतीकार ने द्रव्य का लक्षण किया—"गुणाश्रयो द्रव्यम्", किन्तु उत्पत्ति क्षण में द्रव्य में गुण माना नहीं जा सकता, अतः उस द्रव्य में अव्याप्ति देखकर गुणाश्रयता का अर्थ किया गया गुण के अत्यन्ताभाव की अनधिकरणता। यह उत्पत्तिक्षणावच्छिन्न द्रव्य में भी है। ठीक इसी प्रकार वेदान्ती भी उक्त योग्यता का अर्थ उक्त योग्यता के अत्यन्ताभाव की अनधिकरणता करके अपने लक्षण की अव्याप्ति हटा सकते हैं, क्योंकि आत्मा में तो नित्य रूप से (मोक्ष में भी) अपरोक्षव्यवहारयोग्यता के अत्यन्ताभाव की अनधिकरणता रहती ही है।

17. नाप्यपसिद्धान्तः, काल्पनिकधर्माणां संसारदशायामभ्युपगमात्। "अक्षमा भवतः केयं साधकत्वप्रकल्पने। किं न पश्यसि संसारं तत्रैवाज्ञानकल्पितम्।" इति सुरेश्वराचार्यवचनात्। "आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्मो" इति पञ्चपादिकाचार्यवचनाच्च।
चित्सुखाचार्य, तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 17.

18. विषयावच्छिन्नं चैतन्यमभिव्यक्तं फलमिति वेदान्तवादिनां मतम्। अभिव्यक्तिश्चेन्द्रियद्वारा अर्थसंनिकृष्टमनःपरिणामविशेषः।
प्रत्यक्स्वरूप भगवान् , नयनप्रसादिनी, पृ. 18

19. यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म।
बृहदारण्यकोपनिषद्, 3/4/1.

20. चित्सुखाचार्य, तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 21.

21. वेद्यत्वं किंचिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, धर्मत्वात् शौक्त्यवद्...।
चित्सुखाचार्य, तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 21.

22. अथवा अयं घट एतद्घटान्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणान्यः पदार्थत्वात्पटवदित्यादि-

महाविद्याप्रयोगैरप्यवेद्यत्वप्रसिद्धिरप्यूहनीया।
चित्सुखाचार्य, तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 24.

23. व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थितिः।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रह।।
उदयनाचार्य, किरणावली, सं. एवं अनु. श्री गौरीनाथ शास्त्री, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1980, पृ. 321.

24. विपक्षे बाधकतर्काभावात्सन्दिग्धानैकान्तिकतेति चेत् मैवम्, अनुभूतेरनुभाव्यत्वेऽनवस्थापातात् न च वाच्यमवश्यवेद्यत्वाभावान्नानवस्था व्यवहारस्य तत्स्वरूपसत्तामात्रेणाप्युपपत्तेरिति; तद्विषयप्रमाणानुदये तत्सत्ताया अप्यनिश्चयात् तत एव व्यवहार इत्यप्यसिद्धेः।
चित्सुखाचार्य, तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 28.

25. देखें, वहीं, पृ. 28-29.

26. किञ्चानुभूतिरर्थप्रकाशनसमये यदि न प्रकाशेत, तथा सत्यनन्तरक्षणे जिज्ञासोस्तत्र संदेहो विपर्ययो वा विपरीत प्रमा वोदियात्। न च कश्चिदमुमद्राक्षीन्नो वा भवानिति पृष्टोऽनन्तरक्षणे संदिग्धे विपर्यस्यति संविदभावं वा प्रमिणोति, किन्तु निश्चिनोत्येव 'इदमहमद्राक्षम्' इति तेन प्रकाशमानैवानुभूतिरर्थे व्यवहारं जनयतीति युक्तम्।
चित्सुखाचार्य, तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 30.

27. न च सुखादिवदन्याधीनप्रकाशत्वेऽपि संशयाद्यविषयत्वोपपत्तिः, सति धर्मिणि तद्वदेवावश्य-वेद्यत्वेऽनवस्थादौस्थ्यात्।
चित्सुखाचार्य, तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 30.

28. ज्ञायमानमेव ज्ञानमर्थव्यवहारहेतुरिति न नियमो निलीनस्यापि तस्य चक्षुरादिवद्व्यवहारहेतुत्व-संभवादिति। न चैषोऽपि युक्तः। तथा सति चक्षुरादिवदेवार्थप्रकाशकत्वं स्यान्नतु प्रकाशत्वं, प्रकाशत्वं च सिद्धमतो न चक्षुरादिसाम्यमित्यर्थः। किंच तदपि ज्ञानं पूर्वज्ञानवदेवेति न किंचिदपि ज्ञानमर्थप्रकाशं स्यात्। जडानां च जडत्वादेव न स्वयं परस्परेण वा प्रकाशसंभव इति 'अन्धस्येवान्धलग्नस्य विनिपातः पदे पदे' इत्याभाणकभागितयैव जगत एव घोरान्धकारनिकरकूपोदरनिपातापात इति।
प्रत्यक्स्वरूप भगवान्, नयनप्रसादिनी, पृ. 32.

29. चित्सुखाचार्य, तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 32.

30. अन्यथानुव्यवसायेन व्यवसायस्य स्वविशेषितवेद्यत्वग्रहणे विशेषणतया स्वस्यापि स्वेन वेद्यत्वापातात् सौगतमतानुमतिप्रसङ्गः।
चित्सुखाचार्य, तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 32.

31. देखें वहीं, पृ. 33-34.

32. अनुभूतिपदवाच्यस्य लक्ष्यस्य वा स्वप्रकाशत्वमित्यपि विकल्पोऽननुपपन्नः, उभयवादि-संप्रतिपन्नस्फुरणमात्रस्य स्वप्रकाशत्वप्रतिपादनात्। अन्यथा वेद्यत्वसाधनेऽपि तवास्य विकल्पस्य दुष्परिहरत्वात्।
चित्सुखाचार्य, तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 35.

33. न चैवमुभयतःपाशारज्जुः, अनुभूतेः प्रमाणजन्यस्फुरणाश्रयतया स्फुरणकर्मतया वा घटादिवद्विषयभावाभावेऽपि प्रमाणजनितान्तःकरणवृत्तिव्याप्यत्वेन विषयताङ्गीकारेऽपि

स्वप्रकाशत्वाव्याघातात्। उक्तवृत्तिव्याप्यत्वेऽपि स्फुरणव्याप्यत्वाभावापराधेन नाप्रामाणिकतापि, केवलव्यतिरेकाभावात्, अतीतानागतयोः स्फुरणविरहिणोरुक्तवृत्तिव्याप्ययोर्भट्टैः प्रामाणिकत्वाभ्युपगमात्, चेष्टादिलिङ्गकानुमानविषयस्यापि परज्ञानस्य स्वाश्रये स्वविषयापरोक्षव्यवहारजनेन ज्ञानान्तरनिरपेक्षतया स्वप्रकाशत्वोपपत्तेश्च।

चित्सुखाचार्य, तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 35-36.

34. न हि प्रमाणाविषयत्वं स्वप्रकाशत्वम्, अपितु स्वविषयापरोक्षव्यवहारे ज्ञानान्तरनिरपेक्षत्वं स्वप्रकाशत्वम्।

❑

ग्रन्थ-सूची

मूल संस्कृत ग्रन्थ

अन्नंभट्ट — तर्कसंग्रह, सं॰ एवं अनु॰ केदारनाथ त्रिपाठी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1991.

अन्नंभट्ट — तर्कसंग्रह, न्यायबोधिनी—पदकृत्य—दीपिका—किरणावली सहित, व्यास प्रकाशन, वाराणसी,

अप्पय्य दीक्षित — वेदान्तकल्पतरुपरिमल, श्री कन्हैयालाल जोशी द्वारा संपादित ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् में संकलित (दो भाग), परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1987.

अप्पय्य दीक्षित — सिद्धान्तलेशसंग्रह, अच्युतग्रन्थमाला—कार्यालय, काशी, सं॰ 2011.

अमलानन्द — वेदान्तकल्पतरु, श्री कन्हैयालाल जोशी द्वारा संपादित ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् में संकलित (दो भाग), परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1987.

आनन्दबोध भट्टारक — न्यायमकरन्द, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, 1907.

आनन्दानुभव — न्यायरत्नदीपावली, गवर्नमेण्ट ओरियण्टल सीरिज, मद्रास, 1961.

उदयनाचार्य — आत्मतत्त्वविवेक, सं॰ एवं अनु॰ केदारनाथ त्रिपाठी, प्रकाशकः केदारनाथ त्रिपाठी, वाराणसी, 1983.

उदयनाचार्य — किरणावली, सं॰ एवं अनु॰ श्री गौरीनाथ शास्त्री, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1980.

उदयनाचार्य — न्यायवार्तिकतात्पर्यपरिशुद्धि, सं॰ अनन्तलाल ठाकुर, आई॰ सी॰ पी॰ आर॰, नई दिल्ली, 1996.

उद्योतकर — न्यायवार्तिक (न्यायसूत्र तथा वोत्स्यायन भाष्य सहित) भाग 1 और 2, अनु॰ डॉ॰ श्रीनिवास शास्त्री, इण्डो-विजन प्राइवेट लिमिटेड, गाजियाबाद, 1986.

उद्योतकर न्यायभाष्यवार्त्तिकम्, सं॰ अनन्तलाल ठाकुर, आई॰ सी॰ पी॰ आर॰, नई दिल्ली, 1997.

कणाद वैशेषिक-दर्शनम्, श्रीनारायण मिश्रकृत हिन्दी व्याख्या सहित, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1987.

कुमारिल भट्ट मीमांसाश्लोकवार्त्तिक, हिन्दी व्याख्या–पं॰ दुर्गाधर झा, कामेश्वरसिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा, 1979.

कुमारिल भट्ट श्लोकवार्त्तिकम्, पार्थसारथि मिश्रकृत न्यायरत्नाकर सहित, सं॰ डॉ॰ गंगा सागर राय, रत्ना पब्लिकेशन्स, वाराणसी, 1993.

कुमारिल भट्ट श्लोकवार्त्तिकम्, सुचरित मिश्र प्रणीत काशिका टीका सहित (दो भाग), सं॰ के॰ शाम्बशिव शास्त्री, सी बी एच पब्लिकेशन्स, त्रिवेन्द्रम, 1990.

केशव मिश्र तर्कभाषा, पं॰ बदरीनाथ शुक्ल कृत हिन्दी व्याख्या सहित, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1993.

गंगेश उपाध्याय तत्त्वचिन्तामणि–प्रत्यक्षखण्ड, सं॰ कामाख्यानाथ तर्कवागीश, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 1990.

गोविन्दानन्द ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य–रत्नप्रभाटीका, अनु॰ श्री भोले बाबा, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली–वाराणसी, 1998.

गौडपाद माण्डूक्यकारिका, विधुशेखर भट्टाचार्य द्वारा संपादित एवं अनूदित, देखें द आगमशास्त्र ऑफ गौडपाद, मोतीलाल बनारसीदास प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 1989.

गौडपाद माण्डूक्यकारिका, गीता प्रेस द्वारा प्रकाशित माण्डूक्योपनिषद् में शांकरभाष्य सहित प्रकाशित, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं॰ 2038.

गौडब्रह्मानन्द न्यायरत्नावली, पं॰ त्रयम्बकराम शास्त्री द्वारा संपादित सिद्धान्तबिन्दु के साथ प्रकाशित, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1989.

चित्सुखाचार्य तत्त्वप्रदीपिका, नयनप्रसादिनी व्याख्या सहित, सं॰ एवं अनु॰ स्वामी योगीन्द्रानन्द, षड्दर्शनप्रकाशनप्रतिष्ठान, वाराणसी, 1985.

जयन्तभट्ट न्यायमञ्जरी (तीन भाग), सं॰ श्री गौरीनाथ शास्त्री, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1984.

जयपुरिनारायणभट्ट न्यायसिद्धि, पं॰ सुब्रह्मण्य शास्त्री द्वारा संपादित प्रकरणपञ्चिका के साथ प्रकाशित, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1961.

दिग्नाग प्रमाणसमुच्चय—प्रत्यक्षपरिच्छेद, अंग्रेजी अनुवाद एवं विस्तृत व्याख्या और टिप्पणी के साथ प्रकाशित एम॰ हट्टोरी कृत **दिग्नाग, ऑन परसेप्शन** में, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, 1968.

धर्मकीर्ति न्यायबिन्दु, धर्मोत्तरकृत न्यायबिन्दुटीका सहित, सं॰ एवं अनु॰डॉ॰ श्रीनिवास शास्त्री, साहित्य भंडार, मेरठ, 1975.

धर्मकीर्ति प्रमाणवार्त्तिक, मनोरथनन्दिवृत्ति युक्त, सं॰ स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, बौद्ध भारती, वाराणसी, 1968.

धर्मराजाध्वरीन्द्र वेदान्तपरिभाषा, सं॰ एस॰ एस॰ सूर्यनारायण शास्त्री, आड्यार लाइब्रेरी, आड्यार, 1984.

धर्मराजाध्वरीन्द्र वेदान्तपरिभाषा, श्री गजानन शास्त्रीकृत अनुवाद एवं व्याख्या सहित, सं॰ श्रीरामशास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1983.

धर्मोत्तर न्यायबिन्दुटीका, सं॰ एवं अनु॰ डॉ॰ श्रीनिवास शास्त्री, साहित्य भंडार, मेरठ, 1975.

धर्मोत्तर न्यायबिन्दुटीका, दुर्वेक मिश्रकृत प्रदीप सहित, सं॰ दलसुख मालवणिया, के॰ पी॰ जायसवाल इंस्टीट्यूट, पटना, 1955.

नारायण मानमेयोदय, सं॰ सी॰ कुन्हन रजा एवं एस॰ एस॰ सूर्यनारायण शास्त्री, आड्यार लाइब्रेरी एण्ड रिसर्च सेंटर, आड्यार, 1975.

निश्चलदास वृत्ति प्रभाकर, सं॰ डॉ॰ चमनलाल गौतम, संस्कृति संस्थान, बरेली, 1981.

नृसिंहाश्रम अद्वैतदीपिका, सं॰ श्री एस॰ सुब्रह्मण्य शास्त्री, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1982.

पद्मपाद पंचपादिका, प्रकाशात्मनूकृत विवरण सहित, गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी, मद्रास, 1958.

पार्थसारथि मिश्र न्यायरत्नाकर, डॉ॰ गंगा सागर राय द्वारा संपादित श्लोकवार्त्तिक के साथ प्रकाशित, रत्ना पब्लिकेशन्स, वाराणसी, 1993.

पार्थसारथि मिश्र शास्त्रदीपिका, सं॰ एवं अनु॰ किशोरदास स्वामी, स्वामी रामतीर्थ मिशन, देहरादून, 1996.

प्रकाशात्मन् पंचपादिका-विवरण, सं. एस. श्रीराम शास्त्री एवं एस. आर.कृष्णमूर्ति शास्त्री, गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी, मद्रास, 1958.

प्रकाशानन्द वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, अच्युतग्रन्थमाला—कार्यालय, काशी, 1936.

प्रत्यक्स्वरूप भगवान् तत्त्वप्रदीपिका—नयनप्रसादिनी व्याख्या, सं. स्वामी योगीन्द्रानन्द, षड्दर्शनप्रकाशन—प्रतिष्ठान, वाराणसी, 1985.

प्रभाकर बृहती (तर्कपादान्ता), शालिकनाथ मिश्रकृत ऋजुविमलापञ्चिका के साथ, सं. शे. कृ. रामनाथ शास्त्री, मद्रपुरीय, विश्वविद्यालय, 1934.

प्रशस्तपाद पदार्थधर्मसंग्रह, श्रीधरकृत न्यायकन्दली सहित, सं. एवं अनु. पं. दुर्गाधर झा, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1977.

भासर्वज्ञ न्यायभूषणम्, सं. स्वामी योगीन्द्रानन्द, षड्दर्शनप्रकाशन-प्रतिष्ठान, वाराणसी, 1968.

भीमाचार्य झल्कीकर न्यायकोश, सं. वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पुने, 1996.

मण्डन मिश्र ब्रह्मसिद्धि, सं.एस. कुप्पूस्वामी शास्त्री, गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट्स सीरिज, मद्रास, 1937.

मण्डन मिश्र विधिविवेक, वाचस्पति मिश्रकृत न्यायकणिका सहित, सं. महाप्रभुलाल गोस्वामी, तारा प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी, 1986.

मधुसूदन सरस्वती अद्वैतसिद्धि, स्वामी योगीन्द्रानन्दकृत हिन्दी व्याख्या सहित (दो भाग), षड्दर्शनप्रकाशन प्रतिष्ठान, वाराणसी, 1986.

मधुसूदन सरस्वती अद्वैतसिद्धि, योगेन्द्रनाथ बागचीकृत बालबोधिनी सहित (दो भाग), सं. डॉ. शीतांशुशेखर बागची, रत्ना पब्लिकेशन्स, वाराणसी, 1971.

मधुसूदन सरस्वती सिद्धान्तबिन्दु, श्रीगौडब्रह्मानन्दकृत न्यायरत्नावली सहित, सं. पं. त्रयम्बकराम शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1989.

मुरलीधर पाण्डेय शाङ्करवेदान्तकोश, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1998.

मोक्षाकर गुप्त — बौद्ध–तर्कभाषा, सं॰ एवं अनु॰ डॉ॰ रघुनाथ गिरि, प्राच्य प्रकाशन, वाराणसी, 1969.

रामाद्वयाचार्य — वेदान्तकौमुदी, अनु॰ डॉ॰ राधेश्याम चतुर्वेदी, सं॰ डॉ॰ सिद्धेश्वर भट्टाचार्य, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय संस्कृतग्रन्थमाला, वाराणसी, 1973.

वल्लभ — न्यायलीलावती, सं॰ पं॰ हरिहर शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरिज ऑफिस, वाराणसी, 1991.

वाचस्पति मिश्र — न्यायकणिका, महाप्रभुलाल गोस्वामी द्वारा संपादित विधिविवेक के साथ प्रकाशित, तारा प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी, 1986.

वाचस्पति मिश्र — न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, सं॰ अनन्तलाल ठाकुर, आई॰ सी॰ पी॰ आर॰, नई दिल्ली, 1997.

वाचस्पति मिश्र — भामती (दो भाग), स्वामी योगीन्द्रानन्दकृत हिन्दी व्याख्या सहित, षड्दर्शनप्रकाशन-प्रतिष्ठान, वाराणसी, 1984.

वाचस्पति मिश्र — भामती, श्री कन्हैयालाल जोशी द्वारा संपादित ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य में कल्पतरु और परिमल सहित प्रकाशित, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1987.

वात्स्यायन — न्यायभाष्य, सं॰ एवं अनु॰ स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, बौद्धभारती, वाराणसी, 1989.

विद्यारण्य — पंचदशी, स्वामी स्वाहानन्दकृत अंग्रेजी अनुवाद सहित, श्री रामकृष्ण मठ, मद्रास, 1987.

विद्यारण्य — विवरणप्रमेयसंग्रह, सं॰ एवं अनु॰ श्री ललिता प्रसाद, अमर पब्लिकेशन्स, वाराणसी, 1999.

विमुक्तात्मा — इष्टसिद्धि, सं॰ एम॰ हिरियन्ना, ओरियण्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, 1953.

विश्वनाथ पञ्चानन — न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, दिनकरी–रामरुद्री सहित, सं॰ पं॰ हरिराम शुक्ल, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1989.

विश्वनाथ पञ्चानन — न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, श्री कृष्णवल्लभाचार्यकृत किरणावली सहित, सं॰ नारायणचरण शास्त्री एवं श्वेतवैकुण्ठ शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1990.

शंकर मिश्र — न्यायलीलावतीकण्ठाभरण, पं॰ हरिहर शास्त्री द्वारा संपादित न्यायलीलावती के साथ प्रकाशित, चौखम्भा संस्कृत सीरिज ऑफिस, वाराणसी, 1991.

शंकराचार्य — ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्, वाचस्पति मिश्रकृत भामती तथा अमलानन्दकृत कल्पतरु एवं अप्पय्य दीक्षितकृत परिमल व्याख्या सहित (दो भाग), सं. श्री कन्हैयालाल जोशी, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1987.

शंकराचार्य — ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्, स्वामी योगीन्द्रानन्दकृत हिन्दी व्याख्या युक्त भामती सहित (दो भाग), षड्दर्शनप्रकाशनप्रतिष्ठान, वाराणसी, 1982.

शंकराचार्य — ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् , सत्यानन्द सरस्वतीकृत हिन्दी टीका सत्यानन्दी दीपिका सहित, गोविन्द मठ, टेढ़ीनीम, वाराणसी, सं॰ 2040.

शंकराचार्य — ईशादिदशोपनिषदः शांकरभाष्य सहित, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1992.

शंकराचार्य — श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्य, गीता प्रेस, गोरखपुर, 1943.

शंकराचार्य — श्रीमद्भगवद्गीता–भाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं॰ 2008.

शंकराचार्य — उपदेशसाहस्री, स्वामी जगदानन्दकृत अंग्रेजी अनुवाद सहित, श्री रामकृष्ण मठ, मद्रास, 1989.

शंकराचार्य — विवेकचूड़ामणि, स्वामी माधवानन्दकृत अंग्रेजी अनुवाद सहित, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, 1982.

शबर — मीमांसा–शाबर–भाष्य (प्रथम भाग), सं॰ एवं अनु॰ युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ (सोनीपत-हरियाणा), 1987.

शालिकनाथ मिश्र — ऋजुविमलापञ्चिका, शे॰ कृ॰ रामनाथ शास्त्री द्वारा संपादित बृहती के साथ प्रकाशित (तर्कपादान्ता), मद्रपुरीय विश्वविद्यालय, 1934.

शालिकनाथ मिश्र — प्रकरणपञ्चिका, सं॰ श्री सुब्रह्मण्य शास्त्री, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1961.

श्रीधर — न्यायकन्दली, प्रशस्तपादभाष्य के साथ प्रकाशित, सं॰ एवं अनु॰ पं॰दुर्गाधर झा, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1977.

श्रीहर्ष — खण्डनखण्डखाद्यम्, स्वामी योगीन्द्रानन्द कृत हिन्दी व्याख्या सहित, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1979.

श्रीहर्ष — खण्डनखण्डखाद्यम्, शङ्करमिश्र विरचित 'शाङ्करी' टीका सहित,

हिन्दी व्याख्या—स्वामी श्रीहनुमानदास जी षट्शास्त्री, सं. डॉ॰ नविकान्त झा, चौखम्बा संस्कृत सीरिज ऑफिस, वाराणसी, 1970.

सदानन्द — वेदान्तसार, हिन्दी अनुवाद एवं व्याख्या—पं॰ बदरीनाथ शुक्ल, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1993.

सर्वज्ञात्ममुनि — संक्षेपशारीरक, सं॰ एवं अंग्रेजी अनु॰ एन॰ विजिनाथन, मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास, 1985.

सुचरित मिश्र — काशिका, के॰ शाम्बशिव शास्त्री द्वारा संपादित श्लोकवार्त्तिक के साथ प्रकाशित (दो भाग), सी बी एच पब्लिकेशन्स, त्रिवेन्द्रम, 1990.

सुरेश्वर — तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यवार्त्तिक, सं॰ एवं अंग्रेजी अनु॰ आर॰ बालासुब्रह्मण्यन्, मद्रास यूनिवर्सिटी, मद्रास, 1984.

सुरेश्वर — बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्त्तिक, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पुना.

सुरेश्वर — नैष्कर्म्यसिद्धि, सं॰ एवं अंग्रेजी अनु॰ आर॰ बालासुब्रमण्यन्, मद्रास यूनिवर्सिटी, मद्रास, 1984.

सुरेश्वर — सम्बन्धवार्त्तिक, सं॰ एवं अंग्रेजी अनु॰ टी॰ एम॰ पी॰ महादेवन, मद्रास यूनिवर्सिटी, मद्रास, 1958.

सहायक ग्रन्थ

Bhatt, Govardhan P. — The Basic Ways of Knowing, Motilal Banarsidass, Delhi, 1989.

Bhattacharya, Ashutosh. — Studies in Post-Samkara Dialectics, Sri Satguru Publications, Delhi, 1986.

Bhattacharyya, Sibajiban. — Doubt, Belief and Knowledge, ICPR, New Delhi, 1987.

Bhattacharyya, Sibajiban — Ganges'a's Theory of Indeterminate Perception (Part-I&II), ICPR, New Delhi, 1996.

Cassam, Quassim. ed. — Self-Knowledge, Oxford University Press, Oxford, 1984.

Chakrabarti, Kishor Kumar — Classical Indian Philosophy of Mind, Motilal Banarsidass Private Ltd. , Delhi, 2001.

Chatterjee, A.K. and Dravid, R.R.	The Concept of Sākṣi in Advaita Vedānta, Banaras Hindu University, Varanasi, 1979.
Chatterjee, S.C.	The Nyāya Theory of Knowledge, University of Calcutta, Calcutta, 1978.
Chaudhuri, Anil Kumar Ray	Self and Falsity in Advaita Vedanta, Progressive Publishers, Calcutta, 1955.
Coward, Harold G.ed.	Studies in Indian Thought, Motilal Banarsidass, Delhi, 1983.
Datta, Dhirendra Mohan	The Six Ways of Knowing, University of Calcutta, Calcutta, 1960.
Devaraja, N.K.	An Introduction to Śaṁkara's Theory of Knowledge, Motilal Banarsidass, Delhi, 1972.
Flanagan, Owen.	Consciousness Reconsidered, MIT Press, Cambridge, Mass., 1992.
Gupta, Bina.	Perceiving in Advaita Vedānta, Motilal Banarsidass Publishers Private Ltd., Delhi, 1995.
Hattori, Masaaki	Dignāga, On Perception, Harvard University Press, Cambridge, Mass., 1968.
Indich, William M.	Consciousness in Advaita Vedānta, Motilal Banarsidass, Delhi, 1980.
Jha, Ganganath.	Pūrva Mīmaṁsā in its Sources, Banaras Hindu University, Varanasi, 1964.
Jha, Ganganath.	The Prābhākara School of Pūrva Mīmaṁsā, Motilal Banarsidass, Delhi, 1978.
Keith, A.B.	The Karma Mīmaṁsā, Kanti Publications, Delhi, 1989.
Lowe, E.J.	An Introduction to the Philosophy of Mind, Cambridge University Press, Cambridge, 2000.
Lycan, W.G.	Consciousness, MIT Press, Cambridge, Mass., 1987.
Lycan, W.G. ed.	Mind and Cognition : A Reader, Oxford Blackwell, 1990.

Mahadevan, T.M.P. The Philosophy of Advaita, Ganesh and Co. Private Ltd., Madras, 1969.

Malkani, G.R. Vedantic Epistemology, Indian Institute of Philosophy, Amalner, 1953.

Matilal, B.K. Logic, Language and Reality, Motilal Banarsidass Publishers Private Ltd., Delhi, 1990.

Matilal, B.K. Perception, Clarendon Press, Oxford, 1986.

Mohanty, J.N. Gangesa's Theory of Truth, Motilal Banarsidass, Delhi. 1989.

Mukherjee, A.C. The Nature of Self, The Indian Press Ltd. , Allahabad, 1938.

Phillips, Stephen H. Classical Indian Metaphysics, Open Court, Chicago, 1995.

Roy, Kamala. The Concept of Self, Firma K.L.M., Calcutta, 1966.

Saksena, S.K. Nature of Consciousness in Hindu Philosophy, Nand Kishore & Bros, Benares, 1944.

Satprakashananda, Swami. Methods of Knowledge according to Advaita Vedānta, Advaita Ashrama, Calcutta, 1965.

Shastri, D.N. Critique of Indian Realism, Agra University, Agra, 1964.

Shastri, Pashupati Nath. Introduction to the Pūrva Mīmaṁsā, Chaukhambha Orientalia, Delhi, 1980.

Shoemaker, Sydney. Self-Knowledge and Self-Identity, Cornell University Press, Ithaca, New York, 1963.

Sinha, Debabrata. The Metaphysic of Experience in Advaita Vedānta, Motilal Banarsidass, Delhi, 1983.

Sinha, J.N. Indian Psychology-Cognition (vol-1), Sinha Publishing House, Calcutta, 1958.

Stcherbatsky, F.Th. Buddhist Logic, 2 vols., Dover Publications, New York, 1962.

Sundaram, P.K. Advaita Epistemology, University of

Madras, Madras, 1984.

Williams, Paul.	The Reflexive Nature of Awareness : A Tibetan Madhyamaka Defence, Motilal Banarsidass, Delhi, 2000.
Wright, C., Smith, B.C. and Macdonald, C. eds.	Knowing Our Own Minds, Clarendon Press, Oxford, 1998.

अन्य सहायक ग्रन्थ

गांधी, शारदा	भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद, साहित्य भंडार, मेरठ, 1975.
द्विवेदी, पारसनाथ	नयनप्रसादिन्याः समीक्षणम्, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1986.
परमहंस, स्वामी आत्मानन्द	वैदिकदर्शनेषु ज्ञानम्, राजप्रकाशनम्, वाराणसी, 1982.
पाहि, विश्वम्भर	वैशेषिक पदार्थव्यवस्था का पद्धतिमूलक विमर्श, दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, 2000.
मुसलगाँवकर, गजानन शास्त्री	मीमांसा दर्शन का विवेचनात्मक इतिहास, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1992.
शर्मा, उर्मिला	अद्वैत वेदान्त में तत्त्व और ज्ञान, छन्दस्वती प्रकाशन, वाराणसी, 1978.
शर्मा, चन्द्रधर	बौद्धदर्शन और वेदान्त, बिजन-विभूति प्रकाशन, इलाहाबाद, 1986.
शर्मा, पं॰ आर॰ थंगस्वामी	भारतीय दर्शनेषु प्रत्यक्षप्रमाणविमर्शः द आड्यार लाइब्रेरी एण्ड रिसर्च सेंटर, मद्रास, 1985.
शास्त्री, डॉ॰ श्रीनिवास	वाचस्पति मिश्र द्वारा बौद्ध दर्शन का विवेचन, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र, 1968.
श्रीवास्तव, जगदीश सहाय	अद्वैत वेदान्त की तार्किक भूमिका, किताब महल, इलाहाबाद, 1986.

❑

अनुक्रमणिका

अर्थापत्ति, 14, 15, 43, 81, 83, 85, 86, 87, 88, 89, 92, 93, 94, 141
अर्थाभास, 17, 59
अनवस्था, 11, 13, 16, 18, 19, 22, 47, 48, 53 59, 60, 61, 66, 80, 82, 94, 95, 107, 122, 124, 125, 128, 131, 132, 138, 139, 145, 148, 154, 174, 181, 203, 206, 207, 213
अनुव्यवसाय, 12, 13, 40, 42, 43, 44, 45, 46, 47, 48, 52, 53, 55, 60, 111, 117, 120, 123, 124, 125, 126, 127, 128, 135, 138, 145, 190, 192, 195, 196, 197, 206, 208, 211, 213
आन्तर प्रत्यक्ष, 41, 140
उदयन, 18, 27, 55, 204, 213
उद्योतकर, 26, 27, 36, 51, 55
कणाद, 25, 152
कुमारिल, 14, 18, 22, 65, 66, 68, 69, 70, 71, 72, 73, 74, 75, 76, 77, 78, 79, 80, 81, 82, 83, 84, 85, 86, 93, 94, 98, 116
केशव मिश्र, 14, 15, 21, 36, 38, 53, 87, 88, 95
खण्डनखण्डखाद्य, 47, 54, 123, 124, 138
गौतम, 23, 26, 29, 30, 34, 36, 37, 38, 39
गंगेश, 44, 46, 48, 51, 52, 53, 54, 55, 111, 117, 119, 120
चित्सुखाचार्य, 20, 47, 112, 114, 119, 120, 123, 126, 127, 136, 138, 167, 177, 186, 188, 189, 190, 191, 192, 193, 194, 200, 202, 203, 204, 208, 209, 210, 211, 212, 213, 214
चैत्त, 17, 18, 51, 62, 63, 64, 67, 128
जगदान्ध्यप्रसङ्ग, 12, 21, 61, 107, 126, 128, 131, 138, 161, 163, 173, 181, 203
जयन्तभट्ट, 13, 21, 23, 24, 25, 26, 27, 28, 32, 35, 36, 37, 38, 48, 49, 50, 53, 54, 55, 64, 66, 67
तर्कभाषा, 13, 21, 36, 53, 87, 88, 95
तत्त्वचिन्तामणि, 44, 46, 51, 52, 53, 54, 55, 111, 117, 119, 120
तत्त्वप्रदीपिका, 17, 22, 47, 54, 62, 112, 119, 120, 123, 138, 167, 177, 186, 188, 211, 212, 213, 214

तत्त्वसंग्रह, 22, 49, 55, 62, 65, 66
तात्पर्यटीका, 23, 28, 35, 37, 64, 67
दिगूनाग, 17, 18, 22, 47, 50, 55, 56, 57, 59, 60, 62, 65, 66, 67, 80,
82, 84
धर्मकीर्ति, 17, 22, 48, 51, 53, 55, 56, 57, 58, 60, 61, 62, 63, 64, 65,
66, 67, 79, 80, 93, 191
धर्मराजाध्वरीन्द्र, 141, 142, 144, 145, 146, 148, 149, 150, 168
धर्मोत्तर, 62, 67
नारायण, 53, 76
निर्विकल्पक प्रत्यक्ष, 46, 47, 54
न्यायकणिका, 91, 92, 95
न्यायकन्दली, 13, 15, 21, 25, 28, 31, 34, 36, 37, 38, 39, 52, 53, 54, 55,
87, 95, 111, 119
न्यायबिन्दु, 22, 55, 62, 67
न्यायबिन्दुटीका, 67
न्यायभूषण, 35, 50, 53, 55
न्यायमञ्जरी, 13, 21, 23, 24, 25, 26, 27, 35, 36, 37, 38, 48, 50, 53, 55, 67
न्यायरत्नाकर, 68, 78, 86, 90, 93, 94, 95, 112, 120
न्यायलीलावती, 23, 28, 35, 37, 87, 203, 212
न्यायसूत्र, 23, 25, 26, 27, 29, 31, 32, 33, 34, 35, 36, 37, 38, 39, 54,
55, 60,
नैष्कर्म्यसिद्धि, 20, 22, 167, 169, 184
पशुपतिनाथ शास्त्री, 117, 118, 120
पार्थसारथि मिश्र, 14, 16, 21, 68, 69, 71, 74, 75, 76, 77, 78, 79, 86, 87,
89, 90, 91, 92, 93, 94, 95, 98, 112, 113, 120
पंचदशी, 162, 167, 168, 177, 185, 186
प्रकरणपञ्चिका, 97, 102, 103, 104, 117, 118, 120
प्रकाशात्मन्, 168, 177, 186
प्रतिसन्धान, 30, 98, 102, 132, 133
प्रत्यभिज्ञा, 30, 98, 132, 133
प्रभाकर या प्राभाकर, 11, 13, 16, 17, 21, 41, 42, 52, 96, 97, 98, 99, 100,
101, 104, 105, 106, 107, 108, 109, 110, 111, 112,

113, 114, 115, 116, 117, 118, 119, 120, 121, 134, 135, 136, 137, 157, 160, 161, 163, 193
प्रमाणवार्त्तिक, 55, 56, 57, 58, 61, 63, 65, 66, 67
प्रमाणविनिश्चय, 17, 48, 58, 65, 93
प्रमाणसमुच्चय, 17, 47, 50, 55, 57, 59, 60, 62, 66
प्रमाणसमुच्चयवृत्ति, 65, 66, 67
प्रशस्तपाद (भाष्य), 15, 21, 27, 31, 34, 35, 36, 37, 38, 39, 41, 53, 54
प्रश्नोपनिषद्भाष्य, 128, 138, 184
बी. के. मतिलाल, 22, 23, 36, 45, 53, 54, 65
ब्रह्मसूत्रभाष्य, 131, 139, 150, 166, 167, 184, 185, 186
बृहती, 117, 118, 119, 120, 135, 139
बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य, 131, 138, 152, 160, 166, 167, 170, 174, 180, 183, 185, 186
भामती, 20, 22, 65, 132, 135, 139, 141, 143, 149, 154, 166, 168, 173, 184
भासर्वज्ञ, 18, 35, 49, 50, 53, 54, 55, 65
महाविद्यानुमान, 203, 204
मानस प्रत्यक्ष, 11, 12, 17, 18, 27, 40, 41, 42, 44, 46, 47, 51, 62, 63, 87, 91, 92, 93, 94, 98, 99, 100, 103, 107, 111, 174
मधुसूदन सरस्वती 150, 151
वल्लभ, 23, 28, 35, 37, 87
वाचस्पति, 20, 23, 28, 35, 37, 46, 54, 61, 64, 65, 67, 91, 93, 95, 132, 135, 139, 149, 154, 166, 168, 173, 174, 184, 188
वात्स्यायन, 13, 21, 25, 26, 29, 30, 32, 33, 34, 35, 37, 38, 39, 54, 60
विद्यारण्य, 136, 139, 155, 156, 166, 167, 168, 174, 185, 186
विवरणप्रमेयसंग्रह, 136, 139, 155, 157, 166, 167, 185
विषयान्तरसंचार, 60, 66
वेदान्तपरिभाषा, 141, 142, 144, 145, 147, 148, 149, 150, 167, 168
शबर, 60, 68, 80, 84, 85, 96, 97, 114, 115, 117
शान्तरक्षित, 17, 21, 49, 55, 56, 60, 61, 62, 65, 66
शालिकनाथ मिश्र, 97, 100, 101, 102, 103, 104, 106, 107, 114, 117 118, 119, 120

24359

शास्त्रदीपिका, 68, 75, 76, 77, 87, 89, 90, 92, 94, 95, 112, 120
शंकर मिश्र, 28, 37
शंकराचार्य, 19, 22, 128, 129, 130, 131, 138, 139, 146, 150, 152, 153, 154, 155, 156, 157, 160, 166, 167, 169, 170, 171, 172, 173, 174, 176, 179, 180, 182, 183, 184, 185, 186, 187, 188, 191, 211
श्लोकवार्तिक, 18, 22, 65, 66, 72, 74, 75, 76, 77, 78, 83, 85, 86, 93, 94, 95, 120
श्रीधर, 13, 15, 21, 25, 28, 32, 34, 36, 37, 38, 39, 52, 53, 54, 55, 87, 88, 95, 111, 119
श्रीमद्भगवद्गीता (भाष्य), 180, 186, 191, 211
श्रीहर्ष, 47, 123, 138
सहोपलम्भनियम, 17, 57, 65
साक्षी, 19, 20, 129, 130, 131, 132, 133, 139, 140, 146, 147, 149, 159, 161, 162, 163, 164, 165, 170, 181, 182
सिद्धान्तलेशसंग्रह, 150
सुचरितमिश्र, 68, 70, 75, 76, 80, 94, 112, 113, 120
सुरेश्वराचार्य, 20, 158, 167, 169, 170, 172, 173, 184, 200
स्मृति, 18, 24, 25, 30, 34, 36, 50, 51, 59, 60, 66, 83, 84, 94, 98, 132, 133
स्वसंवित् (स्वसंवित्ति, स्वसंवित्वाद), 11, 17, 18, 49, 56, 60, 61, 63, 64, 66, 126
स्वसंवेदन, 17, 18, 19, 22, 49, 51, 56, 57, 58, 59, 62, 63, 116, 128, 129, 146, 191
स्वाभास, 17, 57, 59
हट्टोरी, 22, 55, 65, 66
त्रिपुटीप्रत्यक्षवाद (त्रिपुटीभानवाद), 16, 52, 104, 111, 112, 114, 117, 118, 119, 134, 137, 193
ज्ञातता (ज्ञातत्व), 14, 15, 16, 69, 78, 81, 86, 87, 88, 89, 90, 91, 92, 93, 94, 95, 208
ज्ञानविषयता, 15, 16, 88, 89

R 66
152 P2M.
SECTIONAL LIBRARY
Department of Philosophy
BANARAS HINDU UNIVERSITY
Acc. No. 24359

पुस्तक परिचय

भारतीय दर्शन में ज्ञान के स्वरूप के सम्बन्ध में बड़े ही मौलिक ढंग से यह प्रश्न उठाया गया है कि ज्ञान का ज्ञान कैसे होता है। इस प्रश्न का उत्तर न केवल ज्ञान के स्वरूप को स्पष्ट रूप से समझने के लिए आवश्यक है अपितु इसका उत्तर अन्तः चेतना के रहस्य को उद्‌घाटित करने में सक्षम होता है। प्रश्न इस रूप में उठाया गया है कि जब हमें किसी वस्तु का ज्ञान होता है तो उस ज्ञान का ज्ञान कैसे होता है। क्या वस्तु के ज्ञान के साथ ही वह ज्ञान स्वयं भी प्रकाशित होता है अथवा वस्तु ज्ञान के बाद उस ज्ञान का प्रकाशन दूसरे ज्ञान से होता है। ज्ञान की प्रकाशता सम्बन्धी उपर्युक्त समस्या प्रकाशवाद की समस्या है। यहाँ ध्यातव्य है कि प्रकाशवाद, प्रामाण्यवाद और ख्यातिवाद ये वे तीन प्रमुख शीर्षक हैं जिनके अन्तर्गत भारतीय दर्शन की कुछ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ज्ञानमीमांसीय समस्याओं को विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है। इनमें जहाँ प्रामाण्यवाद और ख्यातिवाद का सम्बन्ध ज्ञान की प्रामाणिकता और भ्रम के स्वरूप के विश्लेषण से है, प्रकाशवाद की समस्या इस अर्थ में और अधिक गहरी तथा मूलगामी है कि यह स्वयं ज्ञाता को होने वाले ज्ञान के 'स्वरूप', उसके 'बोध' तथा उसकी 'प्रकाशता' से जुड़ी हुयी है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि भारतीय ज्ञानमीमांसा के व्याख्याकारों ने जहाँ प्रामाण्यवाद और ख्यातिवाद को विस्तार से विवेचित और विश्लेषित करने का प्रयास किया है, वहीं प्रकाशवाद के सम्बन्ध में पूरी तरह से साम्प्रदायिक स्थिति का विवेचन भी नहीं किया गया है, उसके तार्किक विश्लेषण की बात तो दूर रही। प्रस्तुत प्रबन्ध में लेखक का उद्देश्य ज्ञान की प्रकाशता सम्बन्धी स्वप्रकाशवादी एवं परप्रकाशवादी आदि विभिन्न मतों के विवेचन एवं विश्लेषण द्वारा प्रकाशवाद की गहन ज्ञानमीमांसीय समस्या की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करना है। इस क्रम में लेखक नैयायिकों द्वारा प्रस्तुत अनुव्यवसायवाद, भाट्टों के ज्ञाततालिङ्गानुमेयवाद, प्राभाकरों के त्रिपुटीप्रत्यक्षवाद, बौद्धों के स्वसंवित्‌वाद और अद्वैत वेदान्तियों के संवित्‌स्वप्रकाशवाद की गम्भीर दार्शनिक विवेचना करते हुए स्वयंप्रकाशता के सम्बन्ध में एक सुसंगत और समग्र दार्शनिक मत तक पहुँचने का प्रयास करता है। ज्ञान की स्वप्रकाशता एक स्वयंप्रकाश नित्य आत्म तत्त्व की सत्ता का विमर्श है जो सारे प्रकाश के मूल में है और जिसके जानने के उपरान्त कुछ भी जानने के लिये शेष नहीं रह जाता। अद्वैती अनुभव की ऐसी गहन मीमांसा प्रस्तुत करते हैं जहाँ ज्ञानमीमांसा तत्त्वमीमांसा हो जाती है, मोक्षमीमांसा हो जाती है। पुस्तक के अन्त में लेखक यह देखने की चेष्टा करता है कि कैसे ज्ञान की स्वप्रकाशता के विश्लेषण से अद्वैती तत्त्वविद्या और मोक्षशास्त्र की अपनी अद्वैत यात्रा तय करते हैं। आशा की जानी चाहिये कि यह पुस्तक भारतीय ज्ञानमीमांसा की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पर अपेक्षाकृत उपेक्षित समस्या पर नई दृष्टि डालने में समर्थ होगी।

भारतीय विद्या प्रकाशन

1. 1, यू॰ बी॰ बंग्लो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-110007

2. पो॰ बा॰ नं॰ 1108, कचौड़ी गली, वाराणसी-221001